भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन

सम्पादक
डॉ० विद्यानिवास मिश्र
अनिल विद्यालंकार
डॉ० माणिकलाल चतुर्वेदी

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : १९७६
Bharatiya Bhasha Shastriya Chintana

मूल्य : विद्यार्थी संस्करण ९.००
पुस्तकालय संस्करण ११.००

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए–२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलकनगर
जयपुर–३०२००४

मुद्रक :
मनोज प्रिन्टर्स
गोदीकों का रास्ता, किशनपोल बाजार,
जयपुर–३०२००३

प्रस्तावना

शिक्षा आयोग (1961–66) की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने 1968 में शिक्षा संबंधी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी 1968 को संसद् के दोनों सदनों द्वारा इस संबंध में एक संकल्प पारित किया गया। उस संकल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक सेवा मंत्रालय ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालय स्तरीय पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित किया। उस कार्यक्रम के अंतर्गत भारत सरकार की शत प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रन्थ अकादमी की स्थापना की गयी।

प्रामाणिक ग्रन्थ निर्माण की योजना के अंतर्गत यह अकादमी विश्वविद्यालय स्तरीय विदेशी भाषाओं की पाठ्य पुस्तकों को हिन्दी में अनूदित करा रही है और अनेक विषयों में मौलिक पुस्तकों की भी रचना करा रही है। प्रकाशित ग्रन्थों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक हमारे देश के अत्यन्त प्रतिष्ठित भाषा शास्त्री तथा भारती–वेत्ता द्वारा संपादित की गयी है और इसमें उनके स्वयं के भी २ लेख हैं। यद्यपि डॉ० मिश्र अनेक विषयों के प्रतिष्ठित लेखक हैं किन्तु पाणिनी सम्बन्धी इनकी पुस्तक का विशेष आदर है। इन्होंने विद्वद्‌द्वय श्री अनिल विद्यालंकार तथा डा० माणिकलाल चतुर्वेदी के सहयोग से अकादमी के लिए प्रस्तुत पुस्तक तैयार की इसके लिए अकादमी उनके प्रति बहुत आभारी है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और इस विषय के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों द्वारा इसका स्वागत अखिल भारतीय स्तर पर किया जायगा। उच्च स्तरीय अध्ययन के लिए हिन्दी में मानक ग्रन्थों के अभाव की बात कही जाती रही है। आशा है कि इस योजना से इस अभाव की पूर्ति होगी और शिक्षा का माध्यम हिन्दी में परिवर्तित हो सकेगा।

खेतसिह राठौड़
शिक्षा मंत्री, राजस्थान सरकार एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

शिवनाथ सिंह
निदेशक

सम्पादकीय

'भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन' एक समवेत प्रयत्न है। इस संकलन का दुहरा उद्देश्य है, एक तो भारतीय चिन्तन की भाषाई धारा से भारत के प्रबुद्ध आधुनिक मानस को जोड़ना और दूसरे आधुनिक सन्दर्भ को भारतीय अस्मिता से प्रमाणित करने का प्रयत्न करना। हम नहीं जानते कि इस उद्देश्य की पूर्ति में हम कितने सफल हुए हैं, पर वस्तुतः हम लोग इस उद्देश्य के प्रति अपनी जागरूकता अवश्य प्रकट करना चाहते थे, इतना तो इस ग्रन्थ में संकलित निबन्धों से स्पष्ट होगा।

इस पुस्तक के कुछ निबन्ध तो संस्कृत विश्वविद्यालय और राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान की संगोष्ठियों में पढ़े गये और चर्चित हुए, कुछ स्वतन्त्र रूप में अलग से लिखाये गये। प्रयत्न यह किया गया कि भारतीय चिन्तन में भाषाई पक्ष भी एक सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत किया जाय। वैसे यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत के भाषाशास्त्रीय चिन्तन का एक-एक अंग स्वतन्त्र पुस्तक की अपेक्षा रखता है, प्रस्तुत संकलन तो केवल प्रवेश कराने के उद्देश्य से तैयार किया गया है। भारतीय विश्वविद्यालयों में भाषाविज्ञान की शिक्षा में एक बहुत बड़ी कमी है कि भाषाविज्ञान की जन्मभूमि के रूप में सभी लोग भारत का स्मरण करते हैं, पर भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन का परिचय छात्रों को नहीं कराया जाता। उस कमी की पूर्ति अंशतः भी यदि इस संकलन से हो सकी तो हम अपने को कृत-कृत्य मानेंगे।

हम अपने सहयोगी लेखकों तथा संस्कृत विश्वविद्यालय एवं राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान के हृदय से आभारी हैं क्योंकि उन्हीं के सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हो सका। अन्त में हम राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के भी आभारी हैं, जिन्होंने देर से ही सही, इस ग्रन्थ को छपाकर हमें बड़ी राहत दी है।

विद्यानिवास मिश्र
अनिल विद्यालंकार
माणिकलाल चतुर्वेदी

विषय-सूची

९. शब्दार्थ-सम्बन्ध : प्राचीन काव्यशास्त्र के अनुसार	**डॉ० देवर्षि सनाढ्य** हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर
१०. स्फोटवाद का भाषा-दर्शन	**डॉ० मा० गो० चतुर्वेदी**
११. शब्दार्थ-सम्बन्ध : अपोहवादी दृष्टिकोण	**डॉ० गंगा पाठक** हिन्दी विभाग, दिल्ली कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
१२. पाणिनीय विश्लेषण-पद्धति के आधार	**डॉ० विद्यानिवास मिश्र**
१३. प्राचीन भारत में ध्वनि-विज्ञान	**डॉ० भोलानाथ तिवारी** रीडर, हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
१४. वाक्य तथा वाक्यार्थ संबंधी भारतीय मत	**डॉ० न० वी० राजगोपाल** प्रोफेसर, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा
१५. भाषा की चार अवस्थाएं	**अनिल विद्यालंकार** रीडर, राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान, नयी दिल्ली
१६. वैदिक वाङ्मय में भाषा-दर्शन	**डॉ० रामदेव त्रिपाठी** नेतरहाट पब्लिक स्कूल, नेतरहाट, राँची, बिहार

१

भारतीय भाषादर्शन की पीठिका

भारतीय चिन्तन मूलतः वाक्केन्द्रित चिन्तन है। पूरी सृष्टि ही 'देवस्य काव्यम्' के रूप में देखी गई है। कविः सविता की तरह समस्त रूपों की सृष्टि करता है। 'विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे'। (ऋग्वेद ५/८१/२)। दूसरे शब्दों में कवि विविध रूपों को नाम से आलोकित करते हैं। इस नाम-रूप का व्याकरण ही सृष्टि के रहस्य की कुंजी है। आनन्द कुमार स्वामी के शब्दों में 'सोऽहं' या 'अहं ब्रह्मास्मि' जैसे शब्दों द्वारा प्रतीयमान अस्तित्व यद्यपि भीतरी तौर पर आत्म-संकल्प का व्यापार लगता है, पर बाहरी तौर पर यह सृष्टि-व्यापार भी है। यह एक ओर अतिरिक्त प्रजनन है और दूसरी ओर तष्ट (सुघड़)और काम्य बौद्धिक रचना भी। यह मात्र आकस्मिक नहीं है कि ब्राह्मणों में प्रकाश और ध्वनि दोनों शक्तियों का आधान सूर्य में किया गया है और इस शब्द की व्युत्पत्ति में दो धातुओं की खोज की गई है जिनका आकार तो सदृश है, पर एक का अर्थ प्रकाशित करना और प्रकाशित होना है और दूसरी का 'स्वरायमान या ध्वनित' होना है।

ऋग्वेद से ही वाग्व्यापार को सृष्टि के पर्याय के रूप में देखा जाना प्रारम्भ हो गया, वाक् के ही तीन स्तरों के रूप में द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी की कल्पना की गई, और वाक् को ही देवताओं की धारिका तथा प्रेरिका शक्ति के रूप में देखा गया। (द्रष्टव्य हैः— अहं रुद्राय धनुरातनोमि)। इसीलिए वाक् की परिशुद्धि पर बल दिया गया, क्योंकि परिशुद्ध वाक् में ही कल्याण का निधान मान्य है। (तुलनीय हैः—सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। आ सखाय सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ।।) वाक् की भीतरी खोज ही मंत्र-साधना का पर्याय बनी। इस खोज की ही परिणति होती है उस वाक् में जो हाथ में गही नहीं जाती पर अपने आप रहस्य उन्मीलित कर देती है (उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उत त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः) इसीलिए व्याकरण को वेद का मुख कहा गया है। दूसरे शब्दों में, यदि भारत की विवर्तमान ज्ञान-राशि के भीतर पैठना है तो यह केवल व्याकरण के द्वार से ही संभव है। यदि इस ज्ञान-राशि को विविक्त रूप से पहचानना है तो यह केवल व्याकरण के द्वार से संभव है। यही कारण है कि भारतीय चिन्तन की भाषा व्याकरणमूलक है, पश्चिमी चिन्तन की तरह गणित मूलक नहीं। गणित स्वयं यहाँ व्याकरणमूलक है।'पाणिनीय व्याकरण के लोप से ही गणित का शून्य उद्भूत हुआ है, और व्याकरणात्मक राशिकरणों से तथा रूप-वृत्तों से अंक-गणित और ज्यामिति ने आकार ग्रहण किया है। यहाँ तक कि भारतीय काव्य को भी

यथावत् समग्ररूप में तभी ग्रहण किया जा सकता है, जब उसकी बीजभूतभावना के इन नानाविध प्रत्ययों के साथ नानाविध आकार ग्रहण किये जाने पर भी उसमें एक अखंड एकवाक्यता ग्रहण की जाये। भारतीय काव्यशास्त्र ने इसीलिए काव्यार्थ की खोज में 'बुधों' (वैयाकरणों) की स्फोटवादी सरणि अपनाई है।

इस पीठिका के साथ पाणिनीय भाषा-दर्शन के अवदान को परिभाषित करने का यहाँ उद्देश्य यह है कि पाणिनीय भाषा-दर्शन द्वारा स्थापित तत्त्वचिन्तन कोरा कल्पना-विलास न माना जाय, न पाणिनीय सम्प्रदाय द्वारा अपनाई गई विश्लेषण-पद्धति को इस तत्त्वचिन्तन से विच्छिन्न करके देखा जाय।.

पाणिनि की अष्टाध्यायी सूत्रबद्ध है, इसलिए उसमें सैद्धान्तिक प्रतिपादन गम्य हैं। कुछ को तो उनके टीकाकारों की व्याख्याओं और बहुत कुछ पाणिनीय अष्टाध्यायी की आन्तरिक संगति में ढूँढ़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए शब्द और अर्थ को ही लें। पाणिनि ने 'शब्द' शब्द का प्रयोग पारिभाषिक और अपारिभाषिक दोनों अर्थों में किया है। 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (अ० १–१–६८) या 'वचोऽशब्दसंज्ञायां' (अ० ७–३–६७) सूत्र में शब्द एक पारिभाषिक शब्द है, जो आज के भाषा-शास्त्रीय चिन्तन के 'साइन' का संवादी है। पाणिनि प्रेषणीय उक्तिखंड को शब्द संज्ञा देते हैं, इसके अन्तर्गत वाक्य भी है, क्योंकि पद का वाक्य से प्रविवेक तात्त्विक नहीं, विश्लेषण के लिए कल्पित है। वाक्य को शब्द की संज्ञा देना यह घोषित करता है कि वाच्य जो शब्द संज्ञा नहीं है, शब्द के उक्ति से प्रकाश्यमान अर्थ है और शब्द तथा अर्थ में वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है। शब्द का अपारिभाषिक अर्थ कोरी आवाज़ है और इसी अर्थ में 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे। (अ० ३–१–१७) जैसे सूत्रों में शब्द आया है। यह आवाज़ प्रेषणीय हो, मानवीय हो, कोई आवश्यक नहीं। इसी प्रकार अर्थ भी दो विभिन्न अर्थों में सूत्रों में प्रयुक्त हुआ है। 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (अ० १-२-४५) जैसे सूत्रों में अर्थ अभिधेयवाचक है, अर्थात् यह बाह्यजगत् का अर्थ नहीं, बाह्यजगत् का भाषिक संवादी अर्थ है। 'प्रधानप्रत्ययार्थ वचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात' (अ० १-२-५६) जैसे सूत्रों में अर्थ बाह्यजगत् के अर्थ का प्रत्यायक है। इस दूसरे अर्थ के सम्बन्ध में जो क्रियातिपत्ति महाभाष्य में दृष्टिगोचर होती है कि यह अर्थ जातिस्वरूप है या व्यक्ति स्वरूप उसको ठीक तरह से जब समझा नहीं गया, तब भर्तृहरि ने अर्थ के सम्बन्ध में एक ऐसे तत्त्वदर्शन की प्रस्थापना की जो पाणिनीय व्याकरण से सामंजस्य रख सके। पाणिनीय दर्शन ने जिस प्रकार की द्वैताद्वैत दृष्टि अपने सामने रखी थी, उसमें भाषा का सामाजिक यथार्थ और भाषा का सर्जनात्मक अतिमानस यथार्थ दोनों पहलू दो स्तरों पर विराजमान थे। पाणिनि के सम्प्रदाय ने लोकप्रामाण्य भाषा के प्रयोग में स्वीकार किया, साथ ही छन्दस् (जिसकी भाषा परोक्षप्रिय होने के लिये विवश है, 'परोक्षप्रियाः देवाः प्रत्यक्षद्विषः) के सावित्र रूप का भी ध्यान रखा। वैयाकरणों के सामने केवल लौकिक भाषा का व्याकरण देना ही उद्देश्य नहीं था, छन्दस् (साक्षात्कृत वाक्) के शब्द रूप को यथावत् स्मृति में उद्भाषित रखना भी प्रमुख उद्देश्य था। छन्दस् की भाषा के अक्षर तो क्या स्वर तक में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता, क्योंकि छन्दस् शब्द को शब्द नहीं परोक्ष अर्थ की संपूर्ण और अद्वितीय अभिव्यक्ति माना गया है। वह अपौरुषेय है, क्योंकि वह व्यष्टि-

चैतन्य की नहीं समष्टिचैतन्य की क्रियाशक्ति है, वह विराट् पुरुष का निःश्वास है, भीतर खींच कर छोड़ी गई साँस है। प्रमाणमीमांसा की दृष्टि से दोनों भाषाएँ ज्ञान के दो मानस और अतिमानस स्तरों पर स्थापित करके परखी जा सकती हैं।

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में वाच्य अर्थ को भाषागत रूप-विधानों के घटक संदर्भ के रूप में स्वीकार किया, किन्तु वाच्य अर्थ की मीमांसा में वे प्रायः नहीं पड़े। संभवतः इसलिए कि उनके सामने एक सजीव भाषा थी (अन्यथा आर्ष शब्दों की व्युत्पत्ति क्यों देते, गाँवों के नामों की व्युत्पत्ति क्यों देते ?) सजीव भाषा में वाच्यार्थ प्रयोग-सिद्ध होने के कारण कुछ अधिक स्पष्ट था। परन्तु उन्होंने व्याकरणीय अर्थ या वाक्य-प्रकार-बोधक या वाक्यबोध वाक्य-सम्बन्ध-बोधक अर्थ (जिसे पाणिनि में सीधे वचन के नाम से पुकारा है) की मीमांसा बहुत विशद रूप में की है। कर्तृ, कर्म, करण जैसे सम्बन्ध वाचक वचन या अनुज्ञा, प्रैष अभीष्ट जैसे प्रकारवाचक वचन प्रस्तुत भाषा-जगत् के आंतरिक संघटन के वर्गीकरण हैं। उनका संवादी निर्देश्य बाह्य जगत् में कहीं-कहीं भाषा के प्रयोग की विशेष स्थिति है, कहीं-कहीं बाह्यजगत् में उसका संवादी निर्देश्य कुछ भी नहीं। पाणिनि के टीकाकारों ने अपादान आदि की व्याख्या में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। अपादान भौतिक नहीं धारणात्मक है, और धारणात्मक भी भाषा-बोध की दृष्टि से। (देखिए वार्त्तिक सं० १०८६ पर महाभाष्य) पाणिनि की कर्तृत्व-धारणा नैयायिकों की कर्तृत्व धारणा से अलग है। पाणिनि का कर्त्ता स्वतंत्र है, नैयायिक का कर्त्ता कर्त्तृत्वावच्छिन्न है। उसी प्रकार पाणिनि का कर्म मीमांसा का कर्म नहीं है, क्योंकि मीमांसा का कर्म अपरिहार्य है, जबकि पाणिनि का कर्म क्रिया के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये ईप्सिततम या ईप्सिततमवत् संयुक्त है।

पतंजलि ने अपने महाभाष्य में पाणिनीय भाषा-तत्त्व-चिन्तन के प्रश्न उभाड़े—शब्द का स्वरूप क्या है············प्रत्यायक या वाचक (प्रत्यय-साधन के रूप में शब्द साक्षात् प्रत्यय से जुड़ा हुआ है, तब बीच में एक अलग स्वतंत्र भाषिक अमूर्त्तीकरण मानने की आवश्यकता नहीं, किन्तु वाचक रूप में शब्द पहले वाच्य अर्थ को उद्भासित करता है और वाच्य अर्थ बाह्य अर्थ को उद्भासित करता है) और अपना अभिमत दूसरे पक्ष में रखा। क्योंकि उन्होंने शब्द का तादात्म्य जाति या द्रव्य, गुण और क्रिया किसी से भी स्थापित करने से इन्कार किया। केवल बाह्य अर्थ के संबंध में पतंजलि से लेकर नागेश तक सभी सन्देह में रहे कि यह जात्यात्मक या सामान्यात्मक है या व्यक्त्यात्मक या विशेषात्मक है। पाणिनि ने प्रयोग में उभयविध दृष्टि का अन्तःप्रामाण्य देखने का प्रयत्न किया है, किन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ यह द्वैविध्य सप्रयोजन है। बाह्य अर्थ वस्तुतः आन्तर अर्थ से उन्मीलित है और आन्तर अर्थ में कोई विकल्प सम्भव नहीं। यदि ऐसा हो तो श्रोता-वक्ता में संवाद ही असम्भव हो जाए और भाषा का प्रयोजन ही ध्वस्त हो जाए। इसी सिद्धान्त को और अधिक व्यवस्थित रूप देने के लिये भर्तृहरि ने शब्द-ब्रह्म और उसके विवर्त्त रूप बाह्य-जगत् के द्वैताद्वैत का उपपत्ति-पूर्वक प्रतिपादन किया। भर्तृहरि के वाक्यपदीय में नानाप्रकार के मतों का संग्रह है, कहीं-कहीं यह समझना बड़ा कठिन हो जाता है कि यह मत अन्तर्विरोधी होते हुए भी क्यों समाविष्ट किया गया है।

पाणिनि की ही विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए भर्तृहरि यह प्रतिपादित करते हैं कि (१) शब्द (भाषा) प्रत्येक प्रत्यय के पूर्व है। 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते और प्रत्येक ज्ञान शब्दविद्ध होकर ही ग्राह्य बनता है (अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते)। इसी को व्यावहारिक स्तर पर इस प्रकार कह सकते हैं कि पदार्थ के बोध के लिये भाषागत रूप होना पहली शर्त है। (२) शब्दबोध का प्रामाण्य केवल शब्द में निहित है, क्योंकि शब्द ही असली यथार्थ है, इतर यथार्थों की यथार्थता शब्दाश्रित है। (देखिए-फिलासफी आफ् वर्ड एण्ड मीविङ् पृष्ठ २८४ (३) शब्दबोध के लिये तर्कसंगति या योग्यता आवश्यक नहीं, शब्द बोध के लिये लोकप्रसिद्धि ही एकमात्र शर्त है। तर्क लोकप्रसिद्धि को कभी बाधित नहीं कर सकता। (धर्मस्य चाव्यवच्छिन्ना पन्यानो ये व्यवस्थिताः। न तान् लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते। (वा० प० १–३१) जो भी जीवन के व्यवहार निरन्तर प्रयोग के द्वारा व्यवस्थित हो चुके हैं, भाषा भी इसी प्रकार का व्यवहार है—भारतीय शब्दावली में, जीवन-धर्म है—वे तर्क की कसौटी पर कसे नहीं जा सकते, तर्कसंगति की बाधा उन्हें प्रभावित नहीं करती, क्योंकि उनका प्रामाण्य लोकप्रसिद्धि में निहित है।

पाणिनीय दृष्टि से शब्द को अर्थ का प्रकाशक नहीं कहा जा सकता। (तुलनीय है—विनियोगादृते शब्दा स्वार्थस्य प्रकाशकः) आज की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि किसी भी भाषागत संकेत का अपने आप में कोई अर्थ नहीं होता। संकेत एक भाषागत परिवेश में ही अर्थवान् होता है' (ए स्टडी ऑफ ग्लासमेटिक्स—पृष्ठ १३०)। (४) शब्द—क्रमशः अपने स्वरूप प्रयोक्ता के संस्कार-निहित वाच्यार्थ और बाह्यार्थ का प्रकाशक होता है, व्यावहारिक विश्लेषण के सापेक्ष स्तर पर ये तीनों पृथक्-पृथक् अवस्थित हैं। भर्तृहरि ने कहा है—

ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरूच्चारितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः।। वा० प० ३–३१)

किन्तु निरपेक्ष पारमार्थिक स्तर पर ये तीनों एक साथ एक ही हैं। भर्तृहरि के ही शब्दों में—एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्य रूपेण भोगरूपेण च स्थितिः।। (वा० प० १-४७)

पारमार्थिक स्तर पर शब्दार्थ अभिन्न हैं, प्रातिभासिक स्तर पर भिन्न (एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ-वा० प० २-३१)। वाक् ही बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार की चेतना का आकार ग्रहण करती है। (सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते वा० प० १-१२६) (५) शब्द का सबसे भीतरी स्तर (जहाँ शब्द और अर्थ एकाकार रहते हैं) स्फोट है, जो बुद्धि में (यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भारतीय चिन्तन में बुद्धि मन से परे है) अवस्थित है। मन विवक्षा से युक्त होकर प्राण को प्रेरित करता है, तब बैखरी वाक् प्रकाशित होती है और मन के स्तर से ही भेद का प्रतिभास शुरू हो जाता है (तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता। विवर्तमाना स्थानेषुसैषा भेदं प्रपद्यते वा० पा० १-११७) : १ यह स्फोट मूलतः एक प्रकार का ऐसा बौद्ध अमूर्तीकरण है, जो शब्द के प्रयोग के अभ्यास अन्य संस्कार के द्वारा प्रतिभासित होता है। (६) शब्द-निबन्ध और अर्थ-रूप सत्य की वो असत्य उपाधियाँ हैं। एक ओर तो भौतिक घटना-क्रम के द्वारा ध्वनि-उत्पत्ति निरपेक्ष रूप में

देखने पर अवास्तविक या असत्य है और दूसरी ओर नाना विकल्पग्रस्त वाह्य अर्थ-वितान भी पारमार्थिक दृष्टि से अवास्तविक या असत्य है। (असत्योपाधि यत्सत्यं तद्वा शब्द-निवन्धनम्। वा० प० २–१२८) इसलिए कहा गया है कि वाह्य-पदार्थ वस्तुतः व्यवस्थित न होकर शब्दोपलक्षित होकर ही व्यवस्थित हैं (लक्षणाद् व्यवतिष्ठेरन् पदार्था न तु वस्तुतः वा० प० २–१४४)।

भर्तृहरि के शब्द-क्रमवाद की गहराई में जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वैदिक चिन्तन और आगम-चिन्तन को जोड़ने वाली एक कड़ी है। वस्तुतः यह तत्त्व-दर्शन शैव प्रत्यभिज्ञा और निम्वार्क के द्वैताद्वैत के मध्य-विन्दु पर अवस्थित है। साथ ही वौद्धों के अपोहवाद और नैयायिकों और मीमांसकों के वाह्यार्थवाद के भी वीच में अवस्थित है। यह भर्तृहरि की स्थापना का ही प्रभाव है कि रत्नकीर्ति अपोह को 'अतद्व्यावृत्ति' मात्र न मानकर 'अतद्व्यावृत्ति-विशिष्ट विधि' मानने को विवश हो जाते हैं। अपोह जहाँ व्यक्ति का अतिक्रमण करके स्वेतर की व्यावृत्ति में पर्यवसित हो जाय, वहाँ वह वैविक रह ही नहीं सकता और अगर विना अतद्व्यावृत्ति के यह केवल विधि रूप हो तो भी अनिश्चय वना रहेगा। रत्नकीर्ति के अपोहवाद ने वाद के वैयाकरणों को अपनी वात और अधिक स्पष्ट ढंग से रखने का मसाला दिया। नागेश ने लघु-मंजूषा में यहीं से वात शुरू की कि अर्थ को वाह्य सत्ताविष्ट मानने में वड़े झगड़े हैं, उसे 'वुद्धि-सत्ता-समाविष्ट' मानने से निर्दोष सिद्धान्त वनता है। इसलिए "आकाशकुसुम नहीं होते" ऐसे वाक्यों के अर्थ ग्रहीत हो पाते हैं। वाह्य-सत्ता पर ही यदि अर्थ को आश्रित मानें तो यह वाक्य निरर्थक हो जायगा, क्योंकि आकाश-कुसुम की वाह्य सत्ता तो है ही नहीं, फिर 'नहीं होते' कहना व्यर्थ है। शव्दार्थ की वौद्ध सत्ता मानने का एक और प्रवल तर्क है। वक्ता के अन्तःकरण में कुछ प्रेषित करने की इच्छा उदित होती है, उसी अन्तःकरण में क्या कहना है, यह इच्छा का विषय भी उदित होता है, अतः वक्ता की इच्छा (विवक्षा) और उसके विषय विवक्षित दोनों समानाधिकरण हुए। इन दोनों का कारण एक होना चाहिये तथा वह कारण मन नहीं हो सकता, अतः मन से परे वुद्धि ही कारण हो सकती है। इसलिए विवक्षित अर्थ वौद्ध या वुद्धि-उद्भूत ही मानना ठीक होगा। वाह्यार्थ इसी वौद्धार्थ का अध्यास है। इस अध्यास का वीज है अन्तःकरण का रागादिदोष। वौद्ध अर्थ केवल रूप है। क्योंकि वह मानस संसर्गजन्य संपृक्तता या विकल्प-भावना से युक्त है, वह न तो प्रतिविम्व है, न प्रतिभा, न मानसी धारणा, न समाहार, न औसत और न सामान्य, न विशेष। वह अर्थग्राही वक्ता-श्रोता को एक-सी प्रतीयमान अमूर्त वास्तविकता है इसलिए उसका प्रत्यायक शव्द भी वौद्ध रूप में ही वास्तविक है। शव्द का यह वौद्ध रूप संस्कार-निविष्ट प्रतिमान है, कोई भौतिक घटना नहीं। भौतिक घटना तो एकरूप में हो ही नहीं सकती, भौतिक घटनाओं का योग भी नहीं है, क्योंकि एक साथ यदि सभी सदृश भौतिक घटनाएँ अभिव्यक्त होने लगें तो प्रतिपत्ति असंभव हो जाए, वह तो भौतिक घटनाओं का सर्वग्राह्य अमूर्तीकरण है।

इसी वौद्धार्थ का और ऊँचे सर्जनात्मक धरातल पर एक रूपांतरण काव्यार्थ है और साधनात्मक धरातल पर दूसरा रूपांतर नाम है। काव्यार्थ जैसे प्रत्यक्ष शव्दव्यापार समर्पित

है, वैसे ही नाम भी प्रत्यक्ष लीलाचरिताख्यानपरक शब्दों द्वारा अभिव्यक्त हैं। भारतीय कला बोध की पीठिका वाक् है। तुलनीय है—

सा सर्वविद्या शिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते॥ (वा० प० १-१२५)

क्योंकि वाक् के कारण समस्त जगत् वस्तुअनुभाव्य आकार ग्रहण करता है और भारतीय साधना की पीठिका नाम का ध्यान है। भारतीय वैयाकरणों के चिन्तन का इसलिए भारतीय आनन्द-बोध तत्त्व-चिन्तन और धर्म-साधना तीनों के स्तरों को व्याकृत करने में बहुत बड़ा योगदान है। अभी तक इसका मूल्यांकन नहीं हुआ है, क्योंकि भारतीय व्याकरण के बारे में एक बहुत बड़ी भ्रान्ति यह प्रचलित है कि वह रूप-जाल मात्र है। परन्तु एक यह सर्जनक्षम जीवन्त प्रक्रिया भी है, इस ओर लोगों का ध्यान कम गया है। बेटी हाइमान ने(फ़ेसेट्स ऑफ इण्डियन आर्ट में)व्याकरण के इस अवदान की ओर कुछ जरूर ध्यान दिलाया है, पर उनके प्रतिपादन में आकस्मिक कौंध तो है पर बौद्धिक सामंजस्य नहीं है। आनन्द कुमारस्वामी ने इसी प्रकार नामरूप के आध्यात्मिक स्तर को जरूर उभारा है पर उन्होंने भी लोकव्यवहार के साथ उसे जोड़ने की कोशिश नहीं की। आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय वैयाकरणों की दृष्टि को उसकी समग्रता में आकलित किया जाय, विश्लेषण को तत्त्वचिन्तन से अलग करके न देखा जाय, साथ ही समग्र भारतीय चिन्तन में व्याकरण किस प्रकार ओत-प्रोत है, इसको भारतीय जीवन-पद्धति और भारतीय मूल्य-बोध के आलोक में देखा जाये।

२

भारत और भाषाविज्ञान[1]

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दो सहस्राब्दियों से भी अधिक प्राचीन भारतीय भाषा विज्ञान से ही आज के पश्चिमी जगत् के आधुनिक भाषा विज्ञान का सूत्रपात हुआ है। अतः उसके ऐतिहासिक विकास का पर्यवेक्षण संभवतः उपयोगी सिद्ध हो सकता है।[2]

उत्तर-पश्चिमी भारत के वैदिक लोगों का धर्म वैदिक संहिताग्रन्थों पर आधारित था, जो परम्परानुसार साक्षात्कृत माने जाते रहे हैं। संसार के अन्य धर्मों के लोग भी अपने-अपने धर्मग्रंथों को भी इसी प्रकार समझते हैं परन्तु वैदिक लोगों के लिए वेदों के संहिता अर्थात् ग्रंथ रूप (लिखित भाषा का रूप) की अपेक्षा उनका वाक्-रूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। अतः संहिताओं के उच्चरित रूप को यथावत् सुरक्षित रखना उनका प्रधान कर्त्तव्य था। वैदिक संहिताओं तथा उनके विषय में उक्त मान्यता के विकास के विविध सोपानों के विषय में सम्प्रति कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। परन्तु यह निश्चित है कि इतिहास में एक ऐसा समय अवश्य था जबकि सामान्यतः भाषाओं में घटित होने वाले परिवर्तनों से वेदों को यथावत् सुरक्षित रखने के लिये विशेष प्रयास करने पड़े थे। वैदिक मनीषियों ने अपनी भाषा को यथावत् सुरक्षित रखने के लिये जो वैज्ञानिक प्रयास किये वैसे प्रयास अन्यत्र कहीं नहीं हुए। इसका मूल कारण यही था कि वैदिक-धर्म में 'शब्द' अर्थात् वेदों का सर्वाधिक महत्त्व था। वैदिक-संहिताओं पर आधारित समस्त कार्यानुष्ठानों के नियामक ये साक्षात्कृत 'शब्द' ही थे। क्योंकि वैदिक आर्य सुप्रयुक्त अर्थात् सम्यग् उच्चरित शब्द में मनोवांछित फल और दुरुक्त शब्द में दुष्परिणाम प्रदान करने की शक्ति मानते थे अतः भाषा में क्रमशः घटित होते रहने वाले निरंतर परिवर्तनों के विपरीत वैदिक भाषा को यथावत् सुरक्षित कैसे रखा जाए, यह उनके लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था। ऐसी समस्या का सामना संसार के अन्य लोगों ने भी किया है, परन्तु वैदिक ऋषियों ने इसका सर्वाधिक श्रेष्ठ निदान किया। वस्तुतः वैदिक ऋषि 'शब्द-शुद्धता' की इस साधना के परिणामस्वरूप उस समय सूक्ष्म दृष्टा ध्वनि-वैज्ञानिक बन गये थे, जबकि संसार के अन्य सभी लोग या तो इस दिशा में कुछ भी नहीं जानते थे या कुछ भ्रामक कल्पनाओं में उलझे हुए थे। इन ध्वनि-वैज्ञानिकों का समय ईसवी पूर्व की प्रथम सहस्राब्दि या उससे कुछ पूर्व या बाद माना जाता है)। इन ध्वनि-वैज्ञानिकों के प्रयासों का ही परिणाम है कि आज ऋग्वेद का सर्व-शुद्धपाठ उपलब्ध है।[3] ऋक् प्रतिशाख्य का ध्वनि विवेचन निश्चित ही इस बात का प्रमाण है कि तीन सहस्राब्दियों के बीत जाने के बाद भी ऋग्वेद के पाठ और उसके उच्चारण में कोई विशेष परिवर्तन आज नहीं हुआ है।

वैदिक मंत्रों को यथावत् रखने के लिए मात्र ध्वनि-विज्ञान ही पर्याप्त नहीं हो सकता था, उसके लिए अर्थ का भी महत्त्व था। अतः वेदों की परंपरा के संवाहक मुनियों ने शब्द-सूचियाँ, अर्थात् निघण्टु भी तैयार किये, जिससे वैदिक-संहिताओं के कोशों का प्रयोजन सिद्ध हुआ। जैसे-जैसे परवर्ती काल में वेदों का अर्थ दुरूह होता गया, ये शब्द सूचियाँ विकसित होती गईं तथा उन पर टीकाएँ भी लिखी जाने लगी थीं। प्राचीन संहिताओं के मर्मोद्घाटन या सम्यग् अर्थ-परिज्ञान के लिए उनका पद-वैज्ञानिक तथा वाक्य-वैज्ञानिक दृष्टियों से भी विश्लेषण विवेचन आदि भी महत्त्वपूर्ण था और यह निश्चित है कि इस दिशा में भी पर्याप्त कार्य भी हुआ होगा, परन्तु इस समय उस समय का कोई ऐसा ग्रंथ उपलब्ध नहीं है जिसमें केवल वैदिक भाषा का व्याकरण हो। आगे के विवेचन से यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

प्राचीन भारतीय उच्चतर संस्कृति (अमूर्त और अभौतिक संस्कृति) की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उसमें बौद्धिकता की जितनी व्याप्ति है, उतनी ही तीव्र अभिलाषा, उसमें सिद्धांतों की तर्क-संमत-स्थापना तथा तथ्यों के विश्लेषण और वर्गीकरण आदि करने की भी है। सामान्यतः इस बात की ओर संकेत किया जाता है कि हिन्दू आध्यात्मिक होते हैं, अर्थात् उनके सम्मुख सर्वाधिक भौतिक प्रश्न आत्मा और शेष सृष्टि के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में हैं, तथा उसका तत्त्व-दर्शन, मोक्ष या मुक्ति का एक ऐसा साधन है कि जिससे उसकी आत्मा सांसारिक बंधनों से मुक्त हो और व्यापक आध्यात्मिक तत्त्व 'ब्रह्म' के साथ एकत्व प्राप्त कर ले। यहाँ इस बात को भार-पूर्वक कहा जाना चाहिए कि हिन्दू-बौद्धिकता मोक्ष के सिद्धांत को किसी सामान्य देववादी दर्शन के आधार पर स्वीकार नहीं करती और इसीलिए हिन्दू अपने मोक्ष के सिद्धांत की और भी सूक्ष्म व्याख्या करता है, तथा बौद्धिकता के एक उच्चतर आयाम की सृष्टि करता है। वस्तुतः हिन्दू-मोक्ष-दृष्टि विशुद्ध बौद्धिक धरातल पर आधारित है। इसीलिए, हिन्दू मोक्ष की रहस्यात्मक स्थिति, अनुभूति या अनुभव को बौद्धिकता के एक उच्चतर स्तर के परे की स्थिति के रूप में स्वीकार करता। क्योंकि दार्शनिकों में सैद्धान्तिक मतभेद होता ही है, अतः हिन्दू-चिन्तन में भी इसी प्रकार एक ही दार्शनिक प्रश्न पर अनेक अभिमत विकसित हुए हैं। वस्तुतः भारत में अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद अनेकात्मवाद, नास्तिक-आस्तिक सभी दर्शनों का अन्तर मूलतः आत्मा के प्रश्न से संबद्ध है। कुछ प्रश्न हिन्दू-विचारकों के लिए अधिक मौलिक रहे हैं, तथा उनको लेकर उन्होंने अतिशय सूक्ष्म विवेचन किया है, परन्तु इससे कुछ अन्य दार्शनिक प्रश्नों की उपेक्षा अवश्य हो गई है। कदाचित् हिन्दू-दृष्टि का यह अपना वैशिष्ठ्य है और इसीलिए कभी-कभी ऐसा लगता है कि जैसे हिन्दू तर्क के लिये तर्क कर रहा है, यद्यपि हिन्दू के लिये दर्शन का मूल प्रयोजन मोक्ष प्राप्ति ही होता है, जिसे वह परम पुरुषार्थ मानता है। हिन्दुओं के लिए विविध दर्शन विविध मोक्ष-मार्ग हैं—मोक्ष की ओर ले जाने वाले हैं। इसलिए व्यापक हिन्दु धर्म के अन्तर्गत अनेक उपसम्प्रदायों ने पंथ या मार्ग के रूप में अपने आपको दूसरों से भिन्न बताया है। कभी-कभी तो एक ही धार्मिक पंथ—या मार्ग में उपासना पद्धति के अंतर से कारण कुछ उपवर्ग बन गये हैं।

इसीलिए प्राचीन भारतीय व्याकरणिक अध्ययनों में भी बौद्धिकता का वही स्तर दृष्टिगोचर होता है जो अन्य शास्त्रों या दर्शनों में दृष्टिगोचर होता है तथा व्याकरणिक अध्ययन, जो साक्षात्कृत 'वेद' को यथावत् सुरक्षित रखने के मौलिक प्रयोजन से प्रेरित हो कर प्रारंभ हुए थे, आगे चल कर भारतीय मनीषा की उपलब्धि के अन्यतम रूप में सिद्ध और प्रसिद्ध हुए। सामान्यतः वैदिक भाषा का कुछ ध्वनिशास्त्रीय विवेचन (Phonetic description) के साथ-साथ 'रूप' एवं 'वाक्य' शास्त्रीय (Morphological & syntactical) अध्ययन वेद की संरक्षा के लिए पर्याप्त माना जा सकता है, परन्तु यह मान्यता पश्चिमी जगत् में तो संभव हो सकती है: हिन्दू बुद्धि-जीवी के लिए नहीं। इसीलिए वे हजारों वर्ष पहले 'व्याकरण' के लिये व्याकरण बनाने में प्रवृत्त हुए थे। वे बहुत पहले ही साधारण ध्वनिक विशेषताओं के सामान्य उल्लेखों के बहुत आगे, आधुनिक दृष्टि से संस्कृत ध्वनि-व्यवस्था (Phonology) का स्वनिमात्मक वर्णन (Phonemic description) करने लगे थे। क्योंकि उनको अपनी भाषा की भाषा-वैज्ञानिक संरचना (Linguistic structure) (आधुनिक अर्थ में) की संरक्षा ही अभीष्ट और उद्दिष्ट थी। इसके पश्चात् भारतीय वैयाकरणों का ध्यान भाषा के रूपिम (Morpheme) तथा वाक्य-संरचना (syntase) के अध्ययन पर विशेष रूप से केन्द्रित रहा, तथा संस्कृत—भाषा का वैज्ञानिक-विश्लेषण तथा वर्णन इस पूर्णता के साथ किया कि इसे मात्र 'पवित्र-वेदों की संरक्षा के धार्मिक प्रयोजन की पूर्ति के लिये किये गये कार्य के रूप में कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं, कि हिन्दू वैयाकरणों द्वारा रचित समस्त व्याकरणों में सर्व-श्रेष्ठ पाणिनि का व्याकरण[४] इतना उत्तम था कि उसके कारण केवल 'वैदिक भाषा' के सभी व्याकरण-ग्रंथों का प्रचलन समाप्त हो गया और अंततः उनका लोप हो गया, तथा अब ऐसे कुछ ध्वनि-शास्त्रीय ग्रंथ एवं कोश आदि ही बचे हुए हैं, जिनमें केवल वैदिक भाषा का विवेचन हुआ है। परन्तु विद्वानों की इस मान्यता के विषय में शंका करना ही उचित होगा। वस्तुतः पाणिनि के समय में ही विज्ञान 'धार्मिकता' से मुक्त और स्वतंत्र हो गया था, तथा जैसाकि पहले कहा जा चुका है उसका व्याकरण 'व्याकरण के लिए' लिखा गया व्याकरण था, उसमें धार्मिकता का कोई विशेष आशय दृष्टिगोचर नहीं होता। साथ ही पाणिनि के व्याकरण में वैदिक भाषा का वर्णन भी प्रसंगोपात्त रूप में ही हुआ है। ऐसा लगता है कि जैसे पाणिनि का मूल उद्देश्य किसी धार्मिकता के आग्रह से वैदिक भाषा का वर्णन करना था ही नहीं,[५] वह और ही कुछ करना चाहता था। वह संस्कृत भाषा के उस मानक रूप का वर्णन करना चाहता था जो आगे एक सर्व-सामान्य भाषा के आदर्श रूप में प्रतिष्ठित हो सके। (पाणिनि के पश्चात् ही संस्कृत भाषा न केवल भारत की एक सर्व-सामान्य राष्ट्र-भाषा सिद्ध हुई थी, वरन् यह समूचे एशिया में एक अंतर्देशीय भाषा के रूप में प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हुई)। वास्तव में अभी तक यह एक उलझी हुई समस्या ही है, क्योंकि पाणिनि ने स्वयं अपने व्याकरणशास्त्र के प्रयोजन के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। ऐसी स्थिति में यह भी सत्य हो सकता है कि जिस भाषा का रूप-वर्णन पाणिनि ने कर दिया, वही उसके कारण, भारत की एक सामान्य साहित्यिक भाषा सिद्ध हो गई। यहाँ[६] इस समस्या के विषय में विशेष कुछ और कहने की आवश्यता नहीं है, परन्तु इस बात का

उल्लेख किया जा सकता है कि लैटिन और ग्रीक दोनों ही भाषाओं की दीर्घजीवी साहित्यिक परंपराएँ मिलती हैं, यद्यपि आधुनिक पाश्चात्य तथा प्राचीन भारतीय दृष्टियों से उनके अच्छे व्याकरण नहीं थे तथा परवर्तीकाल में ग्रीक तथा लैटिन की अच्छी साहित्यिक कृतियों के आदर्शों का सामान्यत: अनुकरण हुआ है जिसके परिणाम कभी अच्छे हुए हैं, कभी बुरे। परन्तु जिस प्रकार का आदर्श व्याकरण भारत में संस्कृत के लिये संभव हुआ था, उसी प्रकार का व्याकरण लैटिन और ग्रीक भाषाओं का भी होता, तो परवर्ती-कृतियों में रूपिमात्मक (Marphological) वाक्यात्मक (syntactical) तथा शब्द-प्रयोग-विषयक जो विविध प्रकार के परिवर्त (Variations) दृष्टिगोचर होते हैं, वे न हुए होते। परन्तु यह सत्य है कि भाषा में स्वाभाविक रूप से होने वाले परिवर्तनों को तो संस्कृत जैसी देव-भाषा के श्रेष्ठ वैयाकरण भी नहीं रोक सकते थे। फलत: मध्यकालीन संस्कृत की वाक्य-संरचना तथा शब्द-प्रयोग अनेक दृष्टियों में पाणिनि की समकालीन या उसके आस-पास के समय की संस्कृत-भाषा की वाक्य-संरचना तथा शब्द-प्रयोग से भिन्न हैं। पाणिनि के बावजूद, संस्कृत भाषा भी समय के साथ के साथ विकसित होती गई तथा उसके विकास के भी वैसे ही काल-खंड हैं जैसे लैटिन भाषा के विकास के हैं।

पाणिनि के व्याकरण–लेखन का संदर्भ कुछ भी क्यों न हो, परन्तु वह निश्चित ही एक ऐसा उलझा हुआ प्रश्न है कि जिसके विषय में अन्तिम रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह सत्य है कि पाणिनि व्याकरण की अपने विषय की परिपूर्ण व्याप्ति कुछ ऐसी है कि उसको देखकर मानना पड़ता है कि उसका लेखक भारतीय मनीषियों की उस कोटि से सम्बन्धित है जिनमें उच्चतम हिन्दू-बौद्धिकता के अर्थात् अपने विवेच्य विषय के मान्य प्राविधिक सिद्धान्तों के अनुरूप, सूक्ष्मतम विश्लेषण करने के सभी लक्षण स्पष्टत: और पूर्णत: परिलक्षित होते हैं।

उच्च हिन्दू संस्कृति का एक दूसरा पहलू और भी है जिसके कारण उनके व्याकरणिक अध्ययन एक प्रकार की सर्वश्रेष्ठता पा सके हैं। हिन्दू-दृष्टि में मानवीय सत्ता के उन रूपों या अवस्थाओं का विशेष महत्त्व रहा है जिन्हें न पूर्ण चेतन कहा जा सकता है न अचेतन या अवचेतन तथा जो बिना किसी प्रयास अपने आप घटित हो सकती हैं अर्थात् जो या तो सहजात होती हैं या सहज क्रियाओं के लम्बे समय तक प्रशिक्षण के परिणामस्वरूप होती हैं। जैसे, श्वास-प्रश्वास तथा पाचन की प्रक्रिया जो मनुष्य में अपने आप घटित होती हैं और जिन्हें सीखा भी नहीं जाता परन्तु संकेतन और वाक्-व्यवहार अपने आप तो घटित होते हैं, परन्तु उन्हें सीख जाता है। हिन्दुओं की मानवीय चेतना के इन रूपों में इतनी विशेष रुचि थी कि उन्होंने इनके सूक्ष्म अध्ययन तथा उपयोग-प्रयोग करने की अनेक प्रविधियाँ या तकनीक विकसित कर ली थी। जैसी कि हिन्दुओं की मोक्ष-विषयक मान्यता है उसी के अनुरूप उनकी, इस क्षणभंगुर संसार-चक्र से आत्मा की मुक्ति प्राप्त करने की, तीव्र इच्छा के परिणामस्वरूप उन्हें यह बात उपयोगी प्रतीत हुई कि इस भौतिक शरीर की सहज प्रवृत्तियों एवं प्रक्रियाओं पर भी आत्मा का अधिकार रहे। मोक्ष को, इसीलिए, आत्म-स्वातंत्र्य के रूप में स्वीकार किया गया है। व्यक्ति के मनो-शारीरिक अध्ययन के आधार पर ऐसी प्रविधियों को खोजा गया, जिनके द्वारा श्वासोच्छ्वास, पाचन एवं रति-प्रक्रिया आदि

का संयमन संभव हुआ। इसी के परिणामस्वरूप प्राचीन हिन्दू-मनीषा द्वारा योगदर्शन एवं शास्त्र विकसित हुआ। अतः उसके विकास के मूल में भी उनकी पूर्वोल्लिखित आत्म-मोक्ष-विषयक तीव्रइच्छा को ही स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः यह मुमुक्षा मानवीय उदात्त तत्वों के, पूर्ण चैतन्य के रूप में उन्नयन का ही दूसरा नाम है, जो भारतीय संस्कृति के सभी ललित रूपों में प्रतिबिम्बित हुई है। शास्त्रीय हिन्दू-नृत्य भी मूलतः प्रशिक्षित किन्तु सहज मुद्राओं का ही संकेतीकरण तथा उनका विस्तार एवं प्रस्तार है, तथा उसके मूल में हिन्दू मोक्ष-दृष्टि ही प्रतीत होती है। वैदिक भाषा में जिसे 'ऋतु' कहा गया है वही नृत्य में नियमित गति द्वारा अभिव्यक्त होता है तथा अंग-संचालन (गति-तत्त्व) के द्वारा मुद्रा-विन्यास (स्थायी तत्त्व, जिसे वैदिक भाषा में 'सत्य' कहा गया है) के माध्यम से भाव या रूप की सृष्टि सम्भव होती है जिसे निश्चित ही शास्त्रीय-हिन्दू-नृत्य का सारतत्त्व माना जा सकता है, तथा यही सार-तत्त्व सभी हिन्दू साधना-पद्धतियों में भी मुद्रा-न्यास आदि के विस्तार में दृष्टिगत होता है, जिसके अतर्गत सामान्य ईश्वर-नाम-कीर्तन आदि से लेकर विविध तांत्रिक सम्प्रदायों में 'अं' से लेकर 'हुं', 'ह्रीं', 'ह्री', 'फट्' आदि बीज यंत्रों तक के विकास को स्वीकार किया जा सकता है। निश्चित ही मानवीय वाक-व्यवहार या भाषा के विश्लेषण तथा उसके सैद्धान्तिक विनियोग के लिए भारतीय भाषा विज्ञान का विकास इसी तथ्य का एक दूसरा निदर्शन है जिसके मूल में संस्कारजन्य, किन्तु उदात्त मानवीय क्रिया का चैतन्य रूप में उन्नयन रूपी हिन्दू-मोक्ष-दृष्टि ही कारणभूत प्रतीत होती है। क्या यह उल्लेखनीय नहीं है कि प्राचीन भूमध्य सागरीय देश क्योंकि अवचेतन के विषय में अत्यधिक अजिज्ञासु थे, इसीलिए वे श्रेष्ठ व्याकरणिक प्राविधान न कर सके? तथा क्या यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं कि आधुनिक युग में विवरणात्मक भाषा-विज्ञान (Descriptive linguistics) में पाश्चात्य जगत् की विशेष रुचि तथा अवचेतन के मनोविज्ञान (Psychology of subconscious) का विशेष विकास बहुत कुछ समान एवं समकालीन है?[७]

हिन्दू व्याकरणशास्त्र के लिये अब तक हमने 'श्रेष्ठ' तथा 'सर्वांगीण' शब्दों का ही प्रयोग किया है, यद्यपि कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने उसके लिये और भी अधिक प्रशंसात्मक शब्द कहे हैं। (उदाहरणार्थ—लिओनार्ड ब्लूमफ़ील्ड के उद्‌गार, 'लैंग्वेज़' नामक पत्रिका के खंड ५ पृ० २६७—२७६ द्रष्टव्य हैं) भारतीय भाषाविज्ञान के समुचित मूल्यांकन के लिये उसका व्याख्यात्मक विवेचन आवश्यक है।

किसी भी वस्तु या तथ्य-राशि का वही विवरण वैज्ञानिक विवरण कहला सकता है जो वर्ण्य-वस्तु या तथ्य-राशि में सम्भव सभी समानताओं का पता लगाने का प्रयास करता है, उन समानताओं को कुछ वर्गों (classes) में संयोजित करता है तथा इन वर्गों को पुनः तब तक ऐसे व्यापक समावेशक वर्गों (Inclusive classes) में संयोजित करता जाता है जब तक कि वर्गों के अत्यन्त समावेशक वर्ग सिद्ध नहीं हो जाते। वर्ण्य-वस्तु या तथ्य राशि में प्राप्त समानताओं तथा आंशिक समानताओं को खोजने की प्रविधि के विषय में यहाँ चर्चा करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता और न ही यह कहने की आवश्यकता है कि वैज्ञानिक विवरण सदा वर्ण्य-वस्तु की यथावत्ता तथा समग्रता का होता है तथा उसके अध्ययन की इकाइयाँ तथा उनके विषय में प्राविधान दोनों ही निर्दोष, स्पष्ट, एवं लघु (सूत्र) होते हैं

क्योंकि वैज्ञानिक अध्ययन तथा विवरण की उक्त प्रतिज्ञाएँ वैज्ञानिकों के बीच शताब्दियों से ज्ञात हैं। हाँ, किन्तु वैज्ञानिक विवरण के मान्य सिद्धान्तों के विषय में पश्चिम में भाषा विज्ञान के पंडित कुछ दशाब्दियों से ही अधिक सचेत हैं तथा भाषाओं के वैज्ञानिक विवरणात्मक अध्ययनों में क्रमशः उत्तरोत्तर उनका आधार स्वीकार किया जा रहा है। परन्तु पाणिनि द्वारा किया गया संस्कृत भाषा का विवरण वैज्ञानिक विवरण के सभी सिद्धान्तों के विनियोग का एक ऐसा आदर्श उदाहरण है कि उससे सीखा जा सकता है कि भाषाओं का वैज्ञानिक विवरण कैसे किया जाना चाहिए तथा पाश्चात्य भाषा-विज्ञान में वाक्य-विश्लेषण तथा विवरण के अपवाद के साथ अन्य सभी क्षेत्रों में वह (पाणिनि द्वारा किया गया भाषा-विवरण) निश्चित ही अब तक एक ऐसा आदर्श है, जिसे और श्रेष्ठतर नहीं बनाया जा सकता। वस्तुतः पाणिनि के व्याकरण में वाक्य को छोड़कर अन्य सभी स्तरों—वर्ण और पद के स्तरों पर संस्कृत भाषा में प्राप्त सभी समानताओं को वस्तु-परक विश्लेषण के आधार पर अलग-अलग किया गया है, उन्हें वर्गों में विभाजित किया गया है तथा वर्गों को इस प्रकार व्यापक समावेशक वर्गों में नियोजित किया गया है कि उससे भाषा का सारा विवरण अल्पतम वर्गों तथा उपवर्गों द्वारा सम्भव हो जाता है।

वस्तुतः ग्रीक तथा लैटिन भाषियों ने अपनी भाषाओं के सर्वांगीण विश्लेषण का ऐसा कोई प्रयास ही नहीं किया तथा वे अपनी भाषाओं के ऐसे विश्लेषण तथा विवरण से संतुष्ट थे जिसे आज का भाषा वैज्ञानिक अतात्त्विक-विश्लेषण पर आधारित भाषिक कोटीकरण या वर्गीकरण ही मानेगा, तथा यदि पाणिनि ने भी ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं के व्याकरणों को देखा होता तो उन्हें भी इसी प्रकार की प्रतीति होती। उदाहरणार्थ, लैटिन के चार प्रकार के क्रिया-रूपों (conjugations) के विवेचन को लिया जा सकता जिसमें क्रियाओं के धातु रूपों, (Roots) मूल प्रत्ययों (Stem suffisces) तथा विकारी प्रत्ययों (Inflexional suffisces) के अन्वेषण का कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया है तथा विविध क्रिया-रूपों में प्राप्त सादृश्य की ओर भी कम ही ध्यान दिया गया है, जिनका विधान सरलता से किया जा सकता था। निश्चित ही हिन्दुओं द्वारा किये गये संस्कृत भाषा के ध्वनि-वैज्ञानिक, स्वनिमात्मक तथा रूप-स्वनिमात्मक (संधियों) विश्लेषण की तुलना में मूल और मध्य-कालीन ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं की ध्वनि-व्यवस्था का विवेचन अपरिपक्व तथा भ्रामक कहा जाएगा। संस्कृत तथा ग्रीक एवं लैटिन भाषाओं के व्याकरणों के उक्त अंतर का एक परिणाम यह है कि अनेक बार हमें कल्पना ही करनी पड़ती है कि ग्रीक और लैटिन प्राचीन अथवा मध्यकाल में किस प्रकार उच्चरित की जाती थी, जबकि पाणिनि के समय में संस्कृत भाषा किस प्रकार उच्चरित होती थी, इसके विषय में निश्चित प्रामाणिक जानकारी हमारे पास है। यह बात केवल कोशीय शब्दों के विषय में ही सत्य नहीं है। भारतीय ऋषियों की दृष्टि वाक्य रूप में उच्चरित वाक्-व्यापार पर थी, अतः उन्होंने वाक्य में होने वाले सभी ध्वनिक विकारों का भी विवरण दिया है। वस्तुतः संस्कृत भापा संग्रथित-वाक्यों के रूप में ही लिखी जाती है। दूसरे शब्दों में, संस्कृत की लेखन-व्यवस्था के अनुसार वाक्य के शब्दों को पृथक्कतः नही लिखा जाता। क्योंकि हिन्दू-दृष्टि में उक्ति या वाक् मूलतः वाक्यात्मक है, मात्र अलग-अलग शब्दों की शृंखला के रूप में भाषा की कल्पना, जैसीकि

रोमन विचारकों ने की थी, तथा आज तक पश्चिम में यही दृष्टिकोण अधिक प्रचलित है, भारतीय भाषा-दर्शन में स्वीकार्य नहीं है। इस दृष्टि से ग्रीक विचारकों का भाषा-दर्शन कुछ भिन्न होता है, जैसाकि ग्रीक भाषा के वाक्यों में सुरअंकन (Accent) की व्यवस्था से प्रमाणित होता है। परन्तु ग्रीक भाषा के सुर-अंकन से वैदिक संहिताओं के सुर-अंकन की व्यवस्था निश्चित ही श्रेष्ठ है।

रूपिम या पद-विज्ञान (Morphology) के क्षेत्र में तो भारतीय भाषा-विज्ञान की उपलब्धियाँ कुछ इस प्रकार की हैं कि पश्चिम में अभी कुछ ही दशाब्दियों से उनसे होड़ ले सकने की स्थिति हो पाई है, परन्तु फिर भी संस्कृत के भाषा-वैज्ञानिक विवरण से श्रेष्ठ किसी अन्य भाषा का भाषा-वैज्ञानिक विवरण अभी तक संभव नहीं हो सका है। सह-रूपिमों (Allomorphs) का विधान, सहरूपिम के रूप में शून्य (Zero) की संकल्पना (अर्थात्-लोप) का भाषा-वैज्ञानिक-विवरण में प्रयोग,[५] सहरूपिमों के विविध वर्गों या गुणों (Sest), जिन्हें आजकल रूप-स्वनिम (Morphophonemics) कहते हैं, अर्थात् संधि में परस्पर समान-उपलक्षणों या समानताओं का व्यवस्थित निर्देश और विशेषकर कुछ संकुल भाषिक-संरचनाओं के वर्णन की सुकरता के लिये विशिष्ट रूप-स्वनिमों की संकल्पना (उदा-हरणार्थ 'ॠ' की स्थिति) तथा पद तथा वाक्य दोनों स्तरों पर भाषिक वर्गों या कोटियों (Classes) के अर्थों के विषय में स्पष्ट व्यवस्था तथा इसी प्रकार की और भी अनेक विशे-षताएँ संस्कृत के पद तथा वाक्य-विश्लेषण में दृष्टिगोचर होती हैं जिनका विधान अत्यन्त विज्ञान-सम्मत शैली में हुआ है। ग्रीक और संस्कृत व्याकरणों की तुलना के संदर्भ में इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता कि संस्कृत व्याकरण में गुण और वृद्धि के रूप में सह-रूपिमों के सम्बन्धों का जो विश्लेषण किया गया है वह मूलतः मूल-भारोपीय भाषा की स्वर-क्रम व्यवस्था (Ablout System) का विवेचन है। परन्तु संस्कृत भाषा में गुणात्मक स्वर-क्रम (Qualitative abloult) समाप्त हो चुका था तथा भारतीय वैयाकरण अन्य किसी भारोपीय भाषा से कदाचित् परिचित भी नहीं थे (अथवा यदि वे परिचित भी थे, तो उसमें उनकी कोई रुचि नहीं थी), जिसके साथ वे तुलना कर सकते। इसके विपरीत ग्रीक भाषा में गुणात्मक तथा परिमाणात्मक (Quantitative ablout) दोनों प्रकार की स्वर-क्रम-व्यवस्था स्पष्टतः सुरक्षित थी, फिर भी ग्रीक वैयाकरण तथा १६ वीं शताब्दी तक उनका अनुकरण करने वाले अन्य सभी पाश्चात्य वैयाकरण भी, स्वर-क्रम-सम्बन्धी व्यवस्था का ऐसा कोई विवरण प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे, जिसकी तुलना पाणिनि द्वारा किये गये विवेचन के साथ की जा सके।

आधुनिक काल में व्याकरणिक-विवरण मूलतः तीन प्रकार का होता है; एक तथ्य इकाई और उनके संयोजन (Item and arrangement) का विवरण, द्वारा, तथ्य इकाई और प्रक्रिया (Item and process) का विवरण, और तीसरा, शब्द और उनकी रूपावलियों (word and pandigm) का वर्णन। इस दृष्टि से संस्कृत व्याकरण को निश्चित ही दूसरे प्रकार का माना जा सकता है।[६] वस्तुतः पाणिनि के व्याकरण की संभवतः सर्वाधिक चमत्कारी विशेषता वह व्यवस्था है कि जिसके द्वारा संज्ञा और क्रिया-वर्ग के प्रत्येक अत्यन्त बहुसहरूपिमात्मक रूपिम (पद) के लिये एक आधारभूत सहरूपिम

स्थापित किया गया है। अर्थात् प्रत्येक क्रिया अथवा संज्ञा के मूल में किसी न किसी धातु तथा/अथवा प्रकृति के रूप में एक प्रातिपदिक को स्वीकार किया गया है तथा इन्हीं मौलिक इकाइयों के साथ सभी भाषिक रूपों का सम्बन्ध संधि-विषयक व्यापक प्रावधानों के माध्यम से स्थापित किया गया है। क्योंकि संस्कृत में क्रिया और संज्ञा रूपिमों में अनेक समानताएँ हैं, अतः पाणिनि ने एक ऐसी व्युत्पत्ति-व्यवस्था (System of derivation) को स्वीकार किया है जिसमें सभी संज्ञा रूपिमों या प्रातिपदिकों की व्युत्पत्ति क्रिया-धातुओं से की जा सके, या ऐसी ही अन्य धातुओं से जिन्हें क्रिया-वर्ग के अन्तर्गत स्वीकृत किया जा सकता है, यद्यपि ये दूसरे प्रकार की धातु ऐसी है कि ये किन्हीं विशिष्ट संज्ञा मूल-प्रकृति-पदों या प्रातिपदिकों (noun-stem) में ही आती है। व्युत्पत्ति और विश्लेषण के इस सिद्धांत के विरोध में गार्ग्य का अपना अभिमत था, जिससे संस्कृत के वैयाकरण भली-भाँति परिचित हैं। परंतु पाणिनि के समय में शाकटायन का अभिमत ही सर्वमान्य था, जो उनकी अष्टाध्यायी में भी प्रतिफलित हुआ है तथा आज भी भारतीय वैयाकरणों का यही सर्वसामान्य मान्य सिद्धान्त है।[१०] गार्ग्य और शाकटायन के विरोधी सिद्धान्तों को देखकर अंग्रेजी की—er प्रत्यय वाली संज्ञाओं जैसे Hammer आदि के विश्लेषण सम्बन्धी समस्या और नाइडा द्वारा ब्लूम-फील्ड द्वारा प्रस्तावित पाणिनि जैसे हल की अस्वीकृति का स्मरण हो जाता है। वस्तुतः ब्लूमफ़ील्ड द्वारा प्रस्तावित हल से नाइडा की असहमति पूर्णतः तर्क-सम्मत प्रतीत नहीं होती।[११]

संस्कृत व्याकरणशास्त्र अथवा भारतीय व्याकरणिक विवरण की जैसीकि अब तक व्याख्या की गई है उसके अनुसार यद्यपि उसे मूलतः प्रक्रिया–(Process) परक विवरण ही कहा जा सकता, परन्तु अभी तक यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं है कि उसकी उक्त व्याख्या उचित है या नहीं, क्योंकि यह निश्चित करने के लिये कि पणिनि की विश्लेषण एवं वर्णन-पद्धति, स्पष्टतः 'संयोजन' और 'प्रक्रिया-परक ही है, या उसमें इन दोनों प्रविधियों का समन्वित रूप मिलता है, पाणिनि की अष्टाध्यायी और उस पर लिखी गई टीकाओं के गहन अध्ययन की अभी बड़ी आवश्यकता है।

१८वीं शताब्दी के अन्त में संस्कृत और उसके स्थानीय वैयाकरणों का कुछ ज्ञान पाश्चात्य जगत् में पहुँचा था। सर विलियम जोन्स ने बड़े उत्साह के साथ करीब साढ़े आठ वर्षों तक संस्कृत का गहन अध्ययन किया तथा २ फरवरी सन् १७८६ में एशियाटिक सोसायटी के अपने तृतीय वार्षिक अभिभाषण में यह प्रसिद्ध घोषणा की कि संस्कृत भाषा, चाहे जितनी प्राचीन हो, उसकी संरचना निश्चित ही आश्चर्यजनक है, वह न केवल ग्रीक से भी अधिक पूर्ण तथा लैटिन से भी अधिक व्यापक है अपितु दोनों से अधिक परिष्कृत भी है, साथ ही क्रिया-धातुओं और व्याकरण के रूप दोनों में संस्कृत की ग्रीक और लैटिन के साथ अधिक समानता है जो बिना किसी मौलिक सम्बन्ध के संभव नहीं हो सकती। वस्तुतः इन तीनों भाषाओं की समानताओं की व्याख्या, यह माने बिना नहीं की जा सकती कि ये तीनों एक ही समान स्रोत से विकसित हुई हैं, जो अब बिल्कुल खो चुका है। इसी प्रकार के तर्कों के आधार पर गौथिक और कैलटिक भाषाओं के विषय में भी कहा जा सकता है कि ये भी संस्कृत के समान ही एक ही मूल-भाषा से विकसित हुई थीं, यद्यपि इन्होंने कालान्तर में एक

भिन्न प्रकार का मुहावरा विकसित कर लिया था और यदि प्राचीन फारसी की प्राचीनता से सम्बद्ध प्रश्न पर भी यहाँ विचार किया जाए तो इस भाषा-परिवार में उसे भी जोड़ा जा सकता है।[१२]

निश्चित ही प्राचीन परम्परा के स्थानीय विद्वानों के साथ अध्ययन करके ही जोन्स् ने संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था तथा स्थानीय पारम्परिक व्याकरण की किसी पाठ्य-पुस्तक के माध्यम से ही वह इस प्रकार का अनुमान लगा सका होगा। जिन यूरोपीय भाषाओं को वह भली-भाँति जानता था, उनमें और संस्कृत में सुनिश्चित प्रकार की समानताओं को देख कर ही, वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा होगा तथा उसने उक्त घोषणा की होगी, जिसे विद्वानों ने इसके बाद बार-बार उद्धृत किया है। यद्यपि अठारहवीं शताब्दी में सामान्यतः दृष्टिगत होने वाली ऐतिहासिकता की भावना को जोन्स की उक्त खोज की भूमिका के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है, परन्तु सम्प्रति ऐसा और कोई आधार हमारे पास नहीं है जिससे यह निश्चित रूप से बताया जा सके कि जोन्स अपने उक्त निर्णय तक किस प्रकार पहुँचा। सभी परवर्ती पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिकों ने, जिन्होंने इसका अध्ययन किया है, संस्कृत भाषा की संरचना की विशिष्ट स्पष्टता को ही जोन्स् की इस खोज के मूल में कारण रूप माना है,[१३] जैसेकि स्वयं संस्कृत भाषा ने ही अपने अध्येता में इस अन्तर्दृष्टि को विकसित कर दिया कि संस्कृत, लैटिन और ग्रीक के साथ आनुवंशिक रीति से सम्बद्ध है। परन्तु जहाँ तक कि एक संस्कृत का आचार्य इस विषय में वस्तु-परक दृष्टि से सोच सकता है, उसी दृष्टि से मेरा तो अभिमत यह है कि यद्यपि ग्रीक भाषा की तुलना में संस्कृत भाषा की संरचना अपने रूपिमों (पदों) के विविध सहरूपिमों के विस्तार तथा उनकी संधियों की संकुलता के कारण, कोई विशेष पारदर्शी नहीं है, परन्तु पारदर्शी संस्कृत भाषा का विश्लेषण तथा विवरण है, जिसके परिचय से जोन्स में यह अंतर्दृष्टि विकसित हुई कि संस्कृत, लैटिन और ग्रीक के साथ आनुवंशिक रीति से सम्बद्ध है। वस्तुतः संस्कृत भाषा की संरचना का उक्त पारदर्शी विश्लेषण तथा विवरण जोन्स को अपने हिन्दू पंडित से पाणिनि के व्याकरण के आधार पर ही प्राप्त हुआ होगा। संस्कृत भाषा के जिन मौलिक रूपिमों का जो सुस्पष्ट विवरण पाणिनि ने किया है, उनसे जोन्स ग्रीक और लैटिन के अपने पूर्व-अभ्यास के कारण अनुभूति के स्तर पर पहले से ही परिचित थे। अतः पाणिनि के व्याकरण के अपने अध्ययन के आधार पर वे ग्रीक, लैटिन आदि उन सभी भाषाओं के मौलिक रूपिमों में समानताएँ देख पाये जिन्हें वे जानते थे[१४] तथा उन्होंने एक ऐसी घोषणा कि जिससे पूरे यूरोप और अमेरिका में भारत-विद्या-विज्ञान (Indology) और भाषा-शास्त्र (Philology) का सूत्रपात हुआ जिससे आगे चलकर आधुनिक-भाषा-विज्ञान (Linguistics) विकसित हुआ। निश्चित ही यह एक क्षति है कि जोन्स ने अपने इस दृष्टि–लाभ की मानसिक प्रक्रिया के विषय में विशेष कुछ लिखा नहीं है, जिससे संभवतः आधुनिक पाश्चात्य भाषा-विज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था के विषय में काफी प्रकाश पड़ सकता था।

यह सत्य है कि अपने इतिहास के पर्याप्त दीर्घसमय तक पाश्चात्य भाषा-विज्ञान पर भारत का विशेष प्रभाव रहा तथा उसी के परिणामस्वरूप जोन्स द्वारा संकेतित ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान की समस्या का अत्यन्त सूक्ष्म तथा व्यापक अध्ययन किया गया। इस

प्रकार भारतीय प्रेरणा से पाश्चात्य ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की नींव पड़ी। उस समय पाश्चात्य विद्वानों ने भाषा-विवरण की भारतीय पद्धति को सामान्यतः स्वीकृत कर लिया था। यहाँ तक कि पश्चिम में संस्कृत को परिचित कराने वाले बैनफ़ी (Benfy) व्हिटनी (whitney) आदि विद्वानों पर भी संस्कृत व्याकरण का प्रभाव था यद्यपि उन्होंने उसकी काफ़ी टीका-टिप्पणी की थी तथा कुछ छिद्रान्वेषण भी किया था। परवर्ती शोधों तथा अध्ययनों के परिणामस्वरूप अब यह सिद्ध हो चुका है कि वस्तुतः व्हिटने आदि पाणिनीय व्याकरण को ठीक से समझ नही पाये थे। उन्होंने वस्तुतः लैटिन व्याकरण के आदर्श पर पाणिनि के व्याकरण को आँकने का प्रयास किया था, जो मात्र रूपावलियों (Paradigm) के द्वारा भाषा का वर्णन करता है। वस्तुतः संज्ञा तथा क्रिया के प्रमुख रूपिमों (रूपावलियों) के विवरण से न तो भाषा की सभी रूपिम-इकाइयों (morphological units) का स्पष्ट निर्देश हो पाता है और न ही विविध प्रकार की संधियों का विश्लेषण संभव होता है। इस प्रकार यूरोपीय रूपावलि-मूलक-व्याकरण मात्र शब्द का ही एक इकाई के रूप में वर्णन करता है, निश्चित ही उसके माध्यम से पाणिनीय व्याकरण की श्रेष्ठता नहीं देखी जा सकती। हाँ, वह किसी शिक्षार्थी को भाषा सिखाने के लिए अधिक उपयोगी हो सकती है।[१५] दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि व्हिटने आदि पाणिनीय व्याकरण की सशक्त विवरणात्मक पद्धति (Descriptive technique) को पहिचानने में असफल रहे और अन्य भाषाओं के विश्लेषण-विवरण के लिए उस पद्धति का प्रयोग करने के विषय में भी विचार नहीं कर सके। हाँ, इस समय अपवाद स्वरूप कुछ श्रेष्ठ भाषा-विवरण अवश्य हुए हैं जिन्हें पाणिनि-परम्परा के अनुरूप कहा जा सकता है।[१६]

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना परमावश्यक है कि उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में एक सक्षम पाश्चात्य विवरणात्मक भाषाविज्ञान के मंथर विकास के कारण के रूप में, संपूर्णतः नहीं तो बहुत अंशों तक भारतीय वैयाकरण ही थे। स्वयं सर विलियम जोन्स द्वारा लिखित A dissertation On the orthography of Asiatick words in Roman Letters. में उनके भारतीय ध्वनि-विज्ञान के ज्ञान का परिचय मिल जाता है। विगत कुछ वर्षों में अंग्रेज ध्वनि-वैज्ञानिक तथा भाषा-विज्ञान के अन्य पंडितों ने जोन्स के उक्त प्रबंध से पाश्चात्य ध्वनि-विज्ञान के विकास का प्रारम्भ माना है तथा उसमें लैप्सिअस, विलियम डी० व्हिटने, ए० जे० ऐलिस और वैल एवं स्वीट जैसे महान् विशेषज्ञों का योगदान प्रतिपादित किया है।[१७] परन्तु इतना स्पष्ट है कि यद्यपि आधुनिक पाश्चात्य ध्वनि-विज्ञान की अनेक उपलब्धियाँ हैं तथा उनके परिणामस्वरूप अब उच्चारण-प्रक्रिया (Articulatory processes) के विषय में बहुत कुछ निश्चित रूप से कहा जा सकता है, परन्तु योरोपीय-भाषा-विवरणों में ध्वनि-वैज्ञानिक विवेचन तभी से कुछ श्रेष्ठ होने लगा था, जबकि यूरोपीय संस्कृत पंडित भारतीय ध्वनि-विज्ञान से भली-भाँति परिचित हो गये थे तथा उनके द्वारा वह ज्ञान यूरोपीय विद्वत्ता की सामान्य परम्परा का अंग बना दिया गया था।

पश्चिम में व्याकरणिक विश्लेषण के अन्य क्षेत्रों जैसे—स्वनिम-विज्ञान (Phonemics) रूप-विज्ञान, (Morphology) तथा वाक्य-विज्ञान (syntax) पर भारतीय व्याकरण का

प्रभाव काफ़ी लम्बे समय तक बहुत अधिक नहीं था, परिचय पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिकों को भारतीय भाषा-विश्लेषण की पद्धति तथा विवरण के विधान की श्रेष्ठता (सूत्रात्मक कथन) का बेनफ़ी और ह्विटने के संस्कृत व्याकरणों तथा भाषा और भाषा-विज्ञान विषयक कुछ पुस्तकों के माध्यम से ही प्राप्तव्य था परन्तु उसके परोक्ष प्रभाव से भी उसके अनुसरण के कुछ प्रयास अवश्य हुए, जिन्हें अपवाद स्वरूप ही समझना चाहिए। काफ़ी समय तक पश्चिमी जगत् में भाषाओं के व्याकरण पारम्परिक यूरोपीय व्याकरण के आदर्शानुरूप ही लिखे जाते रहे। हाँ, साइबेरिया की 'तुकिक याकुत' (Tukic yakut) भाषा का व्याकरण अवश्य एक अपवाद है, जिसे प्रसिद्ध संस्कृत तथा पाणिनि के विशेषज्ञ ओतो बोर्तलिक (Otto Boht Lingk) ने एक शताब्दी से भी अधिक पहले, सन् १८५१ में प्रकाशित किया था,[१९] तथा भाषा-विश्लेषण तथा विवरण की एक श्रेष्ठ आदर्श पद्धति के रूप में इसकी प्रशंसा एडवर्ड सपीर ने अनेक स्थानों पर की है। इस व्याकरण या भाषा-विवरण में पाणिनि की शैली में ध्वनि-प्रक्रिया, (Phonology) रूप-प्रक्रिया, (Morphology) तथा वाक्य-संरचना (syntax) का सविस्तार और पूर्ण विवेचन है, और इस बात को भी बिना किसी शंका के कहा जा सकता है कि ओतो बोर्तलिक के संस्कृत और पाणिनि के गहन अध्ययन के परिणाम स्वरूप ही इस व्याकरण में उक्त पद्धति दृष्टिगोचर होती है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें सर्वत्र भाषा के साम्प्रत-विवरण (syncharonic description) के साथ-साथ उसके ऐतिहासिक पक्ष पर भी प्रकाश डाला गया है, जिसे आधुनिक विवरणात्मक भाषा विज्ञान के पक्षधर अन्यथा रूप में भी समझ सकते हैं।

यह निश्चित ही अत्यधिक आधुनिक समय में संभव हुआ है जबकि विवरणात्मक भाषा-विज्ञान में, विशेषकर अमेरिका में, विवरणात्मक पद्धति के लिये पाणिनि का अनुसरण अधिक सफलतापूर्वक हुआ है। फ्रांस बॉएज़ का, (Franas Boas) जहाँ तक व्याकरण-शास्त्र में व्यावहारिक प्रशिक्षण था, वह सम्पूर्णतः प्राचीन यूरोपीय व्याकरण-परम्परा में था, उन्होंने मूल अमरीकी भाषाओं (American Indian Language) के जो विवरणात्मक अध्ययन किये थे, वे उन्होंने अपनी स्वतंत्र प्रतिभा के अनुसार ही किये थे। निश्चित ही उनकी तकनीक अपाणिनीय थी। हाँ, पाणिनी के समान उन्होंने भी भाषा का प्रक्रियापरक वर्णन किया है। परन्तु तकनीक की दृष्टि से उनकी तकनीक उतनी सशक्त नहीं की जा सकती, जितनी कि पाणिनि की है। बॉएज़ के शिष्यों में एडवर्ड सपीर ने, निश्चित ही, पाणिनि का अध्ययन किया था, तथा उन्होंने उसकी प्रशंसा भी की है तथा उन्होंने भी प्रक्रिया-परक पद्धति में भाषा-विवरण किया है। लेकिन यह सत्य है तथा इसे मैं सपीर का शिष्य होने के नाते, व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ, कि उन्होंने भारतीय वैयाकरणों से कोई प्रेरणा ग्रहण नहीं की थी। परन्तु लिओनार्ड ब्लूमफील्ड की बात दूसरी थी। वह एक ऐसा विद्वान् था जिसने पाणिनि का गहन अध्ययन किया था, तथा वह पाणिनि पर लिखे गये व्याख्यात्मक साहित्य से भी परिचित था उसने हिन्दू वैयाकरणों की पद्धति तथा उसके परिणामों की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की है।[२०] पाणिनि में उन्हें जो कुछ श्रेष्ठ प्राप्त हुआ था, तथा जिसे वे भाषा विज्ञान के अन्य विद्वानों के लिये भी प्राप्तव्य समझते थे, उसका बड़ा ही स्पष्ट विवरण लीबिख (Liebich) की Konkrdan Panini

"candra" नामक पुस्तक की समीक्षा में मिलता है, जो Language पत्रिका की जिल्द V (१६२६) पृ० २६७–७६ में प्रकाशित हुई थी। ब्लूमफील्ड का यह लेख भाषाविज्ञान के अध्येता तथा पंडितों के बीच अधिक प्रसिद्ध नहीं है, विद्वानों को गंभीरतापूर्वक उसका अध्ययन करना चाहिए। ब्लूमफ़ील्ड पर भारतीय भाषाविज्ञान के प्रभाव के संदर्भ में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि जिस भाषा-वैज्ञानिक-प्रविधि का विधान, ब्लूमफ़ील्ड ने अपनी Languge नामक पुस्तक में किया है, वह बहुत कुछ अंशों में उनके भारतीय व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन का परिपाक है। यहाँ कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगा कि यदि ब्लूम-फील्ड ने भारतीय व्याकरण-शास्त्र का गहरा अध्ययन न किया होता तो मुश्किल से ही स्वनिम-विज्ञान, रूपिम-विज्ञान तथा वाक्य-विज्ञान में उनकी विश्लेषण की पद्धतियाँ ऐसी होती, जैसीकि हैं; या जैसी पद्धतियों का विधान उन्होंने अपनी पुस्तक में किया है। ब्लूम-फ़ील्ड, वस्तुतः भारतीय व्याकरण शास्त्र के अपने गहन अध्ययन के कारण ही उसकी 'वैज्ञानिक गहनता, (Scientific Condensation) जो भाषा के विवरण में उसके प्रत्येक उपलक्षण (Feature) का उसका उपयुक्त संदर्भ प्रदान कर देती है, 'उसकी' पूर्णता (Completeness) तथा विधान की लाघवता व स्पष्टता (Brevity and stringenns of statement) के परम-प्रशंसक थे (तुलनीय है : Language. Vol (v) P. २७-४७)। अमरीकी सेना के लिये तैयार किये गये 'मैन्यूअलों (ASTP. पुस्तकमाला में प्रकाशित) के अतिरिक्त उनके जीवन के उत्तरार्द्ध में इस प्रकार की वैज्ञानिक विवरणात्मक रचनाएँ इतनी कम प्रकाशित हुई हैं कि उनके द्वारा मान्य भाषा-विवरण के आदर्श का पूरा चरि-तार्थ रूप स्पष्ट नहीं हो पाता। फिर भी जो पाणिनि से परिचित हैं वे उनके सेना के लिये लिखे गये मैन्यूऊत अथवा Linguistic Structuie of Native America.[२१] में Algo-nquian पर लिखे उनके अध्यायों को उन पर भारतीय प्रभाव को पहिचाने बिना नहीं पढ़ सकता। Algonquian पर लिखा अध्याय इसलिए भी विशेष महत्त्वपूर्ण है कि उसमें यह देखा जा सकता है कि किसी तुलनात्मक व्याकरण (Comparative grammar) की रचना में भी विवरणात्मक 'गहनता'; (Deceriptive Condensation) 'पूर्णता' (Completeness) तथा कथन या विधान की 'सुस्पष्टता' का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। अमरीकी भाषा-विज्ञान के अधिकांश नवीन विद्वानों पर ब्लूमफील्ड के व्यापक प्रभाव की सविस्तार चर्चा करने की यहाँ कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि वे विशेष लक्षण जिनके आधार पर भाषा-विज्ञान के अन्य सम्प्र-दायों से अमरीकी-सम्प्रदाय का पार्थक्य स्थापित किया जाता है, अधिकांश में ब्लूम-फ़ील्डीय ही हैं, तथा यदि मेरी व्याख्या ठीक है तो उनमें से अनेक विशेषताओं को पाणिनीय कहा जा सकता है।[२२] सम्प्रति ऐसे पाणिनीय लक्षण, मुश्किल से ही, भाषा विज्ञान के विद्वानों के किसी अन्य समूह या सम्प्रदाय की विशेषता के रूप में स्वीकृत किये जा सकते हैं।

कुछ समय से अमरीकी भाषा-विज्ञान में भाषा-विवरण प्रक्रिया-परक-पद्धति तथा प्रक्रिया-विषयक-विधानों या कथनों से वचना एक फैशन वन गया है, यद्यपि विवरणात्मक भाषा-विज्ञान में सम्प्रति स्वीकृत एवं प्रचलित भाषा-विवरण के पूर्वोल्लिखित सभी मानक रूपों या आदर्शों (Models) के आधुनिक काल में हुए परीक्षणों के आधार पर भी उक्त प्रक्रिया-

परक-पद्धति को स्वीकार करने में किसी प्रकार विरोध नहीं पाया गया ।[23] यह फैशन हो या न हो, परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जाना चाहिए कि भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों को अपने शास्त्र या विषय के मूल उत्स से अपरिचित नहीं रखा जाना चाहिए, तथा उन्हें रूपिम-वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त संकुल अपनी भाषा के लिये हिन्दुओं द्वारा विकसित भाषा-विश्लेषण तथा विवरण की एक सशक्त पद्धति का परिज्ञान अवश्य कराया जाना चाहिए । निश्चित ही उसका परिज्ञान उसी प्रकार के संकुल-रूपिमों के वैज्ञानिक-विवरण में उपयोगी सिद्ध हो सकता है, जिस प्रकार बॅएज़ (Boas), सपीर (Sapir) तथा अन्य विद्वानों की ऐसी ही तकनीकें उपयोगी सिद्ध हुई हैं । मेरी दृष्टि से पाणिनि की पद्धति के परिचय के स्पष्ट उद्देश्य से भाषा-विज्ञान के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये संस्कृत विषय का अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए, चाहे थोड़ा ही क्यों न हो, संस्कृत भाषा का अध्ययन भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिये निश्चित ही उपकारक होगा तथा जितना सोद्देश्य यह कार्य होगा, उतना ही अधिक सफल भी होगा ।[24]

सम्प्रति स्वर-विज्ञान, (Phonotics) स्वनिम-विज्ञान, (Phonemics) रूपिम-विज्ञान (Morphology) तथा वाक्य-विज्ञान (Syntase) के क्षेत्रों में आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों को सम्भवतः हिन्दू वैयाकरणों से कुछ विशेष सीखने को न मिले । परन्तु यह भी हम निश्चित रूप से तब तक नहीं कह सकते जब तक आधुनिक भाषाविज्ञान में प्रशिक्षित विद्वान् पाणिनि का उक्त क्षेत्रों में पुनः परीक्षण उसी प्रकार नहीं कर लेते जिस प्रकार स्वन-विज्ञान के क्षेत्र में किया गया है ।[25] परन्तु भाषाविज्ञान के अन्तर्गत अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र में, जिसका कि विकास अभी कुछ समय से धीरे-धीरे पश्चिम में हो रहा है, निश्चित ही भारत से अभी बहुत कुछ सीखा जा सकता है । भारत में वैयाकरणों, काव्यशास्त्र के आचार्यों तथा दार्शनिकों का सम्बन्ध अर्थ की समस्या के साथ रहा है और उन्होंने इस विषय में काफ़ी चिन्तन किया है और लिखा है । निश्चित ही सभी व्यावहारिक भाषा-वैज्ञानिक दृष्टियों से पश्चिम अभी इस क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त नहीं कर पाया है । साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इस विषय पर लिखे गये भारतीय ग्रन्थ कठिन शैली में हैं, और पश्चिम में, संस्कृतज्ञ दार्शनिक और भाषा-वैज्ञानिक के रूप में इन ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिये उपयुक्त व्यक्ति भी बहुत कम हैं । किन्तु इतना निश्चित है कि इस दिशा में जो भी प्रयास होंगे उनके अच्छे ही परिणाम निकलेंगे । अतः यह एक ऐसा विषय है कि पश्चिम में इसकी अध्ययन-संस्तुति की जा सकती है ।[26]

पाणिनि और उनके प्रारम्भिक व्याख्याताओं के साथ भारतीय व्याकरण अपनी गौरवशाली पूर्णता को प्राप्त कर चुका था तथा ऐसा लगता है कि जब एक व्याकरणिक अध्ययन का कथित उद्देश्य अर्थात् वेदों की भाषा की संरक्षा और भाषा के विवरण में वैयाकरणों की रुचि का विस्तार, सिद्ध हो गया तो आगे उस दिशा में विशेष कुछ करने की उनकी लालसा जैसेकि समाप्त हो गई थी । सम्भवतः इसीलिए मध्यकालीन भारतीय भाषाओं का आंशिक वर्णन ही व्याकरणों में हुआ, और यह भी मुख्यतः संस्कृत की तुलना में उनमें घटित अन्तरों के अध्ययन के रूप में ही हुआ है । वस्तुतः ईसवी सन् के पूर्ववर्ती महान् दिनों के पश्चात् से भारतीय व्याकरण-प्रतिभा सोई हुई है । इस संदर्भ में सन् १६४० में तिरुपति

में हुए अखिल भारतीय-प्राच्य-विद्या-सम्मेलन में स्वयं महापंडित श्री विष्णु सीताराम सुकथनकर द्वारा किये गये पुनजार्गरण के आह्वान का स्मरण कराया जा सकता है ।[२७] तथा इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि भारत में अब भाषा वैज्ञानिक पुनर्जागृति के संकेत भी मिलने लगे हैं ।

आधुनिक भाषाविज्ञान के पाश्चात्य विद्वान् प्रारम्भ से ही अनेक रूपों में भारत को अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय मानकर, अपने वैज्ञानिक प्रयासों का केन्द्र मानते रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संस्कृत तथा भारोपीय भाषाओं के संदर्भ में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए हैं, जिन्हें मूलतः पाश्चात्य जगत् की संसार के सभी देशों के मनुष्यों तथा उनकी भाषाओं के विषय में वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करने की सामान्य अभिलाषा के परिणामस्वरूप माना जा सकता है ।

वस्तुतः प्रारम्भिक काल में संस्कृत के एक विराट् शब्द-कोश की बड़ी आवश्यकता थी तथा सन् १८५५ में ओटो बोतलिंक (Otto Bohtingk) और रुडौल्फ रोथ (Rudolph Roth) ने (Kaiserliche Akademie dev Wissensehaften) सेंट-पीटर्सवर्ग में अपने Sanskrit Worter buch का प्रथम-खंड प्रकाशित किया था जिसे पश्चिम में प्राच्य-विद्या के विकास की एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस ग्रन्थ का पूरा प्रकाशन तो बीस वर्ष बाद हुआ था, परन्तु यह ग्रन्थ प्रारम्भ से ही भारतीय-भाषाओं के अध्ययन के लिये एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जाने लगा था और अब भी अनेक दृष्टियों से यह ग्रन्थ अद्वितीय है। यद्यपि परवर्ती समय में नवीन शोधों के परिणामस्वरूप ऐसी अनेक प्राचीन महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं कि जिनके विषय में इस कोश के संकलन-कर्त्ताओं को कोई जानकारी नहीं थी, अतः इस प्रकार के एक नये कोश के संकलन की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गई है। यह उचित ही हैं कि भारत में इस प्रकार के नये कोश का कार्य आरम्भ हो चुका है ।

संस्कृत-नाटकों में प्राप्त होने वाले मध्य-भारतीय-आर्य-भाषाओं के कुछ नमूनों से तो पाश्चात्य विद्वान् सर विलियम जोनस् के समय से ही परिचित थे, परन्तु सन् १८३० के आसपास प्रिंसिप (Prinsep) द्वारा पढ़े जाने के बाद काफी समय से पूर्णतः विस्मृत तथा अज्ञात, बौद्ध-सम्राट् अशोक के मध्य भारतीय आर्य-भाषा में लिखे गये शिलालेखों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार विविध मध्य भारतीय आर्य-भाषाओं में लिखे गये जैनों और बौद्धों के धार्मिक साहित्य से भी पाश्चात्य विद्वान परिचित हुए। अनेक भारतीय विद्वानों के साथ-साथ अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने मध्य भारतीय आर्य-भाषाओं में लिखे अशोक के शिलालेखों के अतिरिक्त अन्य शिलालेखों तथा सिक्कों की खोज की, उनका संग्रह किया तथा उन्हें प्रकाशित भी किया। सन् १९०० में पिशेल द्वारा मध्य भारतीय आर्य-भाषा के विविध रूपों का तुलनात्मक विवरण तथा ऐतिहासिक अध्ययन प्रकाशित किया गया। इसी प्रकार अमरीका की प्राच्य-विद्या-सभा के सदस्य फ्रेंकलिन एडगर्डन (Franklin Edgerton) ने बौद्ध धर्म की उत्तरी शाखा की मध्य भारतीय आर्य-भाषा जो आंशिक रूप से संस्कृतमय थी, का चिरस्मरणीय विवेचन सन् १९५३ में प्रकाशित किया था। यद्यपि इसकी अनेक खंडों में प्रकाश्य सामग्री प्रकाशित हो चुकी है और उस पर ऐतिहासिक दृष्टि से पर्याप्त कार्य हो

चुका है, परन्तु अन्तिम रूप से किसी प्रामाणिक अध्ययन की आवश्यकता अभी शेष है।[२८]

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन अभी विशेष नहीं हुआ है। वस्तुतः उन भाषाओं के भी आधुनिक-विवरण नहीं मिलते जिनके विवरणों की अन्य कारणों से भी परमावश्यकता है। मुख्यतः आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के आधुनिक एवं वैज्ञानिक विवरण इसीलिए नहीं मिलते कि इस कार्य के लिये समुचित प्रशिक्षित कार्य-कर्त्ताओं का अभाव है। अमरीकी, ब्रिटिश और अब कुछ समय से भारतीय भाषा-वैज्ञानिकों के समवेत प्रयासों से संभवतः निकट भविष्य में इस क्षति की पूर्ति हो जाए। वैसे ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भारतीय आर्य-भाषाओं के श्रेष्ठ अध्ययन काफी पहले से हो रहे हैं। इस संदर्भ में स्व० जूलिस ब्लोक (Jules Block) की रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है, जिनमें भारतीय आर्य-भाषाओं का वैदिक-भाषा से आधुनिक बोली-रूप तक के विकास का ऐतिहासिक अध्ययन और मराठी-भाषा का सर्वांगीण अध्ययन किया गया है। सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का बंगाली भाषा पर कार्य निश्चित ही आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन के नये युग का सूत्रपात करता है। सर राल्फ़ टर्नर का नेपाली भाषा का व्युत्पत्यात्मक शब्द-कोश भी एक उल्लेखनीय ग्रंथ है। जब तक चिरप्रतीक्षित समग्र आधुनिक भारतीय-आर्य-भाषाओं का व्युत्पत्यात्मक शब्द-कोश तैयार नहीं होता, तब तक यही एक ग्रंथ है, जिसका शब्द-व्युत्पत्ति आदि देखने के लिये सामान्यतः आधार लिया जाता है।[२९]

स्व० सर जौर्ज अब्राहम ग्रीयर्सन का 'भारत का भाषा-सर्वेक्षण' निश्चित ही एक महान् प्रयास था।[३०] परन्तु मूलतः वह बोली-भूगोल (Biolee Mappeing) के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रयोग ही था, जिसे अंशतः ही सफ़ल कहा जा सकता है। क्योंकि इस अध्ययन में मूलतः सामग्री-संकलन की पद्धति सदोष थी। ग्रीयर्सन ने एक प्रश्नावली प्रचारित की थी, जिसे गाँव के पटवारियों ने अपनी समझ-बूझ के अनुसार भर भेजा था, तथा प्रौडीगल सन (Prodigal son) की कहानी को स्थानीय बोलियों में अनुवाद के साथ और कुछ अन्य सामग्री भी सरकारी अधिकारियों ने संकलित की थी। निश्चित ही इस प्रकार की सामग्री को किसी वैज्ञानिक तुलनात्मक या विवरणात्मक अध्ययन के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस प्रकार संकलित सामग्री वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से विश्वसनीय नहीं समझी जा सकती। फिर भी इतनी सामग्री संकलित हो गई थी कि जिसके आधार पर भारतीय भाषिक यथार्थ की लगभग सभी प्रमुख विशेषताएँ स्पष्टतः सामने आ जाती हैं। इस सर्वेक्षण को इसीलिए सफल कहा जा सकता है कि वह भारत के सभी भाषा-रूपों या बोलियों की प्रादेशिक सीमाओं का स्पष्ट मानचित्र प्रस्तुत करता है, जिसके अनुसार अब तत्तद्-प्रदेशों की भाषाओं या बोलियों का सविस्तार वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। ऐसी आशा की जा सकती है कि भारतीय बोलियों के अध्ययन तथा बोलियों की प्रामाणिक मानचित्रावली तैयार करने की भारतीय विद्वानों की योजनाएँ, जो अभी नियोजन और चर्चा के स्तर तक पहुँच चुकी हैं, शीघ्र ही क्रियान्वित की जाएँगी।

भारतीय उपमहाद्वीप में प्राप्त अन्य भाषा-परिवारों में से दो अन्य भाषा परिवारों अर्थात् द्रविड़ और मुण्डा परिवारों की भाषाओं का विवेचन भी इस सर्वेक्षण में प्राप्त होता

है। द्रविड़ भाषा परिवार की भाषाओं के बोलने वालों की संख्या लगभग ६ करोड़ है, तथा वह संसार के भाषा-परिवारों में पाँचवाँ या छटवाँ सर्वाधिक बड़ा भाषा-परिवार है। यदि संसार के भाषा-परिवारों में अपने स्थान के अनुरूप द्रविड़ भाषा-परिवार के प्रति संसार के भाषा-वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ होता, तो प्रसन्नता की बात होती। परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा हुआ नहीं है। और जबकि इस परिवार की चार भाषाओं की महान् प्राचीन साहित्यिक परम्पराएँ हैं, यह समझ में नहीं आता कि इस परिवार की भाषाओं का गंभीरतापूर्वक भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन क्यों नहीं हुआ। इसके कारणों का अध्ययन किया जा चुका है तथा इस उपेक्षा के परिणामों पर अमरीकी दार्शनिक सभा (American Philosophical Socity) में पठित एक दूसरे लेख में विचार किया जा चुका है।[३१] अतः इस विषय में यहाँ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु बिशप रोबर्ट कॉल्डवेल (Bishop Robert caldwel) के द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण (A Comprative grammer of the Dravidian Language) निश्चित ही काफी पहले लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं, जो सन् १८५८ में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि इसे अब प्रकाशित हुए एक शताब्दी से भी अधिक समय हो गया है, परन्तु इस बीच इस परिवार की भाषाओं के कुछ ही अच्छे विवरणात्मक या तुलनात्मक अध्ययन हुए हैं। हाँ, तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में स्व० ल० व० रामस्वामी ऐयर के योगदान का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विवरणात्मक अध्ययन, यद्यपि बीस से भी अधिक हो चुके हैं (देखिए पाद-टिप्पणी, ३६), परन्तु उनमें से कुछ ही को आधुनिक या पाणिनीय स्तर से मान्य कहा जा सकता है।[३२] द्रविड़ भाषाओं के अब तक प्रकाशित विवरणों के गुणात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ न होने के कारण इस परिवार की भाषाओं के अच्छे तुलनात्मक अध्ययन भी संभव नहीं हो सके हैं। सन् १९४६ में जूतिस ब्लॉक ने अपने द्रविड़ भाषाओं की व्याकरणिक संरचना पर (Structure Grammeticals des Langues Dravidians)[३३] नामक ग्रंथ में द्रविड़ भाषाओं की मात्र रूपिम-संरचना (Morphological structure) की तुलना से आगे भी कुछ कार्य किया है। परन्तु ध्वनि-व्यवस्था के तुलनात्मक अध्ययन के लिये आवश्यक सामग्री के अभाव के कारण उन्होंने उसका प्रयास नहीं किया और इस बात के लिये खेद प्रकट किया है कि इस परिवार की भाषाओं का तुलनात्मक शब्द-कोश ((Vocabulaire comparatif) अभी तक तैयार नहीं हुआ है। हाँ, इन भाषाओं का एक व्युत्पत्यात्मक-शब्दकोश (Etymological dictionary) के तैयार होने की संभावना है जिसका कार्य ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के टी० बरो (T. Burrow) और मैंने प्रारम्भ कर दिया है। इस बीच में द्रविड़ भाषाओं से संस्कृत में आये शब्दों का अच्छा अध्ययन हुआ है[३४] और संस्कृत के व्युत्पत्यात्मक शब्द-कोशों में इसे संस्कृत शब्दों के एक स्रोत के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है। यह कार्य अभी कुछ ही समय से प्रारंभ हुआ है, आशा है शीघ्र ही यह कार्य पूरा हो जाएगा तथा वह अब तक प्रयोग में लाए जा रहे अनुपयुक्त कोशों का स्थान ले लेगा।[३५]

यद्यपि 'भारत का भाषा सर्वेक्षण' का चौथा खंड पूर्णतः द्रविड़ तथा मुण्डा भाषाओं पर है। परन्तु सर्वेक्षण का कार्य मद्रास, हैदराबाद तथा मैसूर राज्यों में संभव नहीं हुआ था, परिणामतः द्रविड़-भाषा-भाषी-प्रदेश के एक विशाल भू-भाग में प्रयुक्त बोलियों का मान-चित्र

तैयार नहीं हो सका था। साथ ही इसकी सामग्री और उसके संकलन की प्रविधि ऐसी गड़बड़ थी कि मध्य-भारत की अनेक द्रविड़ भाषाएँ बिल्कुल अज्ञात रह गई थीं। ऐसी तीन भाषाओं, जिनके नाम भी पहले अज्ञात थे, का पता टी० बरो तथा एस० भट्टाचार्य ने सन् १९५०–५१ में अपनी शोध-यात्राओं के दौरान लगाया था, और ऐसी संभावना है कि ऐसी ही दूसरी कुछ भाषाएँ अब भी प्रकाश में आ सकती हैं।[३६]

मुण्डा परिवार की भाषाओं के अध्ययन के विषय में विशेष कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि या तो सर्वेक्षण में उनका केवल नामोल्लेख है, या उनका अस्पष्ट-विवरण हुआ है। निश्चित ही, सभी मुण्डा बोलियों की प्रादेशिक सीमाओं के निर्धारण में सर्वेक्षण असफल रहा है। मुण्डा-परिवार की भाषाओं का अब तक ऐसा कोई भी तुलनात्मक अध्ययन नहीं है जो किसी भी भली-भाँति विवेचित भाषा-परिवार की भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के विद्यार्थी को संतुष्ट कर सके। वैसे भी मुण्डा भाषाओं का संबन्ध बृहत्तर भारत अथवा दक्षिण पूर्व एशिया के आग्नेय-भाषा-परिवार की किसी भाषा के साथ स्थापित करने के प्रयास तथा मलेशिया आदि में प्राप्त महान् आग्नेय-भाषा-परिवार की भाषाओं के साथ उन्हें रखने का विचार, अब तक मुझे मात्र अनुमान पर आधारित प्रतीत होता है। यह अनुमान अंततः सत्य भी सिद्ध हो सकता है। परन्तु यह तभी संभव है कि जबकि वैज्ञानिक विवरणों के आधार पर पहले मूल मुण्डा-भाषा की परिकल्पना करली जाए।[३७]

बुरुशस्की, खासी, उत्तरी-पूर्वी-सीमांत की भोट-बर्मी (Tibeto-Burmes) भाषाएँ पश्चिमी सीमान्त की ईरानी भाषाएँ और ऐसी अन्य भारतीय भाषाओं के विषय में मौन रहना ही अच्छा होगा। क्योंकि आधुनिक अर्थ में इन भाषाओं का भाषा वैज्ञानिक विवरण हुआ ही नहीं है, तथा कुछ ईरानी भाषाओं को छोड़कर अन्य किसी भाषा का कोई तुलनात्मक अध्ययन भी नहीं हुआ है।[३८]

सम्प्रति भारतीय भाषा वैज्ञानिकों द्वारा इस प्रकार की योजनाएँ तैयार की जा रही हैं कि जिनसे भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन तथा भारतीय भाषा विज्ञान का विकास हो। आशा है इन प्रयासों के परिणामस्वरूप भारतीय भाषिक मानचित्र के रिक्त स्थानों की पूर्ति हो जाएगी।

भारतीय-भाषा-विज्ञान के अध्ययन की अनेक व्यापक समस्याएँ हैं, उनकी ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए। जैसे मुण्डा-सहित आग्नेय-भाषा-परिवार की कल्पना बहुत अधिक पुष्ट प्रमाणों पर आधारित न होने के कारण स्वीकार्य प्रतीत नहीं होती। फिर भी यही एक दिशा है, जिस ओर समस्या के निदान के लिये देखा जा सकता है। विशेषकर इसलिए कि पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ भारत के विविध प्रकार के सम्बन्ध हजारों वर्ष प्राचीन हैं, तथा इन संबंधों के प्रभाव-चिह्न भारत की भाषाओं में अवश्य मिलने चाहिए। इस दिशा में विशेष शोध-कार्य की आवश्यकता है। विस्तारभय के कारण विषय को यहीं छोड़ा जा सकता है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक पाश्चात्य भाषा-विज्ञान के प्रभातकाल में प्रकाश की प्रथम रश्मि भारत से आई थी तथा अब भारत में भाषा-वैज्ञानिक अध्ययनों में विद्वानों की अभिरुचि के विस्तार एवं विकास के परिणामस्वरूप पुनः भारत से नवीन

प्रकाश प्रपात के सुआगमन की आशा की जा सकती है।

संदर्भ

१. मूलतः प्रस्तुतः लेख कैलीफोर्नियाँ विश्वविद्यालय, सं० रा० अमेरिका के संस्कृत एवं भाषा-विज्ञान के प्राचार्य प्रो. एम. वी. ऐमेन्यू के एक भाषण का प्रकाशित रूप है। जो उन्होंने तोरेंतों कैनेडा में २० अप्रैल, १९५५ को एक सम्मेलन में अध्यक्ष पद से दिया था। मूलतः अंग्रेजी में लिखित इस लेख का छायानुवाद कुछ सम्पादन के साथ यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

२. इस समूचे लेख में 'भारत' से तात्पर्य भारतीय उपमहाद्वीप से है तथा 'भारतीय', एवं 'हिन्दू' शब्द लगभग पर्यायवाची हैं, तथा 'प्राचीन भारतीय या हिन्दू' के वाची हैं। इस दृष्टि से भारत और पाकिस्तान रूपी दो पृथक् राजनैतिक इकाइयों में कोई अन्तर नहीं। विद्वान् मानते हैं, कि पाणिनि का जन्म आज के पाकिस्तान में ही कहीं हुआ होगा तथा वहीं कहीं वह रहा होगा।

३. इसके लिए तथा एतद् विषयक अन्य प्रमाणों के लिये द्रष्टव्य है M. Winternitz, A History of Indian Literature Vol, I (1927) P. 285.
और वैदिक परम्परा के व्याकरण विपयक साहित्य के विषय में द्रष्टव्य है वही पृ. २८२-२८९।

४. संभवतः पाणिनि का समय ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी के पूर्व तथा चौथी शताब्दी के पश्चात् का नहीं हो सकता। फ्रेंकलिन ऐडगर्टन का मत-द्रष्टव्य है—Word Study Vol, XXVII (1952) No. 3, p 3) कुछ विद्वान् इसे ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी मानते हैं। द्रष्टव्य हैं—M. Winternitz. वही पृ. ४२ तथा अन्य कुछ विद्वानों ने इसे उसी शताब्दी के मध्य भाग को पाणिनि का समय माना है। द्रष्टव्य है :—V. S. Agrawal India-as Known to Panini. University of Lucknow 1953, P. 475-

५. M. Winternitx —वही पृ. २८९।

६, Leonard Bloomfield, Language Vol. V (1929), PP. 268 I, JAOS Vol. XLVII (1927), PP. 66 f.

७. भारतीय नृत्य-मुद्रा विपयक एक पुस्तक की समीक्षा में मैंने इसे ही आंशिक रूप से कहा है। देखिए JAOS, Vol. LXII (1942 P, 149.

८. तुलनीय है W. S. Allen, Phonetics in Ancient India. (London Oriental Series Vol. I. Oxford University Press. 1953); P. 13 and f, n. 4, with bibliography.

९. Charles F. Hockett, "Two models of grammatical Description", word Vol. X (1954) PP. 210-234

१०. गार्ग्य-शाकटायन के भिन्न अभिमतों की चर्चा 'यास्क' के 'निरुक्त' I. १२ में प्राप्त होती है। वैदिक निरुक्ताचार्य यास्क ने शाकटायन के मत के साथ अपनी सहमति प्रदर्शित की है। संभवतः पाणिनि-सम्प्रदाय ने भी इसलिए यह मत स्वीकार कर लिया होगा। यहाँ प्रयुक्त विवरणात्मक पद्धति को कुछ विद्वानों ने ऐतिहासिक-व्युत्पत्ति के रूप में समझा है, जो ठीक नहीं है। इस प्रकार के कथनों के लिये द्रष्टव्य है :—Lakshman Sarup, The Nighantu and Nirukta-Vol. 2 (1921) P, 13, fn. 6

११. Leonard Bloomfield, Language (1933) P. 240 E. A. Nida, Morphology: The Descriptive Analysis of words (2nd Ed. 1949) P. 6

१२. Asiatick Researches, Vol. I(1788, PP. 422 f. सन् १७८५, में अपने दीर्घ-अवकाश के समय पर विलियम जोन्स ने संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया था। Lord Teignmouth ने The works of Sir William Jones (13 Vols. London 1807) Vol. II. P. 29 fn. में उनके एक हस्तलिखित कार्ड का उल्लेख किया है, जिसमें दीर्घ-अवकाश के प्रातःकाल का समय संस्कृत अध्ययन के लिये लिखा हुआ है। १७ सितम्बर १७८५ को उन्होंने चार्ल्स विल्किन्स को एक पत्र में लिखा था–'मुझे एक वृद्ध वैद्य मिल गया है. जो व्याकरण के विषय में जो वह जानता है मुझे सिखाता है। (JAOS Vol. X (1880), P. 115) ; २७ जुलाई १७८५ के एक पत्र में उन्होंने लिखा है जैसे कि अब तक उन्हें संस्कृत बिल्कुल नहीं आती थी, तथा देवनागरी लिपि से भी वे परिचित नहीं थे (तुलनीय है वही, पृ. ११४) अब तक प्रकाशित पत्रों के आधार पर निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता कि जोन्स ने संस्कृत का अध्ययन कैसे किया। संभवतः लॉर्ड आल-थोर्प को लिखे तथा अब तक अप्रकाशित पत्रों में इस प्रकार की कुछ सूचना मिल सकती है, जो अर्ल स्पेंसर के संग्रह में सुरक्षित है, तथा जिनका अध्ययन ए. जे. आरबेरी ने किया है। (BSOAS), Vol, XI (1943-46) P. 673)

परन्तु इतना निश्चित है कि जोन्स अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक संस्कृत का अध्ययन करते रहे थे (JAOS, Vol. LXVI (1946), P. 236).

प्रकाशित एवं उपलब्ध दस्तावेजों के आधार पर जोन्स के संस्कृत अध्ययन की प्रविधि तथा प्रगति के विषय में विशेष कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु २८ सितम्बर १७८७ को लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा है कि अब वे हितोपदेश पढ़ रहे हैं तथा अपने पंडित के साथ सतत संस्कृत में वार्तालाप करते हैं। जोन्स् ने औपचारिक रूप से संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया था, इसका प्रमाण मिलता है, 'The Work of Sir William Jones' के खंड XIII में (पृ. ३९९-४२६) सर विलियम जोन्स तथा श्रीमती जोन्स द्वारा रॉयल सुसायटी को प्रदत्त 'संस्कृत तथा अन्य प्राच्य हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में पृ. ४१२ पर ह. लि. ग्रंथ संख्या ४१ पर सिद्धांत कौमुदी (अपूर्ण) का उल्लेख है' जिस पर स्वयं जोन्स ने लिखा है, "इस व्याकरण का ध्यानपूर्वक अध्ययन मैंने १८ अगस्त, १७९२ में पूरा किया।" अन्य जिन हस्त-लिखित ग्रन्थों का उल्लेख है, वे हैं, दुर्गादास कृत मुग्धबोध टीका, सरस्वती-व्याकरण (अर्थात् सारस्वत प्रक्रिया), सारावली, (संभवतः नारायण बंद्योपाध्याय कृत) अमर-कोश, मेदिनी कोश, विश्व प्रकाश, तथा जोन्स् के लिये काशीनाथ शर्मन द्वारा संकलित 'शब्द संदर्भ सिंधु। ये हस्त-लिखित ग्रन्थ Theodor Aufrecht, के Catalogus Catalogorum, Part I. (Leipzig, 1891), P. III. में उल्लिखित हैं तथा इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

१३. तुलनीय हैं : Holger Pederson, Linguistic Sciences in the Nineteenth Century (Tr. spargo, Cambridge, Mass. 1931) साथ ही William Dwight, Whitney, Language and the study of language (1874, V Ed) P. 227 AJP, Vol V (1884) P. 279.

१४. तुलनीय Leonard Bloomfield, Language P. 12, तथा John Brough, T PS, 1951 P- 27-

१५. Hockett- पूर्वोल्लिखित (पाद-टिप्पणी ६) पृ० २१० संस्कृत व्याकरण को 'शब्द तथा रूपावली' परक आदर्श के अनुरूप कहना हॉकेट की भूल है।

१६. इस प्रकार का कुछ विश्लेषण ह्विटनी ने किया है। देखिए : Whitney, Language and the study of Language : P, 254.

१७. Asiatick Researches Vol. I (1788) P. I-56 ६ मई १७८६ में सर जे० मैकफरसन को लिखे पत्र में इस अध्ययन को प्रेस में दिये जाने का उल्लेख है।

१८. विशेष रूप में उल्लेखनीय है-- J. R. Firth "The English School of Phonetics" TPS, 1946 PP. 118 ff. W. S. Allen, Phonetics Ancient India PP. 3-4 देखिए पूर्वोक्त पाद टिप्पणी --८ अन्तिम पुस्तक ह्विटनी द्वारा प्रकाशित अथर्ववेद प्रातिशाख्य JAOS Vol. VII (1862) pp. 333-616) तथा तैत्तरीय प्रातिशाख्य JAOS, Vol. IX. (1871) pp. 1-469) के संस्करणों के मूल्यांकन की दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

१९. Dil Sprache der Jakuton (A. Th. Von Middendorff, Reise in den aussersten Norden Und Osten Siberiens Ed. iii.st. Petersburg. Kais. AK. d. Wissen. 1851). बोर्तलिक ने पाणिनि के व्याकरण का प्रथम संस्करण सन् १८३९-४० में प्रकाशित किया था तथा दूसरा सन् १८८७ में।

२०. ब्लूमफील्ड सामान्यत: यह कहा करते थे कि 'पाणिनि का व्याकरण' उनकी उन पुस्तकों में थी जिन्हें वे विश्राम के क्षणों में सदैव पढ़ा करते थे। इस विषय में मैं विशेष रूप से और कुछ भी नहीं कह सकता। परन्तु पाणिनि की उनकी व्याख्या की दृष्टि से निम्नलिखित लेख देखा जा सकता है:— "On Some Rules of Panini," JAOS, Vol. XLVII (1927) pp. 61-70.

२१. Viking Fund Publications in Anthropology, 6; New York (1946) pp. 85-129

२२. यह उल्लेखनीय है कि ऐलेन अपनी पुस्तक में पाणिनि को आधुनिक स्वनिम-वैज्ञानिकों के साथ रखा, जिनसे उनका आशय मुख्यत: अमरीकी स्वनिम-वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

२३. देखिए पाद-टिप्पणी —९ और Floyd G. Lounsbury, Oneida Verb Marphology, (yale University publications in Anthropology, No. 48; New Haven, Conn., 1953) pp. 11-17.

२४. इसी उद्देश्य से मैंने Sanskrit Sandhi and Exercises नामक पुस्तिका प्रकाशित की थी (University of California Press. 1952) इस पुस्तिका के पूर्वार्द्ध के लिये मैंने लियोनार्ड ब्लूमफील्ड के योगदान को भूमिका में स्वीकृत किया है। (P 1-2) इसी दृष्टि से रेनो के पाणिनि व्याकरण के अनुवाद पर लिखी मेरी समीक्षा भी दृष्टव्य है। JAOS Vol. LXXIII(1958 pp. 188-90)

२५. W. S. Allen की पूर्वोक्त पुस्तक-पाद-टिप्पणी -८

२६. प्रारंभिक अध्ययन के लिये निम्नलिखित लेखों को लिया जा सकता है : John Brough, "Audumbarayana's theory of Language." BSOAS, Vol. XIV(1952) p. 73-77 'Theories of general linguistics in Sanakrit Grammarians." TPS. 1951. pp. 27-46.

२७. V. S. Sukthanker Memorial Edition Vol. II (1945) pp. 386-399 पुन:मुद्रित

२८. Sample Bibliography : R. Pischal, Grammatik der Prakrit-Sprachen (Grundsiss der Indo-Arichea Philologie und Altertunskunde 1:8; Strassburg, 1900) Corpus Inscriptionm Indicarum Vol. I. E. Hultzsch, Incrsptions of Ashoka (Oxford, 2nd Ed; 1925) Vol. II Part I Sten konow, Kharoshthi Inscriptions (Oxford, 1929) Franklin Edgerton, Buddhist Hybrid Sanskrit; Grammar and Dictionary, 2 Vols. (New Heven, Conn, 1953)

२९. Jules Block,L Indo-Aryan du Vedi aux temps temps modernes,(Paris 1934); Mara the Id; La formation de la langue (Bioliotheue de I Ecole des hautes etudes. P 215; Paris, 1915); Suniti Kumar Chatterji, The origin and Development of the Bengali Language, (Calcutta, 1926); (Sir) Ralph Lilley Turner, A Comparative and Etymological Dictionary of the Nepali London (London, 1931)

३०. 11. Vols. in 20 Parts, (Calcutta,(1903-28)

३१. Linguistic Prehistory of India. P A P S. Vol. XCVII (1954) PP. 282-92

३२. असाहित्यिक भाषाओं के जो व्याकरण लिखे गये हैं उनमें निम्नलिखित को आधुनिक दृष्टि से उल्लेखनीय समझा जा सकता है।

—Sir Denys Bray, The Brahui Language (Calcutta, 1909, Delhi; 1934);

—A Grignard, A Grammar of the Oraon Language, (Calcutta, 1924).

—W, W. Winfield. A Grammer of the Kui language (Bibliotheca, India, No. 245; Calcutta, 1928)

—M. B. Emeneau, Kolami, A Dravidian Language (University of California Publication in Linguistics, Vol. 12, Berkeley, 1955)

३३. Publications du Musee Guimet, Bibliotheque detudes, 56, Paris, 1946

३४. पाद-टिप्पणी ३१ में उल्लिखित लेख द्रष्टव्य है।

३५. Manfred Mayrhofer, Kurzgefasstes etymologisches, Worterbuch des Altindiscen, (Indoger-menisohe Bibliothak, herausg. V. Hans Krache; Heidelberg, 1953) C. C. Uhlenback, Kurzgefasstes etymologisches worterbuck der altindischen sprache. (Amsterdam, 1898/9)

३६. T. Burrow and S. Bhattacharya, The Parji Language (Hertford, Steppen Austin, 1953) P- IX में ओल्लारी, पोया और कोण्डा भाषाओं का उल्लेख है।

३७. पाद-टिप्पणी ३१ में उल्लिखित लेख द्रष्टव्य है।

३८. यद्यपि बुरुशास्की की भाषा को किसी अन्य भाषा के साथ जोड़ सकने के प्रयास सफल नहीं हुए हैं, फिर भी निम्नलिखित पुस्तक में उसका अच्छा विवेचन मिलता है।

D. L. R. Lorimer, the Burashak Language, 3 Vols., Oslo, 1935-P·)

□ □ □

३

शब्द-विचार-भारतीय दृष्टिकोण

शब्द या वर्ड (word) समान रूप से भारतीय एवं पाश्चात्य भाषा-चिन्तन या पारम्परिक व्याकरणों की एक अत्यन्त मूलभूत एवं महत्त्वपूर्ण भाषिक संकलपना है। आधुनिक भाषा-विज्ञान यद्यपि शब्द को एक सार्वत्रिक (Universal) व्याकरणिक इकाई या रूप (grammatical Unit or form) के रूप में स्वीकार करता है, परन्तु भाषा-विश्लेषण में 'वाक्य' रुपिम (Morpheme) और स्वनिम (Phoneme) को ही प्रधानता देता है तथा शब्द के अध्ययन के लिये एक भिन्न शास्त्र की ओर इंगित करता है। परिणामस्वरूप आधुनिक भाषा-विज्ञान में 'शब्द' का वैसा महत्त्व नहीं है, जैसा पाश्चात्य एवं भारतीय पारम्परिक भाषा-अध्ययन या व्याकरणशास्त्र में रहा है।[1]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य पारम्परिक व्याकरण जिस प्रकार और जिस अर्थ में 'शब्द' को भाषा की संरचनात्मक इकाई (Structural Unit) मानकर चलता है,[2] उस प्रकार और उस अर्थ में 'शब्द' प्राचीन भारतीय वैयाकरणों को स्वीकार्य प्रतीत नहीं होता, यद्यपि आज हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में 'शब्द' के लिये अंग्रेज़ी शब्द वर्ड (word) को ही सामान्यतः प्रयुक्त किया जाता है और इन दोनों शब्दों के मूल में वर्तमान सैद्धान्तिक या तात्त्विक अन्तर को भुला दिया जाता है। यद्यपि संस्कृत व्याकरण में भाषा का संपूर्ण विश्लेषण और वर्णन वर्ण, पद और वाक्य के रूप में ही हुआ है किन्तु सम्पूर्ण भाषा-विवरण को व्याकरण के साथ-साथ शब्दानुशासन और शब्दोपदेश भी कहा गया है। निश्चित ही यहाँ शब्द का अर्थ वर्ड (word) नहीं हो सकता। पतंजलि ने अपने महाभाष्य के प्रारंभ में व्याकरण को 'शब्दानुशासन' कह कर 'शब्द' के उदाहरण के रूप में एक ओर जहाँ लौकिक संस्कृत से स्फुट 'शब्द' अर्थात् word या अपद 'शब्द' उद्धृत किये हैं, वहीं वैदिक संस्कृत से पूरे वाक्य उद्धृत किये हैं।[3] अन्यत्र भी उन्होंने 'शब्द' की जो अनेक परिभाषाएँ दी हैं उनसे भी यही लगता है कि उनके अनुसार किसी भी सार्थक उक्ति को 'शब्द कहा जा सकता है, जो आधुनिक अर्थ में वाक्य भी हो सकता है और मात्र शब्द भी। आशय यह कि भारतीय व्याकरणिक परम्परा में 'शब्द' अपेक्षाकृत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ हैं। अतः उसे अंग्रेज़ी शब्द वर्ड (word) का पर्याय नहीं माना जा सकता।

भारतीय चिन्तन-परम्परा में 'शब्द'—वस्तुतः मात्र व्याकरणशास्त्र का ही प्रधान विषय नहीं है, अपितु वह काव्यशास्त्र, दर्शन-शास्त्र एवं आध्यात्म का भी एक महत्त्वपूर्ण विवेच्य विषय है। भारतीय काव्यशास्त्र तो आधुनिक शैली-विज्ञान के समान, व्याकरण या भाषा-

विज्ञान पर आधारित है ही, वैयाकरणों का अपना एक स्वकीय तत्त्व-दर्शन (Metaphysics) भी है, तथा उससे सम्बद्ध एक आध्यात्मिक साधना-पद्धति भी है। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परा में 'शब्द' का विवेचन अनेक स्तरों पर हुआ है और इसीलिए यूरोप में ही नहीं, अन्यत्र भी कहीं, किसी देश की समूची चिन्तन-परम्परा तथा संस्कृति को 'शब्द' की इस प्रकार की व्यापक एवं तात्त्विक संकल्पना ने इतना अधिक प्रभावित नहीं किया, जितना यह भारत में संभव हुआ है। वैसे समाजशास्त्र एवं नृतत्व-विज्ञान के विद्वानों ने 'शब्द' (word) का एक जादुई महत्त्व संसार की अनेक आदिम संस्कृतियों में प्रमाणित किया है तथा संसार के सभी धर्मों में मन्त्र जैसे किसी न किसी जाप्य 'शब्द' या समूह को सामान्यतः स्वीकार किया हैं। ग्रीक और लेटिन के काव्य-शास्त्रियों ने भी शब्द-विषयक कुछ स्फुट विचार किये हैं, परन्तु शास्त्रीय स्तर पर शब्द की चर्चा अन्यत्र सर्वत्र प्रधानतः व्याकरण या भाषा-विज्ञान के सन्दर्भ में ही हुई है। भारत में शब्द-विवेचन की व्याप्ति अनेक शास्त्रों तथा संस्कृति के अनेक ललित रूपों में समान रूप से दृष्टिगोचर होती है।

पाश्चात्य-चिन्तन में प्राचीनकाल से 'शब्द' (word) व्याकरण-शास्त्र तथा कोश-विज्ञान का प्रधान विषय रहा है, तथा उसी को प्रधान आधार मानकर वहाँ व्याकरण एवं कोश-ग्रन्थों की रचना भी हुई है।[४] वस्तुतः पाश्चात्य व्याकरणिक परम्परा में शब्द एक ऐसी भाषिक इकाई है जो रूप-विज्ञान (Morphology) वाक्य-विज्ञान (syntan) तथा कोशविज्ञान (Lescicography) के अध्ययन तथा उनके परस्पर अन्तर का प्रमुख आधार है।[५] क्योंकि जहाँ 'शब्द' की आतरिक संरचना (Internal Structure) का अध्ययन रूप-विज्ञान करता है, वहीं इन इकाइयों की वाक्य के रूप में समन्वितियों के नियमों की व्याख्या' वाक्य-विज्ञान करता है। इसी प्रकार शब्द के अर्थ का विवेचन कोशकारिता का प्रधान क्षेत्र रहा है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पारम्परिक यूरोपीय व्याकरण में सामान्यतः भाषा की मौलिक इकाई के रूप में तो 'वाक्य' को ही स्वीकार किया गया है, तथा शब्द को उसी के एक घटक के रूप में विवेचित किया गया है,[६] परन्तु पारम्परिक व्याकरण ग्रन्थ, सामान्यतः शब्द-विवेचन की सीमा से आगे नहीं जाते, और मुख्यतः शब्द-भेदों (Parts of speech) उनकी व्युत्पत्ति (Derivation) और रूपसिद्धि (Inflexion) आदि की चर्चा ही करते हैं।[७] इसीलिए आधुनिककाल में भाषा, वैज्ञानिकों ने उन्हें एकांगी और सदोष बताया है, क्योंकि वह भाषा विवरण की 'शब्द और रूपावली' (word and paradigm) पद्धति के अनुसार भाषा का सीमित वर्णन करता है और शब्द के अतिरिक्त भाषा की संरचना के अन्य स्तरों, जैसे, वाक्य, उपवाक्य, पदबंध, मूल-प्रकृति, प्रत्यय और स्वनिम का विवेचन नहीं करता।[८] आशय यह कि प्राचीन यूरोपीय-भाषा-चिन्तन में-'शब्द' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संकल्पना है और उसी का सर्वाधिक विवेचन हुआ है। साथ ही विविध भाषाओं के कोश तथा व्याकरण ग्रन्थों के लेखन में भी मुख्यरूप से उसी का आधार स्वीकार किया गया है, फिर भी प्राचीन भारतीय भाषा-चिन्तन की तुलना में उसे अधिक व्यापक तथा तात्त्विक नहीं कहा जा सकता।

आधुनिक भाषा-विज्ञान प्राचीन पाश्चात्य परंपरा के समान अब भाषा को समन्वित-शब्द-समूह या शब्द-संहिता मात्र नहीं मानता और जैसे प्राचीन भारतीय परंपरा में वर्ण, पद, वाक्य और शब्दार्थ के रूप में भाषा का विवरण प्रस्तुत करता है उसी प्रकार भाषा का

स्वरूपाख्यान, वह स्वनिम (Phoneme) रूपिम (Morpheme) वाक्य (Sentence) तथा अर्थ की सांरचनिक इकाइयों के अन्वेषण तथा उनके परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या के द्वारा करता है।[९] परन्तु व्याकरणिक विश्लेषण के लिये सिद्धान्ततः शब्द को एक स्वरूपात्मक इकाई के रूप में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी आधुनिक भाषा वैज्ञानिक मानते हैं और उसकी स्थिति रूपिम और पद-बन्ध (Phrase) के बीच में स्वीकार करते हैं।[१०] साथ ही पाश्चात्य पारम्परिक व्याकरण शास्त्र के समान अब भी शब्द को वाक्य के एक घटक के रूप में स्वीकार करते हैं, यद्यपि शब्द कोई ऐसी सर्वसम्मत सार्वत्रिक परिभाषा आधुनिक भाषा-विज्ञान नहीं दे सका है जो सभी भाषाओं पर समान रूप से चरितार्थ होती हो। आशय यह कि आधुनिक भाषा-विज्ञान में शब्द, को मूलतः एक व्याकरणिक रूप ही माना जाता है तथा उसकी परिभाषा व्याकरणिक स्तर पर ही देने के विशेष प्रयास हुए हैं।

आधुनिक भाषा-विज्ञान के अनुसार शब्द की प्रतीति स्वनिमात्मक (Phonological) और/या वार्तनिक (Orthographical) स्तरों पर क्रमशः सम्भाव्य विरामों (Potential Pouses) और/या अवकाशों (Spaces) के आधार पर होती है।[११] क्योंकि विभिन्न भाषाओं में शब्दों की अपनी विशिष्ट स्वनिम या अक्षर-संरचनाएँ होती हैं, अतः उनके आधार पर भी शब्द की स्वरूपात्मक परिभाषाएँ दी जा सकती हैं। आशय यह कि उच्चरित शब्दों के बीच में सदा विरामों (मौन) की सम्भावना रहती है तथा वक्ता चाहे आदिम जाति का ऐसा व्यक्ति ही क्यों न हो जो भाषाओं के लिखे जाने के विषय में कुछ भी न जानता हो, फिर भी वह अपने वाक्-प्रवाह को सहज ही शब्दों में विश्लेषित कर सकता है। अतः कुछ विद्वानों के अनुसार स्वनिमात्मक दृष्टि से भी शब्द, भाषा की एक स्वरूपात्मक इकाई है जिसकी परिभाषा विराम जैसे स्वनिमात्मक उप-लक्षणों और शब्द की आन्तरिक विशिष्ट स्वनिम या अक्षर-संरचना (Phonemic or syllabic structure)के आधार पर दी जा सकती है।[१२] इसी प्रकार लिखित रूप में भी शब्दों के बीच में अवकाश रहता है जो सम्भाव्य विरामों का ही प्रतिनिधित्व करता है तथा वार्तनिक आधारों पर शब्द को परिभाषित करने में उपकारक सिद्ध होता है।[१३]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत-परंपरा में 'शब्द' को भाषा की इकाई नहीं माना जाता, अतः संस्कृत-लेखन-व्यवस्था के अनुसार वाक्य में शब्द अलग से नहीं लिखा जाता। यद्यपि आधुनिक काल में संस्कृत भाषा के लेखन तथा मुद्रण में कभी-कभी शब्दों के बीच में भी अवकाश मिलता है, परन्तु उसकी पारम्परिक लेखन-व्यवस्था में 'शब्द' वाक्य का, उस अर्थ से घटक नहीं है' जिस अर्थ में उसे पाश्चात्य पारम्परिक व्याकरण या आधुनिक भाषा-विज्ञान स्वीकार्य करता है। भारतीय दृष्टि में वाक्य या संहिता ही भाषा की मूलभूत इकाई है और उसे ही एक इकाई के रूप में लिया जाता है चाहे वाक्य कितना ही लम्बा क्यों न हो।[१४] संस्कृत-लेखन-व्यवस्था के अनुसार संस्कृत-भाषा स्वनिम व्यवस्था से सीधे लेखिम व्यवस्था में रूपान्तरित होती है तथा उसमें व्याकरणिक या अन्य किसी भाषिक या लेखन संबंधी रूढ़ि के कारण किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं आता। इसीलिये संस्कृत की पारम्परिक लेखन-व्यवस्था के अनुसार दो वाक्यों के बीच में जो अवकाश या विराम-चिह्न लिखे जाते हैं परन्तु वाक्य में और शब्दों के बीच में नहीं, जैसाकि आधुनिक भारतीय

भाषाओं की लेखन व्यवस्था में, पाश्चात्य प्रभाव के कारण, दृष्टिगोचर होता है। पाणिनि के सूत्र "परःसन्निकर्षः संहिता" में 'संहिता' का अर्थ वाक्य प्रतीत होता है तथा उसके अनुसार वाक्य में आये शब्दों में नियमानुसार संधि हो जाती है। [१५] इसीलिए उन्हें मिलाकर ही लिखा जाता है। परन्तु दो वाक्यों में संधि नहीं होती, उन्हें विराम-चिह्नों द्वारा अलग-अलग ही लिखा जाता है। वस्तुतः संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार शब्द का शब्दरूप में वाक्य में (भाषा में) प्रयोग नहीं किया जा सकता, वह 'पद' बनकर ही वाक्य में प्रयोगार्थ होता है। [१६] अतः पाश्चात्य दृष्टि से स्वनिमात्मक और या वार्तनिक आधारों पर शब्द की जो परिभाषाएँ दी जाती हैं, उन्हें संस्कृत व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से शब्द की परिभाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आधुनिक भाषा-विज्ञान सम्भाव्य विरामों और शब्द की आंतरिक स्वनिम संरचना आदि के आधारों पर परिभाषित स्वनिमात्मक शब्द (Phonologicalword) के समान दो अवकाशों के मध्यवर्ती लेखिम-समूह (Group of letters) के रूप में वार्तनिक शब्द (Orthographicalword) को भी स्वीकार करता है, किन्तु जैसाकि पहले लिखा जा चुका है, शब्द मूलतः एक व्याकरणिक संकल्पना के रूप में ही स्वीकार्य है, इसीलिए आधुनिक भाषा-विज्ञान में शब्द की परिभाषा व्याकरणिक आधारों पर ही विशेष रूप से दी जाती है, तथा विशुद्ध व्याकरणिक मानदण्डों पर परिभाषित शब्द को, उसके उक्त रूपों से विभेद करने हेतु, व्याकरणिक शब्द (Grammaticalword) कहा जाता है। [१७] इस प्रकार आधुनिक भाषाविज्ञान शब्द को तीन रूपों में स्वीकार करता है। (१) स्वनिमात्मक शब्द, (२) वार्तनिक शब्द (लिखित भाषाओं के ही सन्दर्भ में) (३) व्याकरणिक शब्द। उदाहरणार्थ, स्वनिमात्मक शब्द (Ba: lak) का वार्तनिक रूप (बालक) है, जो एक विशिष्ट व्याकरणिक शब्द, अर्थात् पुंलिंग एकवचन संज्ञा का प्रतिनिधित्व करता है। शब्द के इन तीनों रूपों में सामान्यतः समान सह-संबन्ध नहीं होता, तथा संसार की विभिन्न भाषाओं में यह सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार का मिलता है, फिर भी भाषा-विश्लेषण की दृष्टि से स्वनिमविज्ञान (और वार्तनिकी) तथा व्याकरणशास्त्र के आधारों पर शब्द का स्वरूपाख्यान किया जाता है। [१८] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शब्द की परिभाषा के स्वनिमात्मक एवं व्याकरणिक मानदण्ड परस्पर स्वतंत्र और भिन्न माने जाते हैं, परन्तु व्याकरणिक मानदण्डों को ही शब्द की परिभाषा में अधिक मूलभूत माना जाता है और सामान्यतः भाषाओं के शब्दों का स्वरूपाख्यान व्याकरणिक आधारों पर ही किया जाता है। [१९]

व्याकरणिक दृष्टि से सम्प्रति लिओनार्ड ब्लूमफ़ील्ड द्वारा दी गई शब्द की परिभाषा अधिक प्रामाणिक मानी जाती है तथा ऐसा माना जाता है कि उसके आधार पर संसार की अधिकांश भाषाओं के अधिकांश शब्दों को पहचाना जा सकता है और उनका स्वरूपाख्यान वस्तुपरक दृष्टि से किया जा सकता है। [२०] इसीलिए आधुनिक भाषा-विज्ञान में ब्लूमफ़ील्ड द्वारा दी गई शब्द की परिभाषा को सामान्यतः एक सार्वत्रिक, वस्तुपरक एवं व्याकरणिक परिभाषा के रूप में स्वीकार किया जाता है। उनके अनुसार 'शब्द भाषा का वह "लघुतम मुक्त-रूप" (minimum free form) है, जो पदबंध नहीं है। [२१] अर्थात् 'शब्द' भाषा का लघुतम रूप है जो किसी सामान्य भाषिक स्थिति में एक पूर्ण उक्ति के रूप में प्रयुक्त हो सकता

है तथा उसमें ऐसा कोई रूपिम नहीं होता जो उसी प्रकार मुक्त हो। आशय यह कि उनका अर्थात् शब्द के घटक रूप-बद्ध रूपिमों का उसी प्रकार पूर्ण उक्ति के रूप में प्रयोग नहीं हो सकता, जिस प्रकार शब्द का प्रयोग हो सकता है।[२२] वस्तुतः ब्लूमफ़ील्ड की 'शब्द' की उक्त व्याकरणिक परिभाषा स्वनिमात्मक शब्दों पर ही चरितार्थ होती है तथा व्याकरणिक शब्द जैसे 'चुक', 'जा', 'ने', 'जो', आदि पर चरितार्थ नहीं होती। क्योंकि सामान्यतः पूर्ण उक्ति के रूप में इनका प्रयोग उसी प्रकार नहीं हो सकता जिस प्रकार 'लड़का', 'वन्दर', 'काला' आदि शब्दों का हो सकता है। इसीलिए कुछ आधुनिक-भाषा-वैज्ञानिक ब्लूमफ़ील्ड द्वारा दी गई शब्द की उक्त परिभाषा को सर्वथा व्याकरणिक एवं निर्दोष नहीं मानते।[२३] इसी प्रकार भारतीय व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से भी ब्लूमफ़ील्ड द्वारा दी गई शब्द की परिभाषा स्वीकार्य प्रतीत नहीं होती। क्योंकि पाश्चात्य परम्परा में शब्द अपनी परिभाषा से वाक्य का घटक है तथा वह "लघुतम मुक्त रूप" होने के बाद भी, शब्द-रूप में ही वाक्य में प्रयुक्त होता है। परन्तु भारतीय व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से 'शब्द' शब्द-रूप में वाक्य में प्रयोगार्ह नही होता, अर्थात् वाक्य के घटक के रूप में प्रयुक्त होने से पूर्व शब्द का पद के रूप में रूपान्तरण (Transformation) होता है तथा पद रूप में शब्द वाक्य में प्रयोगार्ह होता है। इस प्रकार संस्कृत व्याकरण के अनुसार वाक्य का घटक पद होता है शब्द नहीं।[२४]

आधुनिक भाषा-विज्ञान में अर्थ की दृष्टि से शब्द की एक सामान्यतः प्रचलित परिभाषा है "व्याकरणिक विनियोग के योग्य किसी विशिष्ट ध्वनि-समूह के किसी विशिष्ट अर्थ के साथ संगम या संयोग को शब्द कहा जा सकता है।"[२५] शब्द की इस परिभाषा में यदि व्याकरणिक विनियोग के साथ-साथ व्याकरणिक संस्कार या रूपान्तरण भी पढ़ा जाए तो सम्भवतः उसे भारतीय दृष्टि से शब्द भी परिभाषा के अधिक निकट कहा जा सकता है। क्योंकि भारतीय दृष्टि से शब्द जब वाक्य में प्रयुक्त होता है तो सर्वप्रथम उसका व्याकरणिक संस्कार अर्थात् शब्द का पद रूप में रूपान्तरण होता है, तत्पश्चात् यह वाक्य में विनियुक्त हो सकता है। इसीलिए भारतीय वैयाकरण किसी पद-बन्ध या वाक्य को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण प्रवन्ध या उक्ति-प्रवाह को भी 'शब्द' शब्द से अभिहित कर सकता है। किन्तु पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिक के लिये यह सम्भव नहीं है उसके लिये 'शब्द' वाक्य का एक घटक ही है। आशय यह कि शब्द-विषयक भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टियाँ सिद्धांततः भिन्न हैं, अतः अंग्रेज़ी शब्द 'वर्ड' (word) के पर्याय के रूप में संस्कृत के शब्द 'शब्द' को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जैसाकि पहले लिखा जा चुका है भारतीय परम्परा में शब्द-विवेचन व्याकरण एवं कोश-ग्रन्थों के साथ-साथ काव्य-शास्त्र, दर्शन और आध्यात्म विषयक ग्रन्थों में भी हुआ है।[२६] फलतः संस्कृत साहित्य में 'शब्द' शब्द का प्रयोग पद की प्रकृति (या पद के मूलरूप अर्थात् अंशतः वर्ड (word), वाक्य या उक्ति, वाक् या भाषा आदि के अर्थ के साथ-साथ एक अत्यन्त व्यापक दार्शनिक और आध्यात्मिक सत्ता व सिद्धांत के अर्थ में भी हुआ है।[२७] संस्कृत व्याकरण के अनुसार मूलतः शब्द 'शब्द' धातु में 'घञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ माना जाता है, जिसका प्रकृत अर्थ होता है शब्द या ध्वनि करना। यद्यपि शब्द का उक्त प्रकृत अर्थ उसके विविध पारिभाषिक प्रयोगों के मूल में दृष्टिगोचर होता है, परन्तु व्याकरण, कोश, काव्य, दर्शन आदि विविधशास्त्रों में शब्द-विषयक मान्यताएँ सर्वत्र समान नहीं हैं।

उदाहरणार्थ तांत्रिक ग्रन्थों में जहाँ 'ॐ' 'ह्लीम्' 'क्लीम्', 'क्रम्' 'चम्,' आदि बीज-पत्रों को 'शब्द' कहा गया है, वहीं दार्शनिक ग्रन्थों में उसे ब्रह्म और ज्ञान के एक प्रमाण आदि के रूप में चर्चित किया गया है। आशय यह है कि यद्यपि सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों तथा अन्य शास्त्रों ने शब्द-विवेचन किया है, परन्तु उसकी परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से दी हैं। कुमारिल भट्ट ने अपने 'श्लोक वार्तिक' के 'शब्द नित्यताधिकरण' में शब्द-विषयक विविध मतों का संग्रह किया है, जो इस प्रकार है[२८]:—

त्रिगुणः पौद्गलो वाऽयमाकाशस्याथवागुणः ।
वर्णादन्योऽप्यनादात्मा वायुरूपोऽर्थवाचकः ।।

पदवाक्यात्मक:स्फोटः सारूप्यान्यनिवर्तने। इत्यादि

अर्थात् सांख्य मतानुसार शब्द सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से युक्त होने के कारण त्रिगुणात्मक है, जबकि जैनों के अनुसार वह पौद्गल अर्थात् परमाणुरूप है। नैयायिक एवं वैशेषिकों के अनुसार शब्द आकाश का गुण है, जो अनित्य है तथा तृतीय क्षण में ही नष्ट हो जाता है। लौकिक दृष्टि से वह वर्णों से भिन्न नाद या ध्वनिरूप है। शिक्षाकारों के अनुसार शब्द अर्थ-वाचक-वायुरूप है तथा वैयाकरणों के अनुसार वह पद-वाक्यात्मक स्फोट है। विन्ध्यवासी आचार्य के अनुसार 'शब्द' सारूप्य या सादृश्य है, जबकि बौद्धों के अनुसार वह अपोह या अन्य-निवृत्ति है। बौद्धों के अनुसार 'शब्द' का अस्तित्व क्षणिक होता है तथा वह ज्ञानस्वरूप या असत् स्वरूप होता है। मीमांसकों में प्रभाकर आदि के मत में शब्द ध्वनि और वर्ण रूप होता है, जो आकाशगुण है। इनके अनुसार ध्वनिरूप शब्द तो अनित्य होता है, पर वर्णरूप शब्द नित्य होता है। उपवर्ष आदि मीमांसकों ने शब्द को वर्णरूप ही माना है। कुमारिल भट्ट का भी यही मत है। उनके अनुसार वर्णात्मक शब्द नित्य है तथा ध्वनि के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है।[२९]

यद्यपि कुमारिल भट्ट द्वारा उल्लिखित शब्द-विषयक उक्त अभिमतों के अतिरिक्त उसके स्वरूपाख्यान की कुछ और दृष्टियाँ भी हैं। परन्तु मूलतः यह वैयाकरणों तथा कोशकारों का प्रमुख विषय है, अतः उनकी दृष्टि से यहाँ 'शब्द' के स्वरूप के विषय में विचार किया जा सकता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय व्याकरणशास्त्र पाश्चात्य व्याकरणशास्त्र के समान आध्यात्मिक तत्त्व-दर्शन से सर्वथा मुक्त नहीं है, अपितु इसके विपरीत उसके भाषा-विश्लेषण एवं विवरण का मूल आधार आध्यात्मिक तत्त्व-दर्शन ही है, जिसे सामान्यतः शब्द-ब्रह्मवाद या शब्दाद्वैत, स्फोटवाद या प्रतिभा-दर्शन अथवा पाणिनीय-दर्शन आदि नामों से अभिहित किया जाता है।[३०] अर्थात् संस्कृत वैयाकरणों का भाषा-दर्शन (Philosophy of Language) एक व्यापक तत्त्व-दर्शन का अंग है तथा उस पर आधारित एक प्राकृतिक भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण एवं विवरण संस्कृत के व्याकरण के रूप में उपलब्ध है।

संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार शब्द मूलतः ब्रह्म है अर्थात् शब्द ही अन्तिम और मौलिक यथार्थ है, जिसके परिणाम या विवर्त के रूप में यह सम्पूर्ण सृष्टि है। वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक कथन मिलते हैं जिनसे व्यंजित होता है कि "वागेव विश्वाभुवनानि जज्ञे, वाच

इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्य म"।[31] भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीय' में इसी बात को दार्शनिक शब्दावली में कहा है कि[32] :—

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

अथवा

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छंदोभ्य एव प्रथमेतद् विश्वं व्यवर्तत ॥

जिस प्रकार भारतीय वैयाकरण ब्रह्म या पारमार्थिक यथार्थ को शब्द कहता है उसी प्रकार आत्मा, जीव, या व्यक्ति-चेतना को भी 'शब्द' ही कहता है तथा जिस प्रकार वह इस सारे जगत् को शब्द-ब्रह्म की विवर्तित या परिणमित रूप में अभिव्यक्ति मानता है उसी प्रकार व्यक्ति की भाषा को उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति मानता है। अर्थात् वैयाकरणों की दृष्टि में व्यक्ति की भाषा उसकी संपूर्ण चेतना या उसके संपूर्ण 'स्व' की अभिव्यति है, जिसे शास्त्रीय शब्दावली में 'शब्द' ही कहा गया है। आशय यह कि संस्कृत वैयाकरणों ने शब्द 'शब्द' का प्रयोग ब्रह्म, जीव, सृष्टि तथा वाक् या भाषा के लिये किया है। भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीय' के प्रथम काण्ड में इसी का विस्तार से विवेचन किया है। सूक्ष्मवाक् या आन्तर-शब्द कैसे वैखरी वाक् या सामान्य भाषा के रूप में परिवर्तित होता है, इसका वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि स्फोटात्मक आंतरज्ञाता (वृत्ति-विशिष्ट अंतःकरण) सूक्ष्मवाक् अर्थात् शब्द आत्म रूप ही है तथा वही अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये 'शब्द' रूप में विवर्तित होता है। तुलनीय है[33] :—

अथायमान्तरोज्ञाता सूक्ष्म-वागात्मना स्थितः।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ॥

'भागवत पुराण' में भी इसी सूक्ष्मवाक् या शब्द शक्ति को 'जीव' कहा गया है तथा उसी से ध्वन्यात्मक या व्याकृत वाक् की उत्पत्ति वताई गई है। भागवतकार के शब्द हैं :—[34]

स एव जीवो विवर-प्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममपेत्य रूपं,
मात्रा स्वरो वर्ण इति प्रसिद्धः ॥

भर्तृहरि ने इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए आगे बताया है कि सर्वप्रथम आंतर-ज्ञाता (अन्तःकरण) अर्थ-बोधन की इच्छा (विवक्षा) से युक्त मन के रूप को प्राप्त करता है तथा जठराग्नि से पाक को प्राप्त कर प्राण-वायु को ऊपर की ओर प्रेरित करता है, तथा फिर प्राण-वायु मन का आश्रय और तद्धर्म प्राप्त कर 'शब्द' रुप में अभिव्यक्त होती है। जठराग्नि के दाह या ऊष्मा से प्राण अपनी ग्रन्थियों ('क' आदि वर्णों को) पृथक्-पृथक् स्थापित कर श्रूयमाण ध्वनियों से वर्णों को अभिव्यक्त कर स्वयं वर्णों में ही विलीन हो जाते हैं। भर्तृहरि के शब्दों में[34] :—

स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते ॥

अंत: करणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः ।
तद् धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव वितर्तते ।।
विभज्य स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथक् विधैः ।
प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते ।।

आशय यह कि संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार अव्याकृत सूक्ष्मवाक् के व्याकृत वैखरी वाक् के रूप में रूपान्तरण की प्रक्रिया सीधी नहीं है, अपितु उसके कई सोपान हैं। इन सोपानों की संख्या के विषय में वैयाकरणों में मतभेद हैं, [३६] परन्तु सामान्यतः कहा जा सकता है कि आन्तर सूक्ष्म 'वाक् या शब्द स्फोटात्मक है। उसे ही परा वाक् या पश्यन्ती वाक् नामों से भी अभिहित किया जाता है। परा वाक् या पश्यन्ती वाक् की अभिव्यक्ति वैखरी वाक् (उच्चरित भाषा) के रूप में मध्यमा वाक् के माध्यम से होती है अर्थात् स्फोटात्मक आन्तर-शब्द ही वर्णात्मक ध्वनियों से व्यक्त होता है। पाणिनि शिक्षा में भी शब्द अर्थात् भाषा के स्फोट या अभिव्यक्ति का इसी प्रकार का वर्णन मिलता है, जो इस प्रकार है [३७] :—

आत्मा बुध्या समेत्यर्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापाद्य मारुतः ।
वर्णान् जनयते ।

अतः कहा जा सकता है कि संस्कृत वैयाकरणों ने जिस प्रकार दार्शनिक स्तर पर शब्द को ब्रह्म आदि माना है, उसी प्रकार भाषा-वैज्ञानिक स्तर पर भी शब्द को मूलतः एक आंतर यथार्थ ही माना है, जो मानवीय बुद्धि, मन और प्राण में प्रतिष्ठित रहता है तथा वक्ता में विवक्षा के होने पर, वही वर्णात्मक ध्वनियों के रूप में व्यक्त होता है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में शब्द की जो परिभाषाएँ स्थान-स्थान पर दी हैं, उनसे भी यही सिद्ध होता है कि 'शब्द' के दो पक्ष हैं, एक आंतरिक और दूसरा बाह्य। शब्द के आंतरिक पक्ष को उन्होंने भी स्फोट कहा है और बाह्य पक्ष को ध्वनि। स्फोट शब्द का मूलतत्त्व है, तथा ध्वनि शब्द गुण है, जो अल्प या महान् हो सकती है, परन्तु स्फोट निर्विकार रहता है। मानवीय वाक् में तो उक्त दोनों तत्त्व वर्तमान रहते हैं, परन्तु पशुपक्षियों की वाणी में मात्र ध्वनि होती है, स्फोट का अभाव रहता है। पतंजलि का कथन है [३८] :—

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।
अल्पो महाँश्च अथवा केषांचित् उपेयं तत्स्वभावतः ।।
एवं तर्हि स्फोटः शब्दः ध्वनि शब्दगुणः। कथं भेर्याधातवत् ।
स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धि···· ····इत्यादि ।

आशय यह कि संस्कृत वैयाकरण मानवीय भाषिक ध्वनियों और अन्य प्रकार की ध्वनियों में विभेद करते हैं तथा मानवीय भाषिक ध्वनियों के मूल में 'स्फोट' मानते हैं, जिसके कारण मानवीय वाग्ध्वनियाँ सार्थक, अर्थात् व्यंजक और इसीलिए भाषिक ध्वनियाँ सिद्ध होती हैं। लौकिक-स्तर पर यद्यपि ध्वनि मात्र को भी शब्द कहा जाता है, परन्तु शास्त्रीय

दृष्टि से ध्वनि शब्द-गुण अर्थात् एक भाषिक उपलक्षण ही है जो शब्द-स्फोट या आन्तर शब्द की व्यंजक होती है। पतंजलि के शब्द हैं[३९] :—"येनोच्चारितेन सास्ना-लागूलककुदखुर-विषाणिनां संप्रत्ययो भवति, स शब्दः"। अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः इत्युच्य ते। तस्मात् ध्वनिः शब्दः। जैसाकि कैयट और नागेश ने स्पष्ट किया है, पतंजलि का आशय यही है कि स्फोटात्मक ध्वनि ही शब्द है, मात्र ध्वनि नहीं।[४०] अर्थात् मौलिक शब्द या शब्द स्फोट व्यंग्य होता है और उसके कारण उत्पन्न भाषिक ध्वनि उसकी व्यंजक होती है। क्योंकि संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार स्फोटात्मक शब्द नित्य और निर्विकार होता है, अतः शब्द के प्राकृत ध्वनिक रूप में प्राप्त होने वाले ह्रस्व, दीर्घ आदि काल भेद रूपी विकारों को उपचार या लक्षणावृत्ति से आरोपित माना जाता है। सिद्धान्ततः स्फोटात्मक शब्द निर्विकार ही रहता है।[४१]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपरोक्त चर्चा में 'शब्द' अपने दार्शनिक या आध्यात्मिक अर्थ से भिन्न विशुद्ध भाषिक अर्थ में प्रयुक्त है, तथा उसका अर्थ 'भाषा' या भाषा की लघुतम इकाई 'वाक्य' ही किया जा सकता है, उसका प्रचलित अंग्रेज़ी पर्याय वर्ड (word) नहीं। संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार वर्ड के अर्थ में शब्द न भाषा में प्रयुक्त हो सकता है, और न ही उस रूप में उसका अर्थ-बोध सम्भव हो सकता है। वस्तुतः संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार लैज़ीम (Leseime) या वर्ड (word) के अर्थ में 'शब्द' भाषा की अप्रयोगावस्था की इकाई है, प्रयोगावस्था की इकाई तो वाक्य ही है, फिर चाहे, वह औपचारिक रूप से पूर्ण व्याकरणिक वाक्य में प्रयुक्त हो या न हो। अर्थात् जब भी विवक्षा के परिणामस्वरूप मनुष्य अपने मुख से ध्वनि-प्रवाह निस्सृत करता है, तो उसे एक उक्ति या वाक्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि उसी रूप में उसका अर्थ-बोध होता है। यदि उस उक्ति में क्रिया या कर्त्ता आदि किसी तत्त्व का अभाव भी रहता है, तो उसका अध्याहार किया जा सकता है। आशय यह कि संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार भाषिक अर्थ की अभिव्यक्ति और बोध का सामर्थ्य वाक्य में ही होता है, किसी पद या शब्द में नहीं। 'शब्द-शक्ति प्रकाशिका' में इसी बात को निम्नलिखित रूप में कहा है[४२]:—

वाक्यभावमवाप्तस्य
सार्थकस्यावबोधतः।
सम्पद्यते शाब्दबोध
न तन्मात्रस्य बोधतः॥

अर्थात् शब्दबोध तभी सम्भव होता है जबकि 'शब्द' वाक्य-भाव को प्राप्त कर लेता है। आशय यह कि उपरोक्त चर्चा में प्रयुक्त 'शब्द' का अर्थ 'वर्ड' (word) न होकर 'भाषा' या 'वाक्य' ही हो सकता है।

अतः कहा जा सकता है कि संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार यद्यपि दार्शनिक स्तर पर 'शब्द' ब्रह्म, आत्मा, जगत् आदि का वाचक है, परन्तु भाषिक अर्थ में यह मूलतः वाक् वाणी या भाषा का पर्याय है, जिसे प्रकारान्तर से प्रतिभा, स्फोट और ध्वनि भी कहा गया है तथा क्योंकि भाषा की मौलिक स्वरूपात्मक इकाई के रूप में वाक्य को स्वीकार किया गया है, अतः वाक्य के लिये भी शब्द 'शब्द' प्रयोग किया गया है। वस्तुतः संस्कृत व्याकरण-दर्शन एवं

शास्त्र में 'शब्द' क्रमशः जीव और प्रकृति तथा प्रतिभा, स्फोट और ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। तथा उक्त दोनों विचार-धाराओं में एक प्रकार की समानता और समानान्तरता है। इसीलिए तत्त्व-दर्शन के स्तर पर शब्द की ब्रह्म के रूप में जो व्याख्या की गई है वही, भाषाविज्ञान के स्तर पर प्राकृतिक भाषा के अर्थ में भी चरितार्थ होती है और इन दोनों यथार्थों को व्याकरणशास्त्र में एक ही साथ 'शब्द' शब्द से अभिहित किया गया है। क्योंकि प्राकृतिक भाषा की स्वरूपात्मक इकाई के रूप में वाक्य को स्वीकार किया गया है अतः उसे भी 'शब्द' ही कहा गया है। वस्तुतः भारतीय दृष्टि से वास्तविक भाषिक सत्य वाक्य ही है, उसी का अर्थ होता है, तथा उसी का प्रयोग व प्रतीति भाषा-व्यवहार में होती है। अतः सिद्धान्ततः वाक्य से व्यतिरिक्त पद या वर्णों का न कोई अस्तित्व है, न महत्त्व। किन्तु व्याकरणशास्त्र में विश्लेषण एवं वर्णन के लिये पद और वर्णों को क्रमशः वाक्य के अंग के रूप में स्वीकार किया जाता है।[43] वर्ड के अर्थ में शब्द को वाक्य का अंग नहीं माना, क्योंकि इस अर्थ में 'शब्द' तब तक भाषा में प्रयुक्त नहीं हो सकता जब तक कि वह पद न बन जाए। अतः तात्त्विक दृष्टि से वर्णात्मक वैखरी वाक् या उच्चरित भाषा मूलतः आन्तरिक वाक् या बौद्ध शब्द का ही गौण, किन्तु अभिव्यक्त रूप होता है, जो परिभाषा से वाक्यात्मक होता है। परन्तु संस्कृत व्याकरण में भाषा के उक्त दोनों रूपों तथा वाक्य के लिये एक ही शब्द 'शब्द' का प्रयोग किया गया है।

यद्यपि संस्कृत व्याकरणशास्त्र में वाक्य को भाषा की मौलिक इकाई माना जाता है, परन्तु जिस रूप में संस्कृत का व्याकरणशास्त्र प्रचलित है, उसे मूलतः और प्रधानतः पद-केन्द्रित कहा जा सकता है। क्योंकि इसी के संदर्भ में प्रकृति-प्रत्यय-विभाग और क्रिया-कारकों के सम्बन्ध आदि के प्राविधानों के माध्यम से भाषा का संपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत व्याकरणशास्त्र में पद के मूल में शब्द-विषयक एक दूसरी संकल्पना प्रतीत होती है, जो मूलतः अर्थविज्ञान से सम्बद्ध है। आशय यह कि पद के मूल में जो प्रकृति तत्त्व होता है तथा जो उसके दूसरे सभी रूपों में वर्तमान रहता है, उसे भी सामान्यतः 'शब्द' कहा जाता है। तथा इस अर्थ में 'शब्द' पद का आधार तो होता, परन्तु वह न पद होता है, न वाक्य और न ही वाक्य का घटक। दूसरे शब्दों में संस्कृत वैयाकरणों ने पदों की प्रकृति या प्रातिपादकों के लिये भी 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया है परन्तु इस अर्थ में शब्द धातु, प्रत्यय आदि के समान भाषा की प्रयोगावस्था से परे की एक शास्त्रीय संकल्पना है, उसे पाश्चात्य भाषाविज्ञान के समान पद-बन्ध या वाक्य के घटक के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है, संस्कृत वैयाकरणों ने उपरोक्त अर्थों के अतिरिक्त प्रातिपदिक या प्रकृति के लिये भी 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया है।

जिस प्रकार संस्कृत व्याकरणशास्त्र को मुख्यतः पद-केन्द्रित कहा जा सकता है, उसी प्रकार अर्थ-विवेचन को प्रधानतः शब्द-केन्द्रित कहा जा सकता है, परन्तु वहाँ 'शब्द' का अर्थ वाक्य आदि से भिन्न प्रकृति या प्रातिपदिक ही लिया जा सकता है। यद्यपि संस्कृत में शब्द के अभिधान (कोष) और निर्वचन (निरुक्त) के संदर्भ में जो अर्थ-विवेचन हुआ है वह निश्चित ही इसी प्रकृति या प्रातिपदिक-वाची शब्द पर आधारित है, परन्तु अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-वृत्तियों के संदर्भ में जो अर्थ-विवेचन है, वह इस अर्थ में 'शब्द' पर आधारित न होकर

पूर्वोक्त व्याकरणिक पद-वाक्यात्मक शब्द से सम्बद्ध है । आशय यह कि प्रकृति या प्रातिपदिक के अर्थ में 'शब्द' संस्कृत कोषों और निरुक्त का विषय रहा है, परन्तु शब्द-शक्तियों के विवेचन में मूल में जो शब्द की संकल्पना प्रतीत होती है, वह केवल प्रकृति या प्रातिपदिक रूप न होकर पदवाक्यात्मक 'शब्द' की प्रतीत होती है क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध अर्थ-बोध की प्रक्रिया के साथ होता है, तथा वह वाक्यात्मक होने के बाद ही सिद्ध हो सकती है । इस प्रकार प्रकृति या प्रातिपदिक के रूप में परिभाषित' शब्द' और शब्द शक्तियों के संदर्भ में वाचक, लक्षक, व्यंजक शब्द रूप में परिभाषित शब्द दो भिन्न 'शब्द'—संकल्पनाएँ हैं ।

यद्यपि संस्कृत वैयाकरणों ने शब्दार्थ से भिन्न पदार्थ और वाक्यार्थ के विषय में विचार किया है किन्तु अंततः पद या और वाक्य के अर्थ (या अर्थों) का निर्धारण पद के मूल रूप प्रकृति तत्त्व प्रातिपदिक रूपी शब्द के अर्थ पर निर्भर रहता है । इस प्रकार प्रकृति या प्रातिपदिक रूपी शब्द को समस्त भाषा-व्यवहार के बीज रूप में समझा जा सकता है । यद्यपि भाषा-व्यवहार में उसका तद्रूप में प्रयोग स्वीकार्य नहीं है । किन्तु अर्थ की दृष्टि से शब्द के इस प्रकृति-रूप को भाषा-व्यवहार के एक अत्यन्त मौलिक भाषिक तत्त्व के रूप में माना जा सकता है । वस्तुतः इस अर्थ में शब्द को भाषा की आर्थी संरचना की आधारभूत इकाई मानकर उसी प्रकार अर्थविषयक अधिकांश चिंतन भारतीय अर्थ-विज्ञान में हुआ है जिस प्रकार व्याकरणशास्त्र में वाक्य को भाषा की मूलभूत इकाई और पद और वर्ण को उसके घटक मानकर भाषा की अनेक-स्तरी व्याकरणिक संरचना का विवरण प्रस्तुत किया है ।

यद्यपि प्रकृति के अर्थ में 'शब्द' भारतीय अर्थविज्ञान, अभिधानशास्त्र या कोशविज्ञान का मुख्य विषय है, परन्तु व्याकरणशास्त्र में भी उसे एक अत्यन्त मौलिक सकल्पना के रूप में स्वीकार किया गया है और उक्त दोनों शास्त्रों में शब्द के इस रूप की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उनमें किसी प्रकार का विरोध दृष्टिगोचर नहीं होता, अपितु वे एक-दूसरे की पूरक प्रतीत होती हैं । आशय यह कि भारतीय भाषाविज्ञान मे शब्द अपने वाक्यात्मक अर्थ से भिन्न एक लघुतर-भाषिक इकाई के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, जो संरचना की दृष्टि से वाक्य से भिन्न तथा एक लघुतर इकाई है, परन्तु साथ ही वह वाक्य से स्वतंत्र ही नहीं, अपितु इसका बीज-रूप भी है । क्योंकि शब्द का अभिधेयार्थ अपने आप उसके अनेक व्याकरणिक रूपों और प्रयोगों का नियमन करता है, इसीलिए संस्कृत वैयाकरणों ने अर्थ को शब्द की आत्मा कहा है ।[४४] वस्तुतः इस अर्थ में 'शब्द' वाक्य या भाषा आदि का वाचक न होकर, उनसे भिन्न, स्वतंत्र और लघु, किन्तु एक सार्थक-भाषिक इकाई का वाचक है जो भाषा की अप्रयोगावस्था में वर्तमान अभिधान, नाम या संज्ञा-रूप होता है। कदाचित् पतंजलि 'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः'[४५] कहकर 'शब्द' की जो परिभाषा देते हैं वह शब्द के इसी रूप की परिभाषा है । परन्तु निश्चित ही 'शब्द' इस रूप में भाषा-व्यवहार की वस्तु नहीं होता और इसीलिए उससे वास्तविक संप्रत्यय नहीं होता । जैसाकि कहा जा चुका है, शास्त्रीय दृष्टि से शाब्द-बोध तभी होता है जबकि वह वाक्य-भाव को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् जब 'शब्द' 'पद' रूप में रूपान्तरित हो भाषा में व्यवहृत होता है तभी उसका बोध या संप्रत्यय होता है । अतः कहा जा सकता है कि वाक्य से भिन्न अर्थ में "शब्द" भाषा की अप्रयोगावस्था की एक सार्थक इकाई है, परन्तु पद, जो शब्द का रूपान्तरण होता है, भाषा की प्रयोगावस्था की एक

सार्थक इकाई है तथा वह मूलतः प्रकृति और प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है तथा वाक्य के घटक के रूप में कार्य करता है।

जिस प्रकार अर्थ की दृष्टि से 'द्रव्याभिधायिनो शब्दाः'[४६] या 'सर्वे' 'शब्दाः सर्वार्थवाचकाः' आदि के रूप में 'शब्द' की परिभाषाएँ दी गई हैं, उसी प्रकार व्याकरणिक दृष्टि से भी उसकी परिभाषा दी गई है। पाणिनि ने इसे 'प्रातिपदिक' कहा है, क्योंकि वह उससे निष्पन्न होने वाले प्रत्येक पद में वैसे ही प्रकृति रूप में वर्तमान रहता है, जैसे क्रिया के प्रत्येक रूप में उसकी धातु वर्तमान रहती है। पाणिनि के अनुसार प्रातिपदिक की परिभाषा है, 'अर्थ-वदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'[४७] अर्थात् धातु और प्रत्यय को छोड़कर अन्य जो भी अर्थवान् तत्त्व होता है, तथा जो उससे बनने वाले सभी पदों के मूल में रहता है, वह प्रातिपदिक होता है। काशिकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि "अभिधेयवचनोऽर्थशब्द, अर्थ-वच्छब्दरूप प्रातिपदिकसंज्ञं भवति धातुप्रत्ययौ वर्जयित्वा।"[४८] अर्थात् अभिधेय या कथ्य के वचन या कथन के रूप में जो मूल शब्द होता है उसे प्रातिपदिक कहते हैं, तथा वह न धातु रूप होता है, न प्रत्यय रूप। आशय यह कि संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार, यद्यपि धातु और प्रत्यय भी सार्थक-भाषिक इकाइयाँ हैं, किन्तु उन्हें प्रातिपदिक की कोटि में स्वीकार नहीं किया जा सकता। पाणिनि के उक्त सूत्र के पश्चात् आने वाले सूत्र "कृत्त तद्धित समा-सारच"[४९] के अनुमार कृत् तथा तद्धित प्रत्ययों से युक्त भाषिक रूपों तथा समास को भी शब्दवृत्तियों के रूप में प्रातिपदिक कहा गया है। क्योंकि ये भी विभक्ति प्रत्यय लेते ही पद रूप में निष्पन्न हो वाक्य बनने में सामर्थ्यवान् हो जाते हैं। भट्टोजी दीक्षित 'कृत्' 'तद्धित' तथा 'समास' के साथ-साथ 'एकशेष समास' तथा 'सनाद्यन्त धातु' रूपों को भी शब्दवृत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।[५०] इस प्रकार वे भी प्रातिपदिक की कोटि में आ जाते हैं। परन्तु वस्तुतः ये पाँचों प्रातिपदिक रूप शब्द की वृत्तियाँ ही हैं, वास्तविक प्रातिपदिक के रूप में शब्द नहीं। क्योंकि प्रातिपदिक मूलतः स्वयं अर्थवान् शब्द रूप होते हैं, जबकि उक्त वृत्तियों की परिभाषा ही "परार्थाभिधानंवृत्तिः" है[५१] तथा प्रातिपदिकों और कृदन्त आदि वृत्तियों के व्याकरणिक रूपों में भी अंतर होता है। इसीलिए पाणिनि ने प्रातिपदिकों को ही मूलतः शब्द और वृत्तियों को प्रातिपदिक रूप शब्दों पर आधारित शब्द कहा है तथा इसके लिये अलग-अलग सूत्र लिखे हैं। संस्कृत कोश-ग्रन्थों में प्रथम प्रकार के शब्दों का ही संग्रह प्रधानतः मिलता है तथा उन्हें नाम-माला या अभिधान कोश या संग्रह कहा जाता है। वस्तुतः संस्कृत के कोश-ग्रन्थों में संज्ञा के प्रकृति रूपों का ही संग्रह किया गया है, उनमें क्रिया या उसके रूप नहीं मिलते, हाँ कोश-ग्रन्थों से स्वतंत्र 'धातुपाठ' अवश्य मिलते हैं।

इस प्रकार कहा जाता है कि वाक्य और पद से भिन्न 'शब्द' की संकल्पना संस्कृत वैयाकरणों को स्वीकार्य है, जो अंशतः शब्दिम (Lexime) के अर्थ में वर्ड (word) विषयक पाश्चात्य वैयाकरणों की मान्यता के बहुत कुछ समान है। क्योंकि पाश्चात्य पारम्परिक व्याकरण के अनुसार शब्दिम शब्द का एक ऐसा अमूर्त रूप या इकाई है जो विविध वाक्यों की सृष्टि के नियमों के अनुसार बनने वाले शब्द के सभी रूपों (भारतीय दृष्टि से पदों) में वर्तमान रहता है।[५२] अर्थात् शब्दिम (Lexime) शब्द का वह मूल रूप है जो उसके प्रत्येक पद रूप में वर्तमान रहता है। वस्तुतः शब्दिम के रूप में 'शब्द' की संकल्पना पाश-

चात्य पारंपरिक व्याकरण की ही एक मूलभूत मान्यता है, आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने इस विषय में अधिक विचार नहीं किया है।[५३] किन्तु यह भारतीय वैयाकरणों की प्रकृति या प्रातिपदिक के अर्थ में 'शब्द' विषयक मान्यता के अधिक निकट है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय एवं पाश्चात्य कोश-ग्रन्थ मूलतः पर्यायवाची नाम या संज्ञा रूपों के संकलन ही हैं तथा उनमें क्रियाओं को भी संज्ञा (प्रातिपदिक) रूपों में ही संगृहित किया है सामान्यतः क्रिया की धातुओं तथा प्रत्ययों को व्याकरणिक संकलपनाएँ ही माना जाता है तथा इसीलिए इन्हें कोश की सीमा से बाहर माना जाता है। यद्यपि संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार प्रकृति या प्रातिपदिक के रूप में शब्द भी व्याकरणिक संकलपना है तथा इसीलिए उसे भाषा की प्रयोगावस्था की इकाई नहीं माना जाता। परन्तु इस अर्थ में 'शब्द' शब्द-कोश और व्याकरण का मिलनबिन्दु अवश्य है और इसी अर्थ में वह अर्थ-विज्ञान की मूलभूत इकाई भी है। भारतीय वैयाकरणों के अनुसार 'नाम' आदि 'शब्द' सब "पद-जातानि" है।[५४] संभवतः इसका आशय यही है कि वाक्य का पदों में और पदों का प्रकृति-प्रत्ययों में विश्लेषण कर लेने के पश्चात् मूल प्रकृति के रूप में जो भाषिक इकाइयाँ अवशिष्ट रह जाती हैं, वे ही 'पद-जातानि' हैं—अर्थात् पद से उत्पन्न हैं। यास्क आदि के अनुसार ये 'पद-जातानि शब्द' चार प्रकार के होते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात।[५५] वस्तुतः इन चारों को कोश रूप में संग्राह्य कहा जा सकता है, क्योंकि इनका निश्चित अर्थ भी होता है तथा वह इनके व्याकरणिक रूपभेद के अनुसार परिवर्तित तो होता जाता है परन्तु न तो उसका मूल रूप पूर्णतः खोता है और न ही उसका मूल अर्थ पूर्णतः विलुप्त होता है। इस प्रकार 'पदजातानि' के रूप में 'शब्द' जहाँ एक ओर व्याकरणिक विश्लेषण-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप '(पदजातानि)' है वहीं वह उसकी संश्लेषणात्मक प्रक्रिया का आधार भी (प्रातिपदिक) भी है, और साथ ही वह भाषा की आर्थी संरचना की एकमात्र एवं मूलभूत इकाई (संज्ञा) भी है। अतः कहा जा सकता है कि इस अर्थ में 'शब्द' भाषा की सर्वाधिक मूलभूत इकाई है। वह उसके व्याकरण तथा अर्थविज्ञान दोनों की एक समान आधार-भूमि है। जैसे वह पद का प्रकृति रूप होने के कारण वाक्य का मूल रूप होता है वैसे ही वह सारी अर्थव्यवस्था की एक सर्व-सामान्य इकाई भी है। 'शब्द' की इसी सार्वमौलिकता के कारण उसे भारतीय वैयाकरणों ने जहाँ तात्त्विक स्तर पर 'परब्रह्म,' 'अक्षर ब्रह्म', 'प्रतिभा,' 'बीज', 'बिन्दु', 'परा,' 'स्फोट,' 'द्रव्य' आदि के रूप में चर्चित किया है, वहीं भाषा-वैज्ञानिक स्तर पर 'ध्वनि,' 'वर्णानुपूर्वी,' 'आकृति,' 'जाति,' 'संज्ञा,' 'प्रकृति,' 'प्रातिपदिक,' 'स्वं रूपं,' 'संज्ञी' आदि के रूप में पारिभाषित किया है। शब्द की यह व्यापक संकलपना निश्चित ही भाषा की अपर पर्याय है वस्तुतः वाक्य, पद और वर्ण तथा कोशीय अभिधान-निर्वचन भाषाशास्त्रीय संकलपनाएँ हैं तथा ये भाषा-विश्लेषण और प्रयोग की प्रक्रिया की स्वरूपात्मक इकाइयाँ हैं। जैसे भाषा का प्रयोग इन्हीं वर्ण, पद और वाक्य के आधार पर होता है वैसे ही उसका विश्लेषण-विवरण भी इन्हीं के अनुसार होता है। किन्तु इन सबके मूल में 'शब्द' रहता है, वह भाषा का मूल है, नियामक है, और व्याकरणिक और आर्थी संकलपना के रूप में शब्द, वर्ण, पद और वाक्य के विवर्त में भी निर्विकार रहता है तथा वह इनमें से किसी का घटक नहीं होता। संभवतः इसीलिए भारतीय वैयाकरणों ने शब्द को 'ब्रह्म' कहा है।

१ John Lyons. Introduction to Theoretical Linguistics, pp. 194. Cambridge University Press. 1968.
२ Ibid.
३ पतंजलि—महाभाष्य १. १.
४ John Lyons. Introduction to Theoretical Linguistics, pp. 194. Cambridge University Press, 1968.
५ Ibid,
६ Ibid. pp. 195.
७ Ibid.
८ Charles F. Hockett. Two Models of Grammatical Description, Word Vol. X. 1954. pp. 210–234.
९ John B. Carroll Language and Thought pp. 10, Prentice-Hall Inc. Englewood Cliffs. New Jersey. 1964.
१० Johnlyons, Introduction to Theoretical Linguistics.
pp, 208.
Cambridge University Press, 1968.
११ Ibid, pp. 199–200.
१२ Ibid pp. 199.
१३ Ibid.
१४ डा० भोलानाथ तिवारी आदि भारतीय भाषाविज्ञान की भूमिका पृ० ४६१, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७२
१५ पाणिनि—अष्टाध्यायी १०४–१०९
१६ तुलनीय है "अपदं न प्रयुञ्जीत" ।
१७ John Lyons. Introduction to Theoretical Linguistics. pp. 196. Cambridge University Press, 1968.
१८ Ibid, pp. 204–205.
१९ Ibid, pp. 200.
२० Ibid, pp. 201.
२१ Leonard Bloomfield Language, pp. 178. Allen and Unwin, London, 1935.
२२ Ibid, pp. 202.
२३ भर्तृहरि—वाक्यपदीय १. ७१–७४.
२४ Stephen Ullmann, the Principles of Semantics, pp, 50-4, 2nd Ed. Glasgow, 1957.
२५ भोलानाथ तिवारी आदि — भारतीय भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० २८६-२८७ नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७२
२६ वही
२७ कुमारिल भट्ट — मीमांसा श्लोक वार्तिक, शब्द—नित्यताधिकरण-३१९-३२०
२८ कपिलदेव द्विवेदी — अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन, पृ० ७६, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५१
६९ डा० भोलानाथ तिवारी आदि — भारतीय भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० २८६, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९७२
३० भर्तृहरि—वाक्यपदीय उद्धृत — १.१२१. की टीका में हेलाराज द्वारा
३१ भर्तृहरि—वाक्यपदीय — १.१२१.
३२ वही १.११२.
३३ कपिलदेव द्विवेदी — अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन, पृ० ७१ पर उद्धृत हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५१

३४	भर्तृहरि—वाक्यपदीय	१-११३-११५
३५	डा० भोलानाथ तिवारी आदि	भारतीय भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० २६१, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १६७२
३६	पाणिनीय शिक्षा	६-७
३७	पतंजलि—अष्टाध्यायी	१-१-७०
३८	वही	
३६	कपिलदेव द्विवेदी	अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० ७२, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १६५१
४०	वही	पृ० ७३, भर्तृहरि—वाक्यपदीय २.१३, १.७५-७६
४१	शब्दशक्ति-प्रकाशिका	कारिका -१२
४२	कपिलदेव द्विवेदी	अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन-पृ० ७७
४३	भर्तृहरि—वाक्यपदीय	२.१०
४४	पतंजलि—महाभाष्य	
४५	भर्तृहरि—वाक्यपदीय	३.८५ पर हेलाराज की टीका
४६	पाणिनि—अष्टाध्यायी	१.२.४५
४७	,, ,,	,, काशिका टीका
४८	,, ,,	१.२.४६
४६	भट्टोजि दीक्षित	सिद्धांत कौमुदी, सर्वसमास शेष प्रकरण
	कपिलदेव द्विवेदी	अर्थ-विज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० ७, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, १६५१
५०	पतंजलि—महाभाष्य	२.१.१
५१	John Lyons.	Introduction to Theoretical Linguistics, pp 197. Cambrige University Press, 1968.
५२	वही	
५३	यास्क—निरुक्त	1.1
५४	वही	

□ □ □

४

प्रातिपदिक—विचार

पाणिनीय व्याकरण को पदशास्त्र कहते हैं। 'पद' की सही परिभाषा देना बहुत कठिन है। विभिन्न भाषाओं में पद का स्वरूप विभिन्न प्रकार का पाया जाता है। इसीलिए एक सर्वमान्य अनुगत लक्षण का निर्णय करना कठिन बन गया है। लेकिन संस्कृत भाषा के संदर्भ में 'पद' की परिभाषा देना सरल है। पाणिनि के अनुसार संस्कृत के सभी पद प्रत्ययान्त होते हैं। धातुओं पर 'तिङ्' प्रत्यय लगते हैं, इन्हें 'तिङन्त रूप' कहा जाता है। धातु-भिन्न समस्त शब्दों पर—चाहे वे सर्वनाम हों, विशेषण, अव्यय या नाम—'सुप्' प्रत्यय लगते हैं। इन्हें 'सुबन्त रूप' कहते हैं। ये दोनों ही रूप 'पद' कहलाते हैं—"सुप्तिङन्तं पदम्"।

संस्कृत में ऐसे कई पद मिलते हैं जिनके अंत में सुप् या तिङ् वर्ग का कोई प्रत्यय नहीं होता। उदाहरण के लिये इन पदों को ले सकते हैं—रमा, गौरी, राजा, पालयामास अचकाः। पहले तीन शब्दों को सुबन्त तथा अन्त के दो शब्दों को तिङन्त मानते हैं। वास्तव में इन पाँचों शब्दों में कोई प्रत्यय नहीं लगा है। फिर भी वैयाकरण यह कल्पना कर लेता है कि इनमें प्रत्यय लगा था और उसका लोप हो गया। ऐसी कल्पना के बल पर वह पदों की एक अनुगत परिभाषा का निर्माण कर सकता है। भर्तृहरि ने कहा भी है कि प्रकृति, प्रत्यय आदि की सारी व्यवस्था कल्पना ही है। शब्दों की इस प्रकार से क्रमबद्ध रचना नहीं होती। शब्द तो नित्य तथा अविकारी हैं। उनमें लोप, आगम या आदेश की कल्पना केवल वैयाकरणों की सुविधा के लिये की गयी है। लघु उपाय से भाषा के समस्त शब्दों का अन्वाख्यान करना ही वैयाकरण का लक्ष्य है। इसीलिए वह ऐसी 'व्युत्पत्ति' या 'प्रकृति-प्रत्यय-विभाग' की तथा उसी पर आधारित लोपादिक विकारों की कल्पना कर बैठता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाणिनि ने सभी पदों को सुबंत या तिङन्त मानकर हर पद के अंत में एक प्रत्यय की कल्पना की है। प्रत्यय एक पराधीन शब्दांश है, आबद्ध रूप है। उसके लिये एक 'प्रकृति' की अनिवार्य आवश्यकता है। प्रकृति उस शब्द को कहते हैं, जिसके बाद कोई प्रत्यय लग सकता है। यह प्रकृति स्वयं प्रत्ययान्त हो सकती है या प्रत्यय-रहित। प्रकृति एकशब्दात्मक हो सकती है तथा अनेकशब्दात्मक भी। एकशब्दात्मक तथा प्रत्यय-रहित प्रकृति को 'मूल' कह सकते हैं। यह भाषा विज्ञान की 'रूट' (Root) शब्द का पर्याय माना जा सकता है। एकशब्दात्मक तथा प्रत्यय-सहित प्रकृति को 'यौगिक' कह सकते हैं। अनेकशब्दात्मक प्रकृति भी यौगिक ही हो सकती है। इसको नीचे की तालिका

में यों दिखाया गया है—
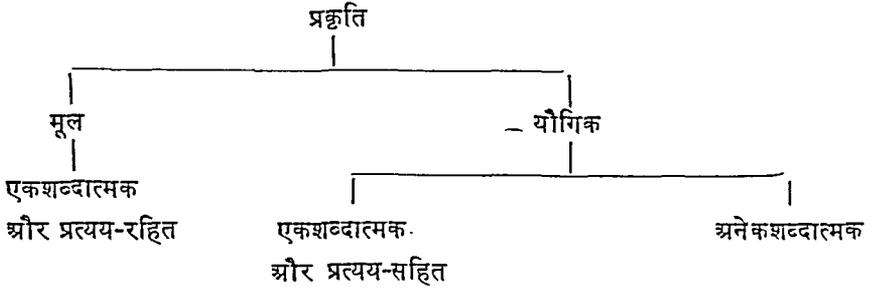
संस्कृत में कई शब्द अव्युत्पन्न हैं। उनमें किसी प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। वे अपने विशिष्ट अर्थ में रूढ़ हैं। रुढ़ि अभिधा का प्रथम प्रकार है। यौगिक शब्दों में भी शब्द के अवयव रूढ़ होते हैं। अतएव शास्त्रकारों ने कहा कि समुदायशक्ति रूढ़ि है तो अवयवशक्ति योग है। 'रक्षतीति रक्षकः'। रक्षा करने वाले को रक्षक कहते हैं। 'रक्षक' शब्द के दो अवयव हैं—"रक्ष्+अक"। पहला अवयव धातु है जिसका अर्थ है रक्षा। दूसरा अवयव 'अक' एक प्रत्यय है, जिसका अर्थ 'कर्ता' है। ये दोनों अवयव अपने अर्थ में रूढ़ है। इसी को अभिधा या शक्ति कहते हैं। नैयायिकों की मान्यता है—"अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छा शक्तिः" यानी, ईश्वर की यह इच्छा ही शक्ति है कि इस पद से इस अर्थ की प्रतीति या बोध हो। ईश्वर को भाषाविज्ञान में घसीटना न चाहें, तो सिर्फ इतना मान सकते हैं कि किसी संघटित जनवर्ग की यह इच्छा कि फलाने पद से फलाने अर्थ की प्रतीति हो, शक्ति कहलाती है। नवीन न्याय में यही परिभाषा मान्य हो गयी है—"अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीच्छा शक्तिः।" शक्ति, अभिधा तथा सकेत पर्यायवाची शब्द हैं। अतः यह निर्विवाद है कि योग के मूल में भी रूढ़ि ही काम करती है। योगरूढ़ि तथा यौगिकरूढ़ि में भी रूढ़ि का अनिवार्य योगदान असंदिग्ध है। इस स्थिति में कोई इन्कार नहीं कर सकता कि रूढ़ि अभिधा का सर्वप्रथम रूप है। रुढ़ि मात्र से अर्थ की प्रतीति कराने वाले जो शब्द हैं, इन्ही को हम 'अव्युत्पन्न' कहते हैं। युष्मद्, अस्मद्, एतद्, किम्, आदि सर्वनाम, लता, सरित् आदि नाम, सुन्दर, उष्ण आदि विशेषण, उच्चैः, पृथक् आदि अव्यय ऐसे हजारों शब्द अव्युत्पन्न हैं। ये 'मूल' प्रकृति में आते हैं। पाणिनि ने अव्युत्पन्न शब्दों का अस्तित्व स्वीकार किया है। यास्क, शाकटायन आदि आचार्य मानते थे कि सभी 'नाम' व्युत्पन्न होते हैं। पाणिनि इस पक्ष के विरोधी थे। महाभाष्य-लेखक पतंजलि ने 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि' कहकर पाणिनि के 'अव्युत्पत्ति-पक्ष' का समर्थन किया है।

अव्युत्पत्ति-पक्ष का अर्थ क्या है? पाणिनि की यह मान्यता है कि कई शब्द प्रत्ययान्त होते हैं। तद्धित तथा कृत् प्रत्ययों के योग से लाखों शब्दों का निर्माण होता है। अष्टाध्यायी के चतुर्थ तथा पंचम अध्यायों में पाणिनि ने विस्तार से तद्धितों की व्यवस्था दी है। उसी प्रकार तीसरे अध्याय में कृत् प्रत्ययों की पूरी सूची दी है। इन विविध प्रत्ययों से निष्पन्न होने वाले शब्दों की संख्या अनंत है। किसी भी भाषा में शब्द-निर्माण की ऐसी प्रक्रिया अवश्य रहती है। इसके बिना भाषा का शब्द-भंडार कैसे बढ़ सकता है? अतः

पाणिनि स्वीकार करते हैं कि कई शब्द व्युत्पन्न हैं। अर्थात् वे प्रत्ययान्त हैं, पहले एक प्रकृति थी, जिसमें कोई प्रत्यय जोड़ने से एक नया शब्द बन गया। इससे स्पष्ट है कि वे व्युत्पत्ति के विरोधी नहीं हैं। लेकिन, उनका कहना है कि कई ऐसे शब्द भी हैं जो व्युत्पन्न नहीं हैं। 'अव्युत्पत्ति-पक्ष' की मान्यता बस इतनी ही है कि ऐसा आग्रह करना अनुचित है कि सभी प्रातिपदिक व्युत्पन्न ही होते हैं। "सर्वाणि नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्त-समयः च"[५] । इस आग्रह का विरोध करने वाले भी हुए थे—"न सर्वाणीति गार्ग्यः, वैयाकरणानां चैके"[६] । व्युत्पत्ति-पक्ष के प्रथम आचार्य शाकटायन तथा अव्युत्पत्ति-पक्ष के प्रबल समर्थक गार्ग्य दोनों ही पाणिनि के पूर्ववर्ती थे। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में दोनों का स्मरण किया है–(१) "लङः शाकटायनस्यैव"[७] (२) "ओतो गार्ग्यस्य"[८] । अतः यह वैचारिक संघर्ष पाणिनि से बहुत पुराना है। पाणिनि ने अव्युत्पत्ति-पक्ष को स्वीकार किया। महाभाष्य में पतंजलि ने कई प्रसंगों में पाणिनि की इस मान्यता को स्पष्ट किया है–"प्रातिपदिक-विज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेः सिद्धम्"[९] । इस प्रकार सिद्ध होता है कि अष्टाध्यायी के अनुसार कई शब्द "अव्युत्पन्न" हैं तथा वे प्रत्यय-रहित और एकशब्दात्मक होने के कारण 'मूल' कहलाते हैं।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कहीं भी खंडन-मंडन की या वाद-विवाद की प्रवृत्ति नहीं दिखायी। उन्होंने संस्कृत का व्याकरण बनाने के लिये जिन सिद्धांतों का आधार ग्रहण किया उनकी चर्चा कहीं भी खुलकर नहीं की। सिर्फ एक अपवाद इसका मिलता है। प्रथमाध्याय के द्वितीयपाद में उन्होंने कुछ पूर्वाचार्यों के विचारों का खण्डन किया है। ये सूत्र हैं—

१. तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्[१०] ।
२. लुब् योगाप्रख्यानात्[११] ।
३. योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्[१२] ।

संक्षेप में इन सूत्रों का तात्पर्य है कि संस्कृत में देशवाचक शब्द "पंचालाः" आदि में कुछ वैयाकरण एक चातुर्थिक तद्धित प्रत्यय की कल्पना करके फिर उसका 'लोप' विधान करते हैं, इस लोप को वे 'लुप्' कहते हैं, लुप् की यह विशेषता है कि लोप के बाद शब्द का लिंग और वचन लुप्त प्रत्यय की प्रकृति के लिंग तथा वचन के आधार पर होते हैं–'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने'[१३] । पंचाल नाम के क्षत्रियों का निवास स्थान (जनपद) 'पंचालाः' कहलाता है। 'पंचालानां निवासो जनपदः पंचालाः।' यहाँ मूल शब्द पुलिंग बहुवचन में है। अतः चातुर्थिक प्रत्यय का लोप करने के बाद जनपदवाचक पंचाल शब्द भी पुलिंग बहुवचन रहता है। किंतु लिंग तथा वचन की सिद्धि के लिए चातुर्थिक प्रत्यय तथा उसके लोप की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। यदि पंचाल देश में पंचाल क्षत्रियों का वास होता और इसी कारण देश का यह नाम पड़ता तो ऐसी व्युत्पत्ति बतलाना ठीक होता। किन्तु पंचाल आदि देशों के नाम रूढ़ हैं। पंचाल आदि क्षत्रियों का वास हो या न हो, उन देशों के ये नाम जनसाधारण में प्रचलित हो गये हैं। अतः इन शब्दों में अवयवार्थ की प्रतीति नहीं होती। रूढ़ शब्दों में किसी प्रकार से व्युत्पत्ति की कल्पना करना उचित नहीं है। इस प्रकार पाणिनि ने व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अपना मंतव्य इन सूत्रों में प्रकट किया है। यह दूसरी बात है कि ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति का अनुसंधान करना आवश्यक होगा। लेकिन पाणिनि का मत है कि वर्णनात्मक या समकालीन भाषा-

विज्ञान की दृष्टि से ऐसे शब्दों को रूढ़ मानकर व्युत्पत्ति की कल्पना के प्रयास से बचा जा सकता है। उनके ये सूत्र भी अव्युत्पत्ति-पक्ष के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं।

इन अव्युत्पन्न शब्दों को पाणिनि ने 'प्रातिपदिक' कहा है—"अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्"[१४]। जो शब्द व्युत्पन्न या यौगिक हैं वे इस परिभाषा की परिधि में नहीं आते, क्योंकि 'अप्रत्ययः' कहकर इस सूत्र में एक ही शब्द से प्रत्ययों तथा प्रत्ययान्त शब्दों का निषेध किया गया है। प्रत्ययान्त शब्दों का निषेध करना अवर्जनीय है, क्योंकि सुबन्त या तिङन्त पदों को 'प्रातिपदिक' नहीं कहना चाहिए। व्युत्पन्न शब्द तो प्रत्ययान्त होते ही हैं। अतः उनकी प्रातिपदिक संज्ञा की सिद्धि के लिये दूसरा नियम बनाना पड़ा—"कृत्तद्धितसमासाश्च।"[१५]

ये व्युत्पन्न शब्द तीन प्रकार के होते हैं—(१) कृदन्त (२) तद्धितांत और (३) समास, 'कृत्' कुछ प्रत्ययों का एक सामूहिक नाम है—"कृततिङ्"[१६] ये प्रत्यय धातु के बाद लगते हैं। "धातोरीति विहितः तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृतसंज्ञः स्यात्"[१७]। धात्वधिकार में विहित प्रत्यय ही कृत् हैं, बल्कि इनमें तिङ् प्रत्ययों का समावेश नहीं होता। तृतीयाध्याय में इन प्रत्ययों का विधान किया गया है। कर्ता, कर्म, करण आदि विविध अर्थों में ये प्रत्यय विहित हैं। कृदंत प्रातिपदिकों के उदाहरण हैं—रक्षकः, कर्ता, दीर्घदर्शी आदि। "कर्तरि कृत"[१८] "तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः"[१९] "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्"[२०] "भीमादयोऽपादाने"[२१] 'दाशगोघ्नौ संप्रदाने'[२२] इत्यादि सूत्रों में कृत्प्रत्ययों के अर्थ-विशेष की सूचना दी गयी है। कहीं-कहीं इन प्रत्ययों के साथ लिंग विशेष का विधान भी पाया जाता है। जैसे, 'स्त्रियां क्तिन्'[२३] 'नपुंसके भावे क्तः'[२४]। 'क्तिन्' प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिंग होते हैं—उदाहरण हैं—'शान्तिः, मतिः, बुद्धिः, आदि। 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द नपुंसक लिंग होते हैं—उदाहरण हैं—'गतम्, मतम्' आदि। इसी अर्थ में एक और प्रत्यय है—"ल्युट्"। इसका व्यावहारिक या प्रयोगगत रूप है 'अन'। ल्युट्-प्रत्ययान्त शब्द भी नपुंसकलिंग होते हैं—उदाहरण हैं—'गमनम्, स्मरणम्, दर्शनम्' आदि। इस प्रकार कहीं-कहीं कृत् प्रत्ययों के साथ ही तदन्त शब्दों के लिंग की सूचना भी पाणिनि ने दी है। लेकिन सर्वत्र लिंग-व्यवस्था देना संभव नहीं है। संस्कृत में शब्द का लिंग अर्थ पर आश्रित नहीं है। वह शब्दाश्रित या व्याकरणिक है। अतः लिंग प्रयोग पर ही आधारित रहता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर पतंजलि ने निर्णय सुना दिया कि लिंग-सम्बन्धी नियम बनाना व्यर्थ है, क्योंकि वह लोक यानी प्रयोग पर आश्रित है—"लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य"[२५]। फिर भी, जहाँ किसी प्रकार से नियम देना सम्भव है, वहाँ नियम देना ही चाहिए। इसी दृष्टि से पाणिनि ने अष्टाध्यायी में यत्रतत्र लिंग सम्बन्धी नियम देने का सफल प्रयास किया है। कृत् प्रत्ययों के संदर्भ में लिंग नियम के कुछ उदाहरण पहले दिये गये हैं।

दूसरे वर्ग में तद्धितान्त प्रातिपदिक आते हैं। 'तद्धित' एक महासंज्ञा है। 'तद्धिताः'[२६] यह चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद में एक अधिकार-सूत्र है। इस अधिकार में आने वाले समस्त प्रत्यय तद्धित कहलाते हैं। यही तद्धित की परिभाषा है। एक विशेष बात यह है कि एक स्त्रीप्रत्यय भी तद्धिताधिकार में विहित है। 'यूनस्तिः'[२७]। युवन् शब्द के बाद स्त्रीत्व के अर्थ में 'ति' प्रत्यय जुड़ता है। इस प्रत्यय से 'युवति' शब्द बनता है। यह 'ति' स्त्रीप्रत्यय भी है, तथा तद्धित भी। यह अपने ढंग का अकेला उदाहरण है।

तद्धित प्रत्यय अपत्य, विकार आदि अनेक अर्थों में विहित है। "तस्यापत्यम्,"[२८] "तस्य विकार,"[२६] "तस्य निवासः,"[३०] "अदूरभवश्च,"[३१] "संभवत्यवहरति पचति,"[३२] "तस्य भावस्त्वतलौ,"[३३] "समां समां विजायते"[३४] आदि सूत्रों में कई प्रकार के अर्थविशेष बताये गये हैं। चतुर्थ तथा पंचम अध्याय में इतने तद्धित प्रत्ययों का विधान किया गया है कि एक साधारण विद्यार्थी के लिए सबको याद रखना कठिन हो जाता है। अतएव यह प्रवाद प्रसिद्ध हो गया है कि वैयाकरण तद्धितों के विषय में मूढ होता है—"तद्धितमूढो वैयाकरणः"।[३५] तद्धितान्त प्रातिपदिकों के उदाहरण हैं—मालतिः, मासिकम्, समांसमीना गौः, पंचालाः इत्यादि।

तद्धितों में भी कहीं-कहीं प्रत्ययों के आधार पर शब्द का लिंग-निर्णय किया जा सकता है। "तस्य भावस्त्वतलौ"। भाववाचक प्रत्यय दो हैं—'त्व' और 'तल्'। त्वप्रत्ययान्त शब्द नपुंसक लिंग होते हैं—विद्वत्वम्, नृपत्वम् आदि उदाहरण हैं। तल्प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग होते हैं—मानवता, उदारता आदि उदाहरण हैं। ध्यान देने की बात है कि पाणिनि ने इन प्रत्ययों के साथ लिंग का नियम नहीं दिया। वे कह सकते थे-"भावे नपुंसके त्वः,"[३६]"स्त्रियां तल्।"[३७] इस लिंग-अवस्था का कोई अपवाद नहीं मिलता। फिर भी पाणिनि ने प्रत्यय मात्र का विधान किया, लिंग के सम्बन्ध में कुछ नहीं बताया। शायद उन्होंने भी पतंजलि के समान यहाँ विचार किया होगा कि लिंग तो लोकसिद्ध है, अतः इस प्रसंग में उसका विधान अपेक्षित नहीं है।

प्रायः तद्धित प्रत्यय प्रातिपदिकों से ही लगते हैं—"ङ्याप्प्रातिपदिकात्"।[३८] किन्तु कुछ तद्धित तिङन्त शब्दों से भी लगते हैं—"तिङश्च"[३६] तिङन्त शब्दों के बाद तद्धित प्रत्यय जोड़कर बनाये गये प्रातिपदिकों के उदाहरण हैं–पचतितमाम्, पचतिरूपम् इत्यादि। द्रष्टव्य है कि ये तिङन्त शब्द भी तद्धितान्त होकर पूर्ण रूप से प्रातिपदिक बन जाते हैं। "पचतिरूपम्" में नपुंसकलिंग की प्रथमाविभक्ति का एकवचन 'अम्' स्पष्टरूप से श्रूयमाण है। नपुंसकलिंग, प्रथमाविभक्ति तथा एकवचन तीनों बातें औत्सर्गिक हैं। ऐसे प्रयोग संस्कृत के ग्रन्थों में पाये भी जाते हैं।

ऊपर कहा गया कि 'ति' (यूनस्तिः सूत्र से विहित) स्त्रीप्रत्यय होने के अलावा तद्धित भी है। लेकिन बाकी स्त्रीप्रत्यय तद्धिताधिकार से पहले विहित होने के कारण 'तद्धित' संज्ञा के अधिकारी नहीं है। 'अजाद्यतष्टाप्,'[४०] 'ऋन्नेभ्यो ङीप्'[४१] आदि सूत्रों से विहित टाप्, ङीप् आदि प्रत्ययों को तद्धित नहीं कह सकते। इन्हें तद्धित कहने पर अष्टाध्यायी की व्यवस्था के अनुसार कुछ अनिष्ट परिणामों की आशंका रहती है। "नस्तद्धिते"[४२] आदि सूत्रों की प्रवृत्ति स्त्री प्रत्ययों में वांछित नहीं हैं। अतएव स्त्रीप्रत्ययों को तद्धिताधिकार से अलग रखा गया है। किन्तु इससे एक और समस्या उत्पन्न हुई। रमा, गौरी, वामोरू आदि शब्द स्त्री-प्रत्ययान्त हैं। ये प्रातिपदिक हैं या नहीं ? यदि प्रत्यान्त होने के कारण ये शब्द प्रातिपदिक नहीं हैं, तो इनके बाद 'सुप्' प्रत्यय कैसे लगेंगे ? इनके सुबन्त पद बनते हैं। प्रयोग या लक्ष्य के अनुसार ही वैयाकरण को अपनी व्यवस्था देनी पड़ती है। अतः स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों के सुबन्त-पदात्मक रूपों को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो तो फिर 'सुप्'प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'अप्रत्ययः'—[४३] इस निषेध के कारण स्त्री प्रत्ययान्त शब्द प्रातिपदिक नहीं बन सकते। इस कठिनाई से बचने के लिये पाणिनि ने

'सुप्' के विधायक सूत्र को 'ङ्याप्-प्रातिपदिकात्' के अधिकार में रखा है। कहने का तात्पर्य है कि 'सुप्' प्रत्यय प्रातिपदिक के बाद जैसे लगते हैं वैसे ङी तथा आप् (दोनों स्त्रीप्रत्यय हैं।) अप्रत्ययान्त शब्दों के बाद भी लगते हैं। सुप् प्रत्यय की उत्पत्ति के लिए प्रातिपदिक संज्ञा अनिवार्य नहीं है। प्रातिपदिक न होने पर भी स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों के बाद 'सुप्' प्रत्यय लग सकते हैं—यह पाणिनि का विशेष विधान है।

मेरी राय में स्त्री प्रत्ययान्त शब्दों को भी प्रातिपदिक कहना ही उचित है। पाणिनि ने धातु और प्रत्यय को छोड़कर बाकी सब सार्थक शब्दों को प्रातिपदिक (nominal stem) की कोटि में रखा है। हम कह सकते हैं कि पाणिनि के अनुसार शब्दभेद (Parts of speech) सिर्फ दो ही हैं—(१) प्रातिपदिक (२) धातु। ऐसी स्थिति में—जबकि विशेषण, सर्वनाम तथा अव्यय भी प्रातिपदिक हैं—स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों को अलग कोटि में रखने का कोई औचित्य नहीं है। प्रत्ययान्त-निषेध की बात रह जाती है, उसके लिए विशेष विधान करना ही वांछनीय होगा। कृदन्त तथा तद्धितान्त शब्द भी तो प्रत्ययान्त हैं। उनकी प्राति-पदिक संज्ञा के लिए दूसरा सूत्र बनाया गया—"कृत्तद्धितसमासाश्च"। उसी प्रकार "स्त्री-प्रत्ययान्तं च"[४४] कहकर रमा, गौरी आदि शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा का निर्वाह किया जा सकता है। स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों के बाद 'सुप्' प्रत्यय लगते हैं। उनके सुबन्त पदात्मक रूप बनते हैं। उनके बाद तद्धित प्रत्यय भी लगते हैं। ङ्याब्ग्रहणं ङ्यावन्तादेव तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यात् ङ्यान्भ्यां प्राङ् मा भूदित्येवमर्थम्"।[४५] इन शब्दों में सिद्धांत कौमुदी के लेखक ने स्पष्ट किया है कि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों के बाद तद्धित प्रत्यय भी उत्पन्न होते हैं। समास में भी स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द अन्य प्रातिपदिकों के समान भाग लेते हैं। इस प्रकार हर बात में ये शब्द प्रातिपदिक के समान पाये जाते हैं। ऐसे प्रकार्य-साम्य (functional similarity) के बावजूद उन्हें 'प्रातिपदिक' के क्षेत्र से बाहर रखना अवैज्ञानिक है। स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों को प्रातिपदिक के क्षेत्र से बाहर रखने वाले वैयाकरणों को भी बाध्य होकर कहना पड़ा कि प्रातिपदिक के लिए जो विधियाँ बनायी हैं वे स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों के लिए भी लागू होती हैं—"प्रातिपदिकग्रहणे लिंगविशिष्टस्यापि ग्रहणम्"[४६]। इन सब बातों पर विचार करके मैं सोचता हूँ कि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों को प्रातिपदिक मानना ही वैज्ञानिक औचित्य की बात है।

तीसरे वर्ग में समास आता है। 'समास' एक महासंज्ञा है, जो 'प्राक्कडारात्समासः'[४७] के अधिकार पर अवलम्बित है। अष्टाध्यायी के द्वितीय अध्याय के प्रथम तथा द्वितीय पाद में समास का विधान किया गया है। समास का अर्थ होता है, सम्मिलित होना। संक्षेप को भी समास कहते हैं। दो पदों को अलग रखकर उनके परस्पर सम्बन्ध का द्योतन करने के लिए विभक्ति प्रत्यय या किसी शब्दान्तर का प्रयोग करें तो उसे 'विग्रह' कहते हैं। यह व्यास या शब्द-विस्तार की बात है। दोनों पदों को साथ मिलाकर विभक्ति या शब्दान्तर की अपेक्षा के बिना ही उनका सम्बन्ध भी बता सकें तो यह संक्षिप्त रूप ही समास कहलाता है।

समास के कई प्रकार होते हैं। अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि और द्वन्द्व। ये चार भेद तो परम्परागत तथा प्रसिद्ध हैं इनके अतिरिक्त भी समास के प्रकार हैं। 'पूर्वं भूतः = भूत-पूर्वः' यह समास उपर्युक्त चार भेदों में किसी के अन्तर्गत नहीं आता। पाणिनि का एक सूत्र है—"सह सुपा।"[४८] इसका सरल अर्थ इतना ही है कि सुबन्त के साथ समास होता है।

लेकिन यह सार्वत्रिक नहीं है। ऐसे समास के कुछ ही लोकप्रचलित या रूढ़ि-सिद्ध उदाहरण मिलते हैं। अव्ययीभाव आदि विशेष संज्ञाओं से विनिर्मुक्त यह सिर्फ 'समास' है।

कुछ समास नित्य होते हैं। नित्यसमास का अर्थ यह है कि उसके अवयव सम्मिलित होकर समास के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। इन अवयवों को अलग करके व्यस्त प्रयोग करना असंभव है। उदाहरण हैं "अधिहरि", "देशान्तरम्" इत्यादि। "अधिहरि" एक अव्ययीभाव है। यहाँ 'अधि' अव्यय सप्तमी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है। विभक्त्यर्थ में अव्यय का सुबंत के साथ नित्यसमास होता है। 'देशान्तरम्' तत्पुरुष प्रकरण में पाणिनि का एक सूत्र है— "मयूरव्यंसकादयः च"[४६]। मयूरव्यंसक आदि कुछ शब्द एक 'गण' में पठित हैं। यह गण आकृतिगण है। अर्थात् इस प्रकार के कई और शब्द हैं जो गण में पठित नही हैं, फिर भी उन्हें रूपसाम्य के आधार पर इसी गण के शब्द मान लेना चाहिए। जब सजातीय शब्दों की सं या बहुत अधिक रहती है तब उन सबको गणपाठ में सम्मिलित करना संभव नहीं होता। अतः ऐसे गणों को आकृतिगण कहकर सभी उपलब्ध सजातीय शब्दों का गण में निवेश (स्थान) मान लेते हैं। नित्यसमास के लिये या तो विग्रहवाक्य ही नहीं होता या फिर समास के घटक शब्दों को छोड़कर शब्दान्तरों से विग्रह बनाया जाता है। "अविग्रहः अस्वपदविग्रहो वा नित्यसमासः"[५०]। 'देशान्तरम्' का अर्थ समझाने के लिये हम इस समास के सदस्य शब्दों को अलग नहीं कर सकते, अतः पर्याय शब्दों का सहारा लेकर अर्थ बताना पड़ता है। "अन्यो देशः देशान्तरम्"। यही अस्वपदविग्रह है।

कुछ समासों के अन्त में तद्धित प्रत्यय लगते हैं। इन्हें "समासान्त' कहते हैं। "राजाहः सखिभ्यष्टच्"[५१]। राजशब्दान्त तत्पुरुष के अंत में 'टच्' प्रत्यय लगता है। 'टच्' में सिर्फ अकार बचता है। 'राजन्' प्रातिपदिक तो नकारान्त है। लेकिन तत्पुरुष में 'टच्' प्रत्यय के योग के बाद वह अकारान्त बन जाता है। "महान् राजा महाराजः"। यहाँ पूर्वपद 'महत्' शब्द तकारान्त है। लेकिन समानाधिकरण समास में वह आकारान्त बन जाता है। "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः"[५२]। ऐसे कार्यों को 'समासाश्रय विधि' कहते हैं। पाणिनि ने पष्ठाध्यायी के तृतीयपाद में समासाश्रय विधियों का निरूपण किया है।

समास में अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का लोप हो जाता है। 'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः'[५३]। लेकिन कुछ समासों में विभक्ति का लोप नहीं होता। ऐसे श्रूयमाणविभक्तिक समासों को 'अलुक् समास' कहते हैं 'अलुगुत्तरपदे'[५४]। यह षष्ठाध्यायी के तृतीयपाद का प्रथम सूत्र है। इस अलुक् अधिकार में कई सूत्र हैं। 'स्तम्बकर्णयो रमिजपोः',[५५] 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' स्तम्बेरमः, कर्णेजपः। इन समासों में पूर्वपद की सप्तमी का लोप नहीं हुआ है। 'वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः'[५६] परस्मैपदम्, आत्मनेपदम्। यहां पूर्वपद में चतुर्थी का अलुक् हुआ है। विभिक्त लोप के अभाव में भी एकार्थीभाव के कारण समास को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। समास को हम एक अविभक्त इकाई मानकर चल सकते हैं। एक इकाई (unit) के रूप में होने के कारण उन पर फिर तद्धित प्रत्यय लग सकता है या किसी दूसरे समास में एक घटक के रूप में उनका प्रवेश हो सकता है। यही अलुक् समास की स्वीकृति का मुख्य कारण है।

कृदन्त तद्धितान्त तथा समास—ये तीनों प्रकार के प्रातिपदिक अव्यय हो सकते हैं। कृदंत अव्यय के उदाहरण हैं—'कृत्वा, प्रहृष्य, स्वादुंकारं भुंक्ते' इत्यादि। तद्धितान्त अव्यय के उदाहरण हैं—'यत्र, तत्र, इतः, क्रमशः'। इत्यादि। समासात्मक अव्यय के उदाहरण हैं—"अधिहरि, यथाशक्ति, बाहू बाहवि, प्रहृष्य" इत्यादि। प्रहृष्य में कृत् प्रत्यय 'ल्यप्' है। यह 'त्वा' के स्थान में आदेश के रूप में आया है। त्वान्त शब्द तो अव्यय होते ही हैं—'क्त्वा-तोसुन्कसुनः'[५७]। किंतु समास के अभाव में ल्यप् का आदेश नहीं हो सकता "सामसे अनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्"[५८]। अतः 'प्रहृष्य' कृदन्त तथा समासात्मक अव्यय है।

पाणिनि ने सभी अव्ययों को प्रातिपदिक माना है। अव्यय के बाद भी 'सुप्' प्रत्यय लग सकते हैं। किंतु अव्ययों का अर्थ इस प्रकृति का है कि उसमें लिंग, सं या तथा कारक का योग नहीं हो सकता। अतः द्विवचन या बहुवचन, और द्वितीया आदि किसी विभक्ति का प्रयोग अव्यय के साथ संभव नहीं है। किंतु औत्सर्गिक प्रयमात्रिभक्ति तथा एक वचन ही प्राप्त होता है। इसे पाणिनि ने पदसंज्ञा की सिद्धि के लिए अनिवार्य माना। लेकिन प्रथमा एक वचन भी श्रूयमाण नहीं रहता। अतः उसके लोप का विधान किया गया है—"अव्ययादाप्सुपः"[५९]। तात्पर्य यह है कि अव्ययों को हम लुप्त-विभक्तिक पद मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रथमा एकवचन की उत्पत्ति तथा लोप दोनों ही पदसंज्ञा के लिये कल्पित हैं।

पाणिनि का प्रातिपदिक धातुभिन्न समस्त प्रकृति (nonverbal stem) का पर्याय है। अतः पाणिनि के अनुसार दो ही शब्द-भेद ठहरते हैं—धातु और प्रातिपदिक। इस लेख में प्रातिपदिक की कल्पना को संक्षेप में समझाने का प्रयास किया गया है।

सूत्रादि निर्देश

१	सुप्तिङन्तं पदम्	अष्टाध्यायी १-४-१४
२	अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छा शक्तिः।	तर्क-संग्रह, शब्द प्रकरण
३	अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीच्छा शक्तिः।	उपर्युक्त तर्कसंग्रह की उक्ति का संशोधित रूप
४	'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि'	७-१-२ पर भाष्य
५	सर्वाणि नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त-समयः च।	'निरुक्त' में यास्क का वचन
६	न सर्वाणीति गार्ग्यः; वैयाकरणानां च के।	,,
७	लङः शाकटायनस्यैव।	३-४-१११
८	ओतो गार्ग्यस्य	८-३-२०
९	प्रातिपदिकविज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेः सिद्धम्	७-१-२ पर भाष्य
१०	तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्	१-२-५३
११	लुब् योगाप्रख्यानात्	१-२-५४
१२	योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्	१-२-५५
१३	लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने	१-२-५१
१४	अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिक	१-२-४५
१५	कृत्तद्धित-समासाश्च	१-२-४६

१६	कृदतिङ्	३-१-९३
१७	धातोरिति विहितः तिङ्-भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात्।	३-१-९३ पर कौमुदी
१८	कर्तरि कृत्	३-४-६७
१९	तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः	३-४-७०
२०	अकर्तरिच कारके संज्ञायाम्	३-३-१९
२१	भीमादयोऽपादाने	३-४-७४
२२	दाशगोघ्नौ संप्रदाने	३-४-७३
२३	स्त्रियां क्तिन्	३-३-९४
२४	नपुंसके भावे क्तः	३-३-११४
२५	लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य	महाभाष्य
२६	तद्धिताः	४-१-७६
२७	यूनस्तिः	४-१-७७
२८	तस्यापत्यम्	४-१-९२
२९	तस्य विकारः	४-३-१३४
३०	तस्य निवासः	४ २-६९
३१	अदूरभवश्च	४-२-७०
३२	संभवत्यवहरति पचति	५-१-५२
३३	तस्य भावस्त्वतलौ	५-१-११९
३४	समा समां विजायते	५-२-१२
३५	तद्धितमूढो वैयाकरणः	एक उक्ति
३६	भावे नपुंसके त्वः	
३७	स्त्रियां तल्	५-१-११९ का संशोधित रूप
३८	ङ्याप्प्रातिपदिकात्	४-१-१
३९	तिङश्च	५-३-५६
४०	अजाद्यतष्टाप्	४-१-४
४१	ऋन्नेभ्यो ङीप्	४-१-५
४२	नस्तद्धिते	६-४-१४४
४३	"अप्रत्ययः"—अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्	१-२-४५
४४	स्त्रीप्रत्ययान्तं च	१-२-४६ के बाद प्रस्तावित सूत्र
४५	ङ्याब्ग्रहणं ङ्याबन्तादेव तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यात्,	ङ्याब्भ्यां प्राङ् मा भूदित्येवमर्थम्। ४-१-१ पर कौमुदी
४६	प्रातिपदिकग्रहणे लिंगविशिष्टस्यापि ग्रहणम्	परिभाषा
४७	प्राक्कडारात्समासः	२ १-३
४८	सह सुपा	२-१-४
४९	मयूरव्यंसकादयः च	२-१-७२
५०	"अविग्रहः अस्वपदविग्रहो वा नित्यसमासः।" समास प्रकरण के आरम्भ में कौमुदी	
५१	राजाहः सखिभ्यष्टच्	५-४-९१
५२	आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः	६-३-४६
५३	सुपो धातुप्रातिपदिकयोः	२-४-७१

५४	अलुगुत्तरपदे	६-३ १
५५	स्तम्बकर्णयो रमिजपोः ३-२-१३ तत्पुरुषे कृति बहुलम्'	६-३-१४
५६	वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः	६-३-७
५७	क्त्वातोसुन्कसुनः	१-१-४०
५८	समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्	७-१-३७
५९	अव्ययादाप्सुपः	२-४-८२

□ □ □

५

शब्द और अर्थ का स्वरूप

ऋग्वेद के दशम मण्डल के वाक्-सूक्त में वाग्देवी ने कहा है—"अहमेव वात इव प्रवामि आरभमाणा भुवनानि विश्वा:" अर्थात् मैं ही जगत् का आरम्भ करती हुई वायु के समान विचरण करती हूँ। इसी प्रकार शान्ति संगम मन्त्र में कहा है—

"विचार्येदं तथा देव्या सृष्ट्युत्पादन् कारणात्।
आदिनाथो मानसिको भर्तृ रूप: प्रकल्पित:"॥

उसी देवी ने जगत् की सृष्टि करने के लिये मानसिक आदिनाथ के रूप में तथा अपने उद्देश्य की पूर्ति एवं भरण करने वाले भर्त्ता के रूप में प्रकल्पना की। वाक्-सूक्त में भी इसी का संकेत इस प्रकार है:

"यं कामये तन्तमुग्रं कृण्णोमि, तं ब्राह्मणं तमृपि तं सुमेधाम्॥"

देवी के द्वारा प्रकल्पित, उसके (देवी के) मानसिक, आदिनाथ भर्ता को ही आगम ग्रन्थों में शिव-तत्त्व के रूप में स्वीकृत किया गया है और स्वयम् उस वाग्देवी को उस शिव की शक्ति के रूप में।

आगमों में बताया गया है कि शिव और शक्ति ये दोनों आदिम तत्त्व हैं। शुक्ल वर्ण वाला प्रकाश-स्वरूप शिव विमर्श-रूप या स्फूर्ति-रूप रक्त वर्ण वाली शक्ति में प्रवेश करता है और विन्दु का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार शक्ति शिव में प्रवेश करती है और वह विन्दु अभिवृद्ध हो जाता है। उस अभिवृद्ध विन्दु में जो स्त्रीतत्त्व है, उसे नाद या ध्वनि कहा जाता है। अब ये विन्दु और नाद दोनों एक में संपृक्त हो जाते हैं और वह संमिश्रित या संश्लिष्ट विन्दु कहा जाता है। यह संश्लिष्ट विन्दु स्त्रीशक्ति और पुरुष-शक्ति के प्रगाढ़ संबंध का प्रतिनिधि है और इसे ही 'काम' कहा जाता है। शुक्ल तत्त्व, जो पुरुष तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता और रक्ततत्त्व, जो स्त्रीतत्त्व का प्रतिनिधित्व करता, दोनों के मिलने पर उसे 'कला' तत्त्व कहा जाता है। ये तीनों अर्थात् १- संश्लिष्ट विन्दु, २-शुक्लतत्त्व और ३-रक्ततत्त्व मिलकर काम-कला कहलाते हैं। अब ये १-मौलिक विन्दु जो संसार के भौतिक पदार्थों या रूपों का प्रतिनिधि है, २-नाद या ध्वनि, जिस पर पदार्थों के नाम निर्भर रहते हैं; ३-शुक्ल तत्त्व, जो संभवत: अकेले कुछ भी उत्पन्न करने में असमर्थ है और ४-स्त्रीतत्त्व का प्रतिनिधि रक्ततत्त्व जो पुरुषतत्त्व को सफल बनाता है, जब काम-कला से मिलते हैं और मिलकर एक तत्त्व बनाते हैं जिससे शब्द और अर्थ नाम और रूप का सम्पूर्ण संसार चल निकलता है। क्योंकि यह सारा प्रपंच प्रकाश और स्फूर्ति का एक संमिश्रण मात्र है, इसीलिए

भर्तृहरि ने शब्द को ज्योति रूप ही माना है—

प्राप्त रूप-विभागाया यो वाचः परमो रसः ।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गो यमांजसः ॥ (वा. प. १–१२)
प्रत्यस्तमितरूपाया यद्वाचो रूपमुत्तमम् ।
यदग्निनेव तमसि ज्योतिः शुद्धं प्रवर्तते ॥ (वा. प. १–१८)

इसी वाक् को पुरुष सूक्त में 'मुखादग्निरजायत' और गणेशायर्वशीर्ष में वैद्युत कहा गया है । अन्यत्र भी 'वागेविश्वा भुवनानिजज्ञे' कहा गया है । महाकवि कालिदास ने वागार्थौ को ही नमस्कार किया है :

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ–प्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीःपरमेश्वरौ ॥

कुछ लोग इसका अर्थ पार्वती और परमेश्वर का नमस्कार समझते हैं, परन्तु यह सर्वथा सत्य नहीं है । संपृक्त पार्वती और परमेश्वर उपमेय नहीं हैं अपितु उपमान हैं । उपमेय तो संपृक्त वाक् और अर्थ हैं । सच पूछा जाय तो कालिदास का वह उपमान स्थूल बुद्धि वालों के लिए है, बात को समझाने के लिए है। अन्यथा कालिदास यह ठीक समझते थे कि वाक् और पार्वती तथा अर्थ और शिव भिन्न नहीं हैं । उपमानोपमेय भाव भेद में संभव है । यदि संपृक्तता को समझाने का प्रयत्न करें तो भी दोनों युग्मों में भेद न होने पर दोनों की संपृक्तता को भी कैसे भिन्न माना जा सकता है । अतः यहाँ अनन्वयोपमा ही उचित प्रतीत होती है ।

ये सूक्ष्मतम शब्दाणु, ज्योतिःरूप ही नहीं हैं, अपितु ये ज्ञान के अणु भी हैं । हमारा आन्तरिक ज्ञान सर्वदा सूक्ष्मतम ज्योतिरूप शब्दाणु रूप में ही रहता है । अतएव भर्तृहरि ने कहा है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ॥
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्व शब्देन भासते ॥ (वा० प० १-१२३)

यही शब्दाणु जब मानसी प्रक्रिया में आते हैं तो प्राण वायु की सहायता से विकसित होते हुए विभिन्न रूप धारण करते हैं और तभी स्थूल बुद्धि से ग्राह्य होते हैं । इसी मानसी प्रक्रिया को पाणिनि शिक्षा में इस प्रकार कहा है—

आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥

यह मानसी प्रक्रिया अत्यन्त स्थूल है, अतएव सर्वसाधारण-गम्य है । भर्तृहरि ने

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ (वा. प. १-१)

में जो विवर्त की चर्चा की है, वह इसी सूक्ष्म शब्द की है । इस विवर्त को अधिकांश टीकाकारों ने शंकर विवर्त से अभिन्न माना है । किन्तु इसे वैसा न समझकर सांख्य का विवर्त समझना उचित प्रतीत होता है । सांख्य के अनुसार प्रकृति से अहंकार तक विवर्त और उसके आगे के विकास को परिणाम कहा जाता है । इस परिणाम में ही परिमाण की सम्भावना है, जैसे—स्थान, प्रयत्न, ह्रस्व, दीर्घ आदि ।

वही शब्द परावाणी में वट-बीज-न्याय और पश्यन्ती में माष-शिम्बिका न्याय से विकसित होता हुआ और योगिगम्य होने पर भी सर्वसाधारण के कार्य-संपादन में अक्षम रहता है। परन्तु मध्यमा में वह स्फोट रूप में अवस्थित होता है और उसी को वैखरी वाणी द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। भर्तृहरि ने परा और पश्यन्ती को एक ही मानकर तीन ही वाणियों की चर्चा की है—

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥ (वा. प. !. १४३)

पाणिनि ने अपने शब्द-शास्त्र के लिए वैखरी को ही उपयोगी समझा था, अतएव 'तुल्यास्य-प्रयत्नं सवर्णम्' सूत्र से स्थूल ध्वनियों की सवर्ण संज्ञा का विधान किया है। आस्य और आभ्यन्तर प्रयत्न या सच पूछिये तो बाह्य प्रयत्न का भी सम्बन्ध स्थूल ध्वनियों से ही है।

अमरकोष के टीकाकार भानुजी दीक्षित ने 'शब्द' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतायी है—शप् आक्रोशे (भ्वा,. दि. उ. अ.) धातु के शाशपिभ्यां ददनौ (उ. ४.९७) उणादि सूत्र की सहायता से 'दन्' प्रत्यय होता है। इन्होंने ही दूसरे स्थान पर (अम, १/७/२२) शब्द शब्द करणे (चु. उ. से.) से एरच् (पा. ३/३/५६) सूत्र से 'अच्' प्रत्यय या घ (पा. ३/३/१८) से घ प्रत्यय करके सिद्ध किया है। अंग्रेजी के 'वर्ड' शब्द या अरबी के 'लफज़' शब्द का भी अर्थ शब्द करना, ध्वनि करना या मुँह से बाहर फैंकना ही है। 'शब्द' शब्द का अर्थ इतना ही नहीं समझना चाहिए। हेमचन्द्र ने 'शब्दो क्षरे यशोगीत्योर्वाक्ये खे श्रवणे ध्वनौ' भी दिया है, किन्तु अन्यार्थक 'शब्द' शब्द का इस प्रसंग में कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

महाभाष्यकार ने शब्द का लक्षण इस प्रकार दिया है—

'येनोच्चारितेन सास्नालांगूल-ककुदखुर-विषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः'।

कैयट ने 'उच्चारितेन' का अर्थ 'प्रकाशितेन' किया है। तात्पर्य यह कि जिसके प्रकाशित होने से सास्नालांगूल-ककुद-खुरविषाण वाले या वाली का बोध हो, वह शब्द है। स्पष्टतः इसका संकेत उस प्रकाश और स्फूर्ति (शिव और शक्ति) की ओर है जिसकी चर्चा की जा चुकी है। वे प्रकाश और स्फूर्ति मिश्रित होकर योगियों को तो परा और पश्यन्ती में भी ज्ञात हो जाते हैं किन्तु साधारण वक्ता को मध्यमा में ही ज्ञात हो पाते हैं और श्रोता को श्रवण के अनतर। इस लक्षण के बाद उन्होंने लिखा है "अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते" इस लक्षण में प्रतीत-पदार्थकः लोके या ध्वनिः शब्दः ये सभी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रतीतः पदर्थो येन ध्वनिना स प्रतीत पदार्थकः। इसमें लोक-व्यवहार की प्रधानता है और इस प्रसंग में लोक-व्यवहार का साधन ध्वनि ही हो सकती है। शब्द की इस परिभाषा पर कैयट ने लिखा है—'अन्यत्र ध्वनि-स्फोटयोर्भेदस्य व्यवस्थापितत्वादिहाभेदेन व्यवहारेऽपि न दोषः'। अर्थात् ध्वनि और स्फोट के भेद की व्यवस्था अन्यत्र (तपरस्तत्कालस्य सूत्र के भाष्य में) की गई है अतः यहां दोनों के अभेद के व्यवहार होने पर भी कोई दोष नहीं है। 'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र के भाष्य में कहा गया है—'एवं तर्हि स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्द-गुणः—स्फोट—स्तावानेव भवति ध्वनिकृता वृद्धिः) तात्पर्य यह है कि कैयट समझ रहे हैं कि भाष्यकार ने यहाँ शब्द का लक्षण-करते करते ध्वनि और स्फोट को अभिन्न कह दिया है और इस तरह जाने-अनजाने सैद्धांतिक भूल हो गयी है। अतएव वे उसका निराकरण कर

रहे हैं। परन्तु वस्तुस्थिति यह प्रतीत होती है कि भाष्यकार ने पहला लक्षण नित्य शब्द को ध्यान में रखकर और दूसरा लक्षण 'अथवा' कहकर कार्य शब्द को ध्यान में रखकर किया है। अतएव भाष्यकार ने 'शब्दं कुरु' 'शब्दं माकार्षीः' आदि उदाहरणों में 'कृ' धातु का प्रयोग किया है। 'कृ' धातु से नयी वस्तु को उत्पन्न करने का संकेत है। बात यह है कि ध्वनि नित्य शब्द की व्यंजक और अनित्य होती है। वह प्रथम क्षण में उत्पन्न, द्वितीय क्षण में स्थित और तृतीय क्षण में विनष्ट हो जाती है, जबकि नित्य शब्द इस ध्वनि का व्यंग्य है जो नित्य होता है, तथा सदा बना रहता है। 'शृंगार प्रकाश' में इन दोनों भेदों पर बिना ध्यान दिये ही—'येनोच्चारितेन अर्थः प्रतीयते स शब्दः' ऐसा कहा गया है। इस लक्षण से नित्य शब्द और कार्य शब्द का भेद स्पष्ट नहीं हो पाता। हाँ, यह भी ध्यान देने की बात है कि पाणिनि ने शब्दों का विभाग और उनका विवेचन आदि काय-शब्द को ध्यान में रखकर किया है और उसे ही अपने व्याकरण के लिये व्यवहार्य माना है। उनको नित्य शब्द की सत्ता महत्ता आदि स्वीकृत होने पर भी अपने व्याकरण की दृष्टि से कार्य शब्द ही उपादेय है। इसी तथ्य को भाष्यकार ने 'सर्वोऽपि प्रकृति-प्रत्यय-विभागः प्रकल्पित एव' कहकर सिद्ध किया है। इतना होने पर भी यह प्रकल्पना उतनी ही सत्य है जितना इस जगत् के प्रसंग में हम सभी लोग।

शब्द का प्रयोग अपने में निहित और अपने से अभिन्न अर्थ को बताने के लिये ही किया जाता है। वह अर्थ क्या है, इस विषय में भर्तृहरि ने जिन बारह पक्षों का उपस्थापन किया है, वे अवश्य विचारणीय हैं। भर्तृहरि यह मानते हैं कि यद्यपि वाक्यार्थ ही प्रधान है और उसमें विकल्प नहीं होता, हो ही नहीं सकता, फिर भी जो विकल्प दिखाई देते हैं वे विभिन्न दर्शनों एवं शास्त्रों की भावनाओं के कारण हैं।

'अविकल्पेऽपि वाक्यार्थे विकल्पा भावनाश्रयाः' (वा० प० २, ११७)

शब्द प्रतिभा का हेतु है। वह केवल प्रतिभा को संबोधित मात्र करता है और यह प्रतिभा का संबोधन अभ्यास या अनादि वासना के कारण हो जाता है। अतएव बालकों, जड़ों एवं पशु-पक्षियों में भी जन्मान्तरीय वासना होने के कारण यह प्रतिभा देखी जाती है।

अभ्यासात्प्रतिभाहेतुः शब्दः सर्वो परैः स्मृतः।
बालानां च तिरश्चां च यथार्थ प्रतिपादने ॥ (वा. प. २, ११९)

परन्तु कुछ लोगों के अनुसार अभ्यास ही समय या संकेत का कारण होता है।

'अनागमश्च सोऽभ्यासः समयः कश्चिदिष्यते' (वा. प. २, १२०)

इसी संकेत के स्वरूप के कौन-कौन से पक्ष हो सकते हैं, इसकी चर्चा भर्तृहरि ने इस प्रकार की है—

१ पहला पक्ष हो सकता है कि जिस प्रकार अपूर्व, देवता, स्वर्ग आदि शब्दों से किसी आकार का परामर्श नहीं होता, फिर भी उनका कुछ न कुछ वाच्य माना ही जाता है, उसी प्रकार 'गो' आदि से भी अपरामृष्टाकार विशेष ही वाच्य होता है। केवल अर्थ मात्र प्रतीत होता है, उसमें आकार आदि का ज्ञान नहीं होता। हाँ उसके साथ जो आकार आदि ज्ञान होता है, वह यत्नान्तर का फल है।

अस्त्यर्थः सर्व-शब्दानामिति प्रत्याय्य लक्षणम् ।
अपूर्व–देवता स्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ।।
प्रयोगदर्शनाभ्यासादाकारावग्रहस्तु यः
न स शब्दस्य विषयः सहि यत्नान्तराश्रयः । (वा. प. २, १२१–१२२)

२ दूसरा पक्ष यह है कि कुछ तो शब्द का वाच्य होता है और कुछ अनुनिष्पादी होता है अर्थात् जाति आदि तो शब्द के वाच्य होते हैं, परन्तु कुछ अर्थ के प्रयोजक आकार, वर्ण, व्यक्ति आदि अनुनिष्पादी होते हैं ।

केचिद्भेदाः प्रकाश्यन्ते शब्दैस्तदभिधायिभिः ।
अनुनिष्पादिनः कैश्चिच्छब्दार्थ इति मन्यते ।। (वा. प. २, १२३)

जिस प्रकार 'यजेत' आदि क्रिया, विना कर्ता, कर्म, साधन-सामग्री के व्यर्थ है उसी प्रकार जाति, विना आकार, वर्ण, व्यक्ति के व्यर्थ है । अतः ये अनुनिष्पादी अर्थ हैं, शब्द के वाच्य नहीं ।

क्रिया विना प्रयोगेण न दृष्टा शब्द-चोदिता ।
प्रयोगस्त्वनुनिष्पादी शब्दार्थ इति मन्यते ।। (वा. २, १२६)

३ तीसरा मत यह हो सकता है कि जिस के विना शब्द के अभिधेय का लोक में व्यवहार का निर्वाह न हो पा रहा हो उन सभी को शब्द का वाच्य मानना चाहिए जिनमें से कुछ अर्थ शब्द के द्वारा प्रतीत होंगे और वे प्रधान होंगे और कुछ का नान्तरीयकतया अर्थात् नियत या अनिवार्य होने से अनुगम हो जाएगा, अतः वे गौण रहेंगे ।

नियतास्तु प्रयोगा ये नियतं यच्च साधनम् ।
तेषां शब्दभिधेयत्वमपरैरनुगम्यते ।। (वा. प. २,१२७)

४ चौथा मत यह हो सकता है कि जाति, आकृति, व्यक्ति इन सभी का समुदाय ही वाच्य होता है । इस मत में यह प्रश्न होता है कि यदि समुदाय वाच्य है तो सर्वदा एकवचन ही होना चाहिए और यदि विकल्प का वाच्यत्व अभीष्ट है तो सर्वदा बहुवचन ही होना चाहिए, अतः वाच्य में विकल्प या समुदाय नहीं माना जा सकता ।

समुदायो मिथोयः स्यादविकल्प-समुच्चयः (वा. प. २, १२७)

५ पाँचवां मत यह हो सकता है कि संसृष्ट अर्थात् संसर्गयुक्त पदार्थ ही सत्य होता है और संसर्ग स्वयं असत्य होता है । परन्तु यह असत्यभूत संसर्ग ही वाच्यार्थ होता है

'असत्यो वापि संसर्गः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते' (वा. प. २,१२८)

६ छठवाँ मत यह हो सकता है कि असत्य उपाधि से विचित्रित सत्य ही शब्द का वाच्य होता है ।

'असत्योपाधि यत्सत्यं तद्वा शब्द-निबन्धनम्' (वा. प. २, १२८)

७ सातवाँ मत यह हो सकता है कि अभिजल्पत्व या अभ्यासरूपता को प्राप्त शब्द ही वाच्य है ।

'शब्दो वाप्यभिजल्पत्वमागतो याति वाच्यताम् । (वा. प. २, १२९)

इस अभिजल्पत्व या अध्यास को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि लिखते हैं कि 'सोऽयम्' इस प्रकार

का जो अभिसम्बन्ध है, उसके कारण शब्द से पदार्थ का स्वरूप आच्छादित हो जाता है और इस प्रकार एकीकृत रूप की ही प्रतीति होती है। हाँ, यह बात दूसरी है कि शब्द और अर्थ के एकात्मक होने पर भी अर्थांश की ही प्रधानता रहती है।

सोऽयमित्यभिसन्धाद्रूपमेकीकृतं यदा।
शब्दस्यार्थेन, तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते ।। (वा. प. २,१३०)

यद्यपि लोक में अर्थांश की प्रधानता होती है तथापि शास्त्र में कभी तो शब्द का स्वरूप प्रधान होता है और कभी उसका अर्थांश।

'शास्त्रे तूभयरूपत्वं प्रविभक्तं विवक्षया' (वा. प. २, १३२)

८ आठवाँ मत यह हो सकता है कि अर्थों में पृथक् शक्ति नहीं होती है, अपितु वे शब्द के अधीन होते हैं। शब्द के द्वारा जैसे-जैसे अर्थ कहे जाते हैं, वैसे-वैसे ही अर्थों का बोध होता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि शब्द ही अपने माहात्म्य से जो अर्थ उपस्थापित करते हैं, वे ही उनके वाच्य होते हैं।

'अशक्तेः सर्वशक्तेर्वा शब्दैरेव प्रकल्पिता।' (वा. प. २, १३३)

९ नवां मत यह है कि प्रतिनियम शक्ति का अभिधान ही शब्द का वाच्य होता है। वह शक्ति का अभिधान कभी क्रिया रूप में और कभी सिद्ध रूप में होता है।

'अशक्तेः सर्वशक्तेर्वा शब्दैरेव प्रकल्पिता।
एकस्यार्थस्य नियता क्रियादि-परिकल्पना ।।' (व. प., २,१३३)

१० दसवाँ मत यह हो सकता है कि बौद्ध अर्थ ही शब्द का वाच्य होता है, वाह्यार्थ नहीं। बाह्यार्थ के सत्य न होने पर भी दृश्य विकल्प के साथ बौद्ध पदार्थ के एकाकार रूप होने से यह बौद्धार्थ ही बाह्यार्थ रूप में अध्यस्त हो जाता है और उस अध्यस्त वस्तु को ही शब्द से समझा जाता है।

यो वाऽर्थो बुद्धि-विषयो बाह्यवस्तु-निवन्धनः।
स बाह्य-वस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते ।। (वा. प. २, १३४)

११ ग्यारहवां मत यह हो सकता है कि जिन शब्दों का आकार व्यक्त रूप में देखा जा सकता है या जिसका स्मरण किया जा सकता है, उनका वाच्य संवेद्य अर्थात् आकार विशेष वाला और अपूर्व, देवता, स्वर्ग आदि का वाच्य संविन्मात्र अपरामृष्टाकार विशेष अर्थात् आकार विशेष के परामर्श से विहीन ज्ञान मात्र है।

आकारवन्तः संवेद्या व्यक्तस्मृति-निबन्धनाः।
ये तो प्रत्यवभासन्ते संविन्मात्रं त्वतोऽन्यथा ।। (वा. प. २, १३५)

१२ बारहवाँ मत यह है कि किसी शब्द का वाच्य नियत नहीं है, अपितु उन-उन शास्त्रकारों ने अपनी-अपनी प्रतिनियत वासना के कारण प्रतिनियताकार अर्थ का प्रतिपादन किया है। जैसे वैशेषिक दर्शन के आचार्य 'घट' शब्द का प्रयोग अवयवी के प्रतिपादन के लिए, सांख्य-दर्शन के आचार्य गुणसमाहारमात्र के प्रतिपादन के लिए और जैन तथा सौगत परमाणु-संचय मात्र के प्रतिपादन के लिए किया करते हैं।

"वक्त्रान्यथैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु ।
स्वप्रत्ययानुकारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते ॥
एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे दर्शनं भिद्यते पृथक् ।
कालान्तरेण वैकोऽपि तं पश्यत्यन्यथा बुधः ॥ (वा. प. २, १३७-८)

कभी-कभी तो एक ही व्यक्ति किसी शास्त्र की प्रतिवासना से जैसा अर्थ समझता रहता है उसके ठीक विपरीत, दूसरे शास्त्र की प्रतिवासना के कारण कालान्तर में समझने लगता है। अतः तत्त्व को न समझ पाने वाले पुरुषों का दर्शन व्यवस्थित नहीं कहा जा सकता और इतना ही नहीं, तत्त्व को समझने के कारण ही उनका दर्शन सापराध (दोषयुक्त) और अनेकविध वाचकों से आक्रांत होता है।

तस्माददृष्ट–तत्त्वानां सापराधं बहुच्छलम् ।
दर्शनं वचनं चापि नित्यमेवानवस्थितम् ॥ (वा. प. २, १४०)

इन मतों को गिनाकर भर्तृहरि ने कहा है कि परमर्षियों का दर्शन तात्त्विक तो है किंतु उसमें व्यवहार असंभव है। यद्यपि जहाँ तक व्यवहार का सम्बन्ध है, उसमें परमर्षि भी साधारणजन के समान ही हैं—

रूपणव्यपदेशाभ्यां लौकिके वर्त्मनि स्थितौ ।
ज्ञाने प्रत्यभिलापे च सदृशौ बालपण्डितौ ॥

तथापि तात्त्विक दृष्टि से सिद्धान्त में उन्होंने पदार्थों से सर्वथा भिन्न (अति व्यतिरिक्त) प्रतिभा को वाक्यार्थ माना है और वह प्रतिभा असत्य, उपाधिभूत पदार्थों से ही ज्ञात होती है।

'विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते ।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ॥ (वा. प. २, १४५)

यह प्रतिभा स्फोट ही है। स्फोट में शब्द और अर्थ यद्यपि भिन्न जैसे प्रतीत होते हैं परन्तु दोनों में मूलतः नित्य ऐक्य है। अतएव तत्-शब्द से तद्-अर्थ की प्रतीति होती है। इसी आधार पर वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ तथा उन दोनों का सम्बन्ध नित्य माना है। व्याडि ने कहा है—

संबन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोक–वेदयोः ।
शब्दैरेवहि शब्दानां संबन्धः स्यात् कृतः कथम् ॥

कात्यायन ने 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' तथा पतंजलि ने—'किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थाभिधानम्, आहो स्विद् वाचनिकम्?' 'स्वाभाविकम्' इत्याह। नैयायिक लोगों ने, 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः, इदं पदमेनमर्थं बोधयतु "अर्थात्" इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिए और यह पद इस अर्थ को जनावे" इस प्रकार का मानवों को और पदों को जो ईश्वर के संकेत देने की बात कही है, वह अनादि और अनन्त भले ही हो या समूल भले ही प्रतीत हो, किंतु ईश्वर के साथ सम्बन्ध होने से नित्य ही है। मीमांसक लोगों ने भी शब्द को औत्पत्तिक अर्थात् नित्य ही माना है। योगसूत्र के व्यासभाष्य में (जै. सू. १।१।५) लिखा है–'किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वम्, अथ प्रदीप-प्रकाशवदवस्थितम्। स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः, संकेतेना-

वद्योत्यते अयमस्य पिता अयमस्य पुत्र इति ।" चाहे सम्बन्ध नित्य हो या अनित्य किंतु संकेतित अर्थ क्या है, इसका उत्तर भाष्यकार पतंजलि ने इस प्रकार दिया है—"चतुष्टयी शब्दानां प्रवृतिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छा शब्दाश्च ।' मीमांसकों ने जाति को ही संकेतित माना है और कार्य-निर्वाह के लिए व्यक्ति का आक्षेप स्वीकार किया है। उनका यह भी कहना है जो अन्य गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्द हैं उनमें भी अयं शुक्लः 'अयं शुक्लः' 'गुडपाकः' 'तण्डुल-पाकः' तथा विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चारित विभिन्न डित्थ आदि शब्दों के भेदों में भी अनुगत एकाकार-प्रतीतिरूप सामान्य ही होने से जाति ही संकेतित है। नैयायिकों का कहना है कि जाति को संकेतित मानने पर व्यक्ति का आक्षेप करना पड़ेगा और इस प्रकार आक्षिप्त पदार्थ का शब्दबोध न होने से उसका शाब्दबोध में अन्वय नहीं हो सकता । क्योंकि 'शाब्दीहि आकांक्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' । अतः ये लोग "जात्या-कृतिव्यक्तयस्तु पदार्थाः' (न्या. सू. २/२/६८) अर्थात् जात्याकृति-विशिष्ट व्यक्ति को संकेतित मानते हैं। बौद्ध लोग 'अपोह' को अर्थ मानते हैं । अपोह का अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति या 'तद् भिन्न-भिन्नत्व' है। जो कार्य नैयायिकों के यहाँ सामान्य का है वही कार्य इनके यहाँ क्षणिकवादी होने के कारण अपोह करता है। चाहे गो व्यक्ति पच्चीस हों, किन्तु उनमें प्रत्येक गोव्यक्ति गोभिन्न से भिन्न ही है।

□□□

६

शब्दार्थ-सम्बन्ध : नैयायिक दृष्टि

प्रस्तुत लेख का विषय है 'शब्दार्थ-सम्बन्ध' । इस विषय पर विचार करने की पृष्ठभूमि है 'नियत शब्दों से नियत अर्थों का बोध' । यह सर्वमान्य सत्य है कि शब्द से अर्थबोध का उदय होता है । इस विषय में किसी विद्वान् की कभी कोई विमति नहीं रही । हाँ, अर्थबोध की प्रकृति के विषय में विद्वानों में मतभेद अवश्य रहा है । कुछ विद्वानों का कहना है कि शब्द से अर्थ का बोध होता है अवश्य, पर वह बोध अनुभवात्मक न होकर उपस्थित्यात्मक होता है । उपस्थित्यात्मक का अर्थ है स्मरणात्मक । इन विद्वानों की इस मान्यता का आधार है लोकव्यवहार । उनका आशय यह है कि मनुष्य को शब्दार्थ का ज्ञान समाज के उन वयस्क-व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार से होता है जिनके समक्ष मनुष्य एक छोटे से शिशु के रूप में पैदा होता है और जिनके स्नेहमय प्रभाव और सहयोग से वह लालित, पालित, शिक्षित एवं विकसित होता है । यह व्यवहार भाषा के माध्यम से होता है और यह भाषा वाक्यात्मक होती है । उदाहरणार्थ "घटमानय या घड़ा ले आओ' इस वाक्यात्मक भाषा की चर्चा की जा सकती है । जब एक वयस्क व्यक्ति अपने कनिष्ठ किसी व्यक्ति को आदेश देता है कि 'घड़ा ले आओ' तब इस वाक्य को सुनकर दूसरा व्यक्ति घड़ा ले आता है' उन दोनों वयस्क व्यक्तियों के निकट बैठा हुआ बालक उक्त वाक्य को सुनने के कारण घड़ा लाने की क्रिया को देख कर, घड़ा लाने वाले व्यक्ति के उस प्रवृत्यात्मक प्रयत्न का अनुमान करता है । जिस प्रयत्न से घड़ा लाने की क्रिया सम्पन्न हुई है, और इस प्रयत्न से उस व्यक्ति के उस ज्ञान का अनुमान करता है, जिस ज्ञान से वह व्यक्ति घड़ा लाने में प्रवृत्त हुआ है । फिर वह बालक इस अनुमान पर पहुँचता है कि घड़ा लाने वाले व्यक्ति को घड़ा लाने में प्रवर्तक ज्ञान का उदय किसी कारण से नहीं, अपितु घड़ा लाने की आज्ञा देने वाले व्यक्ति के 'घटमानय' इस वाक्यात्मक भाषा से ही हुआ है, क्योंकि उस वाक्य के उच्चारण के समय ज्ञान का कोई अन्य साधन सन्निहित नहीं है और उक्त वाक्य के अनन्तर ही उक्त ज्ञानात्मक प्रयत्न से घड़ा लाने की क्रिया सम्पन्न हुई है । इस प्रकार जब बालक को यह ज्ञान हो गया कि 'घटमानय' इस वाक्य से घड़ा लाने की क्रिया में कर्तव्यता का बोध होता है, घड़ा लाने की कर्तव्यता 'घटमानय' इस वाक्य का अर्थ है, तब जब किसी अन्य समय कोई वयस्क पुरुष उस बालक को 'घटमानय' इस वाक्य से घड़ा लाने का आदेश देता है, तब 'घटमानय' इस वाक्य को सुनते ही उसे घड़ा लाने की कर्तव्यता रूप उस अर्थ की स्मृति हो जाती है, जिसे वह अन्य वयस्क व्यक्तियों के व्यवहार द्वारा 'घटमानय' इस वाक्य का अर्थ समझ चुका है । इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज के भीतर व्यवहार के माध्यम से मनुष्य को वाक्यात्मक भाषा का ही

अर्थ अवगत होता है। अतः अर्थ की पूर्वावगति होने के कारण कालान्तर में उसे उस प्रकार की वाक्यात्मक भाषा से उसके अर्थ की स्मरणात्मक उपस्थिति में कोई बाधा नहीं होती। अतः इस मान्यता के लिये पर्याप्त आधार है कि शब्द से उत्पन्न होने वाला अर्थ-बोध अनुभवात्मक नहीं किन्तु स्मरणात्मक होता है।

अन्य विद्वानों को इस मान्यता में त्रुटि प्रतीत होती है। वे सोचते हैं कि ऐसा तो नहीं है कि श्रोता के समक्ष उसके जीवन में जितने वाक्य उपस्थित होते हैं वे सब उसे वयस्क व्यक्तियों के परस्पर व्यवहार द्वारा उसके प्रारंभिक जीवन में ही अवगत हो जाते हैं। सच बात तो यह है कि मनुष्य अपने बाल्यकाल में समाज के वयस्कों द्वारा भाषा का थोड़ा परिचय प्राप्त करता है। उस समय थोड़े से वाक्यों के अर्थ वह जान पाता है। पर जब स्वयं वयस्क होता है, उसके मन और मस्तिष्क की शक्ति का विकास होता है। समाज में उसके परिचय की परिधि का विस्तार होता है, तब उसके सामने अनेक नये-नये वाक्य आते हैं। वह स्वयं भी अनेक वाक्यों का प्रयोग करने लगता है, तो उन सभी वाक्यों के अर्थ तो उसे पहले से अवगत नहीं रहते, उन वाक्यों के अर्थ तो उसके लिये अपूर्व-पूर्वानुभूत होते है, फिर उन वाक्यों से होने वाले अर्थबोध को स्मरणात्मक कैसे माना जा सकता है? अतः ये विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मनुष्य को उसकी बाल्यावस्था में जब वयस्क व्यक्तियों के व्यवहार से भाषा का अर्थबोध होता है तब उसी समय उसे वाक्यार्थ के साथ ही वाक्य विभिन्न पदों के विभिन्न अर्थों की भी अवगति हो जाती है। अतः उस अवस्था में जिन पदों के अर्थ उसे अवगत हो जाते हैं, उन पदों द्वारा बनने वाले नये वाक्यों को जब वह कालान्तर में सुनता है, तब उसे उन नये वाक्यों का सीधे अर्थवोध तो नहीं हो पाता, पर उन वाक्यों के पदों के अर्थ उसे उपस्थित हो जाते हैं। क्योंकि पदों के अर्थ उसे पहले अवगत हो चुके रहते हैं। पदों के अर्थों की स्मृति होने पर वह उन स्मृतियों के द्वारा उनके परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ का मानस ज्ञान अर्जित कर लेता है। इस प्रकार विद्वानों के मन से मनुष्य जब कोई वाक्य सुनता है तब उसे उस वाक्य के विभिन्न पदों के विभिन्न अर्थों की स्मृति होती है और उन स्मृतियों से उसे वाक्यार्थ की अलौकिक मानस अनुभूति होती है।

दूसरे विद्वानों को इस मान्यता में भी त्रुटि परिलक्षित होती है। वे ऐसा सोचते हैं कि यदि भाषा का केवल इतना ही कार्य है कि वह अपने अन्तर्वर्ती पदों के अर्थों की अलग-अलग केवल स्मृति मात्र कराती है, उन अर्थों के परस्पर संबंध को बताने में वह असमर्थ है, उसे तो श्रोता को अपनी बौद्धिक क्षमता से अपने मन से ही समझना होता है, तब तो यह आवश्यक न होगा कि वक्ता जिस विशिष्ट अर्थ की अवगति कराने के उद्देश्य से भाषा का प्रयोग करता है, श्रोता को उसी विशिष्ट अर्थ की अवगति हो या उस विशिष्ट अर्थ की अवगति अवश्य हो। तब तो ऐसा हो सकता है कि किसी व्यक्ति ने किसी विशेष अभिप्राय से एक वाक्य का प्रयोग किया, किन्तु श्रोता उस वाक्य के पदों के अर्थों की उपस्थिति के अनन्तर उन अर्थों के मनमाने संबंध का परिज्ञान कर कुछ और ही अर्थ समझ ले, और ऐसा होने पर भाषा का प्रभाव और भाषा का महत्त्व ही समाप्त हो जायगा। इसके अतिरिक्त इस मत में एक यह भी त्रुटि है कि किसी वाक्य को सुनने के बाद श्रोता को उस वाक्य के पदों से उपस्थित होने वाले अर्थों के ही परस्पर संबंध का बोध न होकर उसके

साथ ही ऐसे अर्थों के भी परस्पर संबंध का बोध होने लगेगा जो अर्थ पदों से उपस्थित न हों, किसी अन्य साधन से उपस्थित हुए हों, जब कि अनुभव यह है कि किसी वाक्य को सुनने के पश्चात् उस वाक्य के पदों से उपस्थित होने वाले अर्थों का परस्पर संबंध प्रतीत होता है।

उक्त त्रुटि के कारण अन्य विद्वान् इस मत की भी उपेक्षा कर अपना यह मत प्रतिष्ठापित करते हैं कि वाक्यों का श्रवण होने के पश्चात् वाक्यार्थ का बोध स्वयं वाक्य से न होकर अनुमान से होता है। अतः वाक्यार्थ-बोध एक अनुमित्यात्मक ज्ञान है। यह अनुमिति दो रूपों में सम्भव है, पदपक्षक और पदार्थपक्षक। वाक्यार्थ की पदपक्षक अनुमिति को इस प्रकार उदाहृत किया जा सकता है—जैसे किसी वक्ता ने किसी श्रोता के प्रति 'गौः अस्ति-या गाय है' इस वाक्य का प्रयोग किया, तो इस वाक्य को सुनकर श्रोता यह अनुमान कर सकता है कि 'गौः अस्ति' यह वाक्य ऐसे व्यक्ति से उच्चरित है जिसे इस वाक्य के अर्थ अस्तित्व विशिष्ट गौ का ज्ञान है, क्योंकि जो व्यक्ति जिस अर्थ को जानता है, वह उस अर्थ का बोध कराने के उद्देश्य के वाक्य का प्रयोग करता है, अन्य नहीं। इसलिए यह वाक्य जिस व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त हुआ है, अवश्य ही उसे इस वाक्य के अमुक अर्थ का ज्ञान है, यह अनुमिति ही श्रोता का वाक्यार्थ-बोध है।

पदार्थपक्षक अनुमिति को इस रूप में उदाहृत किया जा सकता है कि जब कोई वक्ता किसी श्रोता के प्रति किसी वाक्य का प्रयोग करता है, तब श्रोता को उस वाक्य के विभिन्न पदों के अर्थ उपस्थित हो जाते हैं। अब श्रोता उन अर्थों के परस्पर संबंध का अनुमान इस प्रकार कर सकता है कि ये अर्थ परस्पर-संबद्ध हैं, क्योंकि ये ऐसे-ऐसे पदों से उपस्थापित हुए हैं जिनमें परस्पर आकांक्षा और आसत्ति है तथा जिनके परस्पर संबंध होने में कोई बाधा नहीं है एवं जो परस्पर संबंध का बोध कराने के अभिप्राय से ही वक्ता द्वारा प्रयुक्त हैं। पदार्थपक्षक वाक्यार्थ-अनुमान की और भी पद्धतियाँ यत्र-तत्र उल्लिखित उपलब्ध होती हैं, पदपक्ष वाक्यार्थानुमान के भी अनेक प्रकार ग्रन्थों में यत्र-तत्र चर्चित हैं, जिनकी चर्चा करने से लेख का अनावश्यक विस्तार होगा।

दूसरे विद्वान् को वाक्यार्थ की अनुमिति होने की यह मान्यता भी त्रुटिपूर्ण लगती है। उनका कहना है कि अनुमिति की प्रक्रिया बड़ी जटिल है उसके लिये पक्ष, साध्य और हेतु का निर्दोष उल्लेख होना चाहिए। हेतु में साध्य की व्याप्ति के अवगत होने के लिए उचित दृष्टान्त होने चाहिएँ। पक्ष के साथ हेतु के संबंध का ज्ञान होना चाहिए। सिद्धसाधन आदि नहीं होने चाहिएँ। साथ ही इस बात की पूरी सावधानी होनी चाहिए कि शब्द से वाक्यार्थ की अनुमिति होने के लिये भी श्रोता की वही आत्मिक स्थिति अथवा वही मनोदशा होनी चाहिए जो शब्द से वाक्यार्थ का अन्वयविध बोध करने पर अपेक्षित होती है। इन सब बातों के अतिरिक्त मत में एक यह दोष अपरिहार्य प्रतीत होता है कि किसी वाक्य को सुनने पर जैसे वाक्यघटक पदों के अर्थों के बीच विवक्षित संबंध का अनुमान होगा, उसी प्रकार जो अर्थ वाक्यघटक पदों से उपस्थित नहीं हैं किन्तु अन्य साधन से उपस्थित हैं और उनके परस्पर संबंध के अनुमान की कारण-सामग्री प्रस्तुत है तब वाक्यार्थ के अनुमान के साथ साधनान्तर से उपस्थित उन अर्थों के परस्पर संबंध रूप अवाक्यार्थ का भी अनुमान होने लगेगा।

जिस विद्यासम्प्रदाय में एक मात्र ही वस्तु के यथार्थ ज्ञान का स्रोत है उस सम्प्रदाय के विद्वान् तो शब्द से वाक्यार्थ के निश्चयात्मक बोध की परिकल्पना ही नहीं करते, वे तो शब्द से वाक्यार्थ का संभावनात्मक बोध मानते हैं, जो एक ऐसा संशयात्मक ज्ञान है जिसमें एक कोटि अनुत्कट और एक कोटि उत्कट होती है। इस उत्कट कोटि के कारण ही यह संशय अन्य संशयात्मक ज्ञानों से विलक्षण होने के कारण संभावनात्मक ज्ञान शब्द से व्यपदिष्ट होता है।

न्यायदर्शन में शब्द से होने वाले अर्थबोध के उक्त सभी पक्षों में त्रुटि बताकर यह स्वीकार किया गया है कि शब्द सुनने के बाद जो वाक्यार्थ बोध होता है वह अनुभव रूप है और यदि वाक्यार्थ किसी प्रमाणान्तर से बाधित नहीं होता तो वह अनुभव यथार्थ होता है, प्रमात्मक होता है और यह प्रमात्मक बोध प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि से सर्वथा विजातीय होता है। इस विजातीय शब्दबोधात्मक प्रमा का कारण होने से ही वाक्यात्मक शब्द एक स्वतंत्र प्रमाण होता है।

अब प्रश्न उठता है कि जिस शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है उनके बीच कोई संबंध होता है या नहीं। इसके साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि शब्द स्वरूपतः अर्थबोध का कारण होता है या उसके ज्ञान का कारण होता है? यदि ज्ञान कारण होता है तो उसके स्वरूपकार्य का ज्ञान कारण होता है अथवा अमुक शब्द अमुक अर्थ से सम्बद्ध है इस प्रश्न का ज्ञान कारण है। यदि शब्द और अर्थ के परस्पर संबंध का ज्ञान कारण है, यदि शब्द के साथ अर्थ के किसी विशेष संबंध का ज्ञान शब्द से अर्थबोध होने के लिए अपेक्षित है तो वह कौन-सा संबंध सम्भव है तथा उस सम्बन्ध के संबंधी शब्द और अर्थ का क्या स्वरूप है एवं उनके बीच उस विशेष प्रकार के संबंध कितने प्रकार के संभव हैं और उनके परिज्ञान का क्या उपाय है? साथ ही यह भी प्रश्न होता है कि क्या शब्द से अर्थ बोध होने के लिए शब्दार्थ-संबंध-ज्ञान ही अकेले पर्याप्त है अथवा कुछ अन्य कारण भी हैं? यदि हैं, तो वे कौन से कारण हैं तथा उन सभी का एक साथ सन्निधान किस प्रकार संभव हो पाता है? इन सभी प्रश्नों के ऊपर विचार किये बिना शब्द से अर्थबोध होने की प्रक्रिया का अवबोध कराना संभव नहीं है पर इस लेख में उन सभी का समावेश नहीं किया जा सकता, यहाँ तो संक्षेप में शब्दार्थ के संबंध के बारे में विभिन्न दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए इस विषय में न्यायदर्शन के विचार ही प्रस्तुत हैं।

'शब्द से अर्थ का बोध होता है, किन्तु सब शब्दों से सब अर्थों का बोध नहीं होता। साधारण स्थिति में नियत शब्दों से नियत अर्थों का ही बोध होता है। प्रश्न होता है कि यह वस्तुस्थिति क्यों है, कोई भी शब्द किसी भी अर्थ का स्वाभाविक ढंग से बोधक क्यों नहीं होता? इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जा सकते हैं, एक यह कि जिस शब्द से जिस अर्थ का बोध साधारणतया मान्य है उस शब्द में या उस शब्द के ज्ञान में उस अर्थ के बोध की कारणता है, और जिस शब्द से जिस अर्थ का बोध साधारणतया मान्य नहीं है उस शब्द में उस अर्थ के बोध की कारणता नहीं है। उक्त प्रश्न का उत्तर एक यह हो सकता है कि सब शब्दों में सब अर्थों के बोध की कारणता नहीं है, किन्तु नियत शब्दों में नियम अर्थों के ही बोध की कारणता है, अतः सब शब्दों से सब अर्थों का बोध न होकर नियत शब्दों से नियत

अर्थों का ही बोध होता है। शब्द में रहने वाली अर्थबोध की यह कारणता ज्ञात होकर अर्थबोध की प्रयोजक होती है। अतः जिसे शब्द और उसका अर्थ स्वतंत्ररूप से स्वरूपतः ज्ञात रहता है किन्तु उस शब्द में उस अर्थ के बोध की कारणता नहीं ज्ञात रहती, उसे उस शब्द से उस अर्थ का बोध नहीं होता। इस मत में यह त्रुटि है कि इसमें वाचक, लक्षक शब्दों में तथा वाच्य, लक्ष्य अर्थों में भेद करना दुष्कर हो जाता है।

उक्त प्रश्न का दूसरा उत्तर यह दिया जा सकता है कि शब्द और अर्थ के बीच एक सम्बन्ध होता है और वही शब्द से अर्थबोध का नियमन करता है। यह सम्बन्ध सब शब्दों और सब अर्थों के बीच नहीं होता, किन्तु नियत शब्दों और नियत अर्थों के ही बीच होता है। यही कारण है कि सब शब्दों से सब अर्थों का बोध न होकर नियत शब्दों से नियत अर्थों का ही बोध होता है। क्योंकि शब्द और अर्थ के बीच के इस सम्बन्ध के आधार पर यह नियम स्वीकृत है कि जो अर्थ जिस शब्द से अमुक सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध होता है उस शब्द से उसी अर्थ का बोध होता है, अन्य अर्थ का नहीं।

शब्द-विशेष के साथ अर्थ-विशेष का यह सम्बन्ध जिसके द्वारा शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष के बोध का नियमन होता है, उसका क्या स्वरूप है, इस विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं जिनमें से प्रमुख मतों की चर्चा इस प्रकार की जा सकती है।

एक मत यह है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध है। तादात्म्य का अर्थ है 'भेद-सहिष्णु अभेद'। इसके अनुसार शब्द और अर्थ में भेद भी होता है और अभेद भी होता है। भेद और अभेद साधारणतया परस्पर विरोधी हैं। जिन वस्तुओं में भेद होगा उनमें अभेद नहीं हो सकता। जैसे गौ और गदहे में भेद है, अतः गौ और गदहे में अभेद नहीं हो सकता। फिर अर्थ यदि शब्द से अभिन्न है, तो शब्द से भिन्न नहीं हो सकता। कुछ लोग

प्रश्न के उत्तर में यह कहते हैं कि युक्ति से शब्द और अर्थ के बीच भेद और अभेद दोनों की सिद्धि होती है। युक्तियों के समान होने से दोनों में किसी एक को सत्य और किसी एक को असत्य नहीं कहा जा सकता। अतः दोनों को ही सत्य मानना होगा, परस्पर विरोधी दो वस्तुओं को एकत्र सम्भव बनाने के लिये एक भेदाभेद को अन्य भेदाभेदों से पृथक् करने के लिए इसे अचिन्त्य भेदाभेद कहा जा सकता है। शब्द और अर्थ की आपसी भिन्नता उनके वैलक्षण्य से सिद्ध होती है। जैसे 'अग्नि' शब्द से दाह नहीं होता, किन्तु अग्नि अर्थ से दाह होता है। शर्करा शब्द से मुँह नहीं मीठा होता, पर शर्करा अर्थ से मुँह मीठा होता है। पानी शब्द से प्यास नहीं जाती, पर पानी अर्थ से प्यास चली जाती है। इसका कारण शब्द और अर्थ में परस्पर भिन्नता अपरिहार्य है। अर्थ की उपलब्धि शब्द के बिना नहीं होती, अर्थ का अभिलाप शब्द को छोड़कर नहीं होता "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।" यदि अर्थ शब्द से भिन्न होता तो उस शब्द को छोड़कर भी उपलब्ध होना चाहिए। पर ऐसा कभी नहीं होता। अतः अर्थ में शब्द का अभेद अपरिहार्य है। दूसरी बात यह है कि अर्थ का प्रादुर्भाव शब्द से ही होता है। शब्द ही अर्थ का उपादान है। अतः जैसे सुवर्णोपादानक कटक, कुण्डलादि में सुवर्ण का एवं मृदुपादानक घट, शराव आदि में मृद् का अभेद होता है उसी प्रकार शब्दोपादानक घट अर्थ में शब्द का अभेद अनिवार्य है, इसी प्रकार शब्दोपादानक अर्थ में शब्द का अभेद अनिवार्य है। इस प्रकार शब्द और अर्थ के बीच भेद

सह अभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध है। कुछ विद्वानों का कथन यह है कि अर्थ में शब्द का भेद वास्तविक है और अभेद आरोपित है, अतः अर्थ में शब्द का तादात्म्य 'भिन्नत्वेसति अभिन्नत्वारोप' रूप है। शब्द अर्थ का यह तादात्म्य सब शब्दों और सब अर्थों के बीच नहीं होता, किन्तु शब्द-विशेष और अर्थ-विशेष के ही बीच होता है। यही कारण है कि सब शब्दों से सब अर्थों का बोध न होकर नियत शब्दों से नियत अर्थों का ही बोध होता है। यह मत मुख्य रूप से वैयाकरण और आलंकारिकों को मान्य है। महान् आलंकारिक कवि कालिदास ने रघुवंश के आरम्भ में

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ-प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।

कह कर शब्द और अर्थ के इसी तादात्म्य की ओर संकेत किया है। वैयाकरणों में प्रधानतया भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ के इस तादात्म्य को स्वीकार किया है। अर्वाचीन वैयाकरणों में भट्टोजी दीक्षित आदि ने बोधकता-बोधजनकता को शक्ति मानकर उसे ही शब्दार्थ के संबंध रूप में स्वीकृत किया है। कुछ वैयाकरणों ने शब्दार्थ के सम्बन्ध को *योग्यता* शब्द से अभिहित किया है। इनका आशय यह है कि कोई-कोई शब्द किसी-किसी अर्थ के प्रति स्वभावतः योग्य होता है। सब शब्द सब अर्थों के प्रति योग्य नहीं होते। इसी कारण सब शब्दों से सब अर्थों का बोध न होकर नियत शब्दों से नियत अर्थों का ही बोध होता है। नागेश प्रभृति नव्य वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ के बीच वाच्यवाचकभाव नाम का संबंध माना है जो एक अतिरिक्त अखण्ड पदार्थ है।

शब्दार्थ-संबंध के संदर्भ में शब्द और अर्थ के स्वरूप का वर्णन करते हुए व्याकरण शास्त्र में यह तथ्य प्रतिपादित किया गया है कि जिन वर्णात्मक शब्दों को हम सुनते हैं वे वास्तविक शब्द नहीं हैं। वे केवल ध्वनियाँ हैं। मनुष्य के विवक्षामूलक प्रयत्न से उसके शरीर के मूलाधार से उठने वाली वायु के अणु ही कण्ठ आदि स्थानों ने पहुँच कर वर्णों के रूप में परिणत हो जाते हैं और वर्णात्मक होकर ध्वनियों से स्फुटित होते हैं और उनसे स्फुटित होकर वे अर्थ को स्फुट अर्थात् अवगत कराते हैं। "स्फुटति अभिव्यक्तिमति ध्वनिभिर्यः" तथा "स्फुटति अवगतो भवति अर्थो यस्मात्" इन व्युत्पत्तियों से वह वास्तव शब्द स्फोट कहलाता है। यह स्फोट पद के प्रत्येक वर्ण से वाक्य के प्रत्येक पद से तथा पूरे वाक्य से भी अभिव्यक्त होता है। वाक्य से अभिव्यक्त होने पर ही वह वाक्यार्थ का बोधक होता है। वाक्यस्फोट ही मुख्य है, वह स्फोट नित्य, विभु एवं एक है। इसमें जो विभिन्नता प्रतीत होती हैं वह व्यंजक श्रोत्रग्राह्य वर्णात्मक ध्वनियों के सम्बन्ध से औपाधिक है। यह परा वाक् है, ज्योतिरूप है। अतः इससे अर्थों का बोध होना स्वाभाविक है। इस स्फोट से अर्थ का बोध ही नहीं, अपितु स्वयं अर्थ भी उत्पन्न होता है। जैसा कि भर्तृहरि ने

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरं।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।

कहकर इस सत्य का प्रतिपादन किया है।

अन्य विद्वानों को व्याकरण-शास्त्र की इस शब्दार्थ-संबंध-विषयक मान्यता में त्रुटि प्रतीत होती है। वे सोचते हैं कि शब्द का अर्थ और बोध के साथ तादात्म्य मानने में कोई

हृदयस्पर्शी तर्क नहीं है। अर्थ और बोध के उत्पादक को शब्दात्मक मानने में श्रद्धा के अतिरिक्त अन्य कोई आधार नहीं है। अर्थ में शब्द के वास्तविक भेद और आरोपित अभेद की भी बात नहीं मानी जा सकती। क्योंकि अर्थ को शब्दमूलक मानने पर अर्थ में शब्द के अभेद को ही वास्तविक कहना उचित हो सकता है। क्योंकि उपादान और उपादेय में अभेद ही स्वीकृत है। यदि यह कहा जाय कि शब्द अर्थ का विवर्तोपादान है और अर्थ शब्द का विवर्तभूत कार्य है। तो विवर्त में उपादान का अभेद न होकर भेद ही होता है। अभेद तो उस उपादेय में होता है जो उपादान का परिणाम होता है जैसे कुण्डल आदि सुवर्ण का एवं घट, शराव आदि मृत्तिका का। पर रज्जु का विवर्त सर्प एवं शुक्ति का विवर्त रजत, रज्जु और शुक्ति से भिन्न ही होता है। अतः ऐसा मानने पर अर्थ में शब्द के अभेद को आरोपित कहना तो ठीक हो सकता है, पर उनके भेद को वास्तविक कहना उचित न होगा, क्योंकि उपस्थिति में शब्द ही की वास्तव सत्ता होगी अर्थ तो रज्जुरूप आदि के समान अवास्तव होगा। फिर उनके बीच सत्य-भेद ही मान्यता का क्या आधार हो सकेगा।

स्फोट की कल्पना भी एक अनावश्यक कल्पना प्रतीत होती है, क्योंकि जिन वर्णों पदों या वाक्यों से स्फोट की अभिव्यक्ति मानी जायगी, उन्हीं से सीधे अर्थ की भी अवगति हो सकती है, फिर बीच में एक अतिरिक्त स्फोट की अभिव्यक्ति की कल्पना निरर्थक है। शब्द और अर्थ को बुद्धिगत मानकर उनके इस बौद्धिक नैकट्य के आधार पर उनमें परस्पर संबंध की और वह भी तादात्म्य की कल्पना भी उचित नहीं प्रतीत होती। क्योंकि इस कल्पना का कोई आधार नहीं है। सीधे ढंग से यही बात मान्य है कि अर्थ की बाह्य सत्ता है और शब्द की भी बाह्य सत्ता है। बाह्य शब्द ही बुद्धि में आरूढ होकर बाह्य अर्थ को बुद्ध्यारूढ़ बनाता है। 'गौ' शब्द एक जाति के अनन्त 'गौ' व्यक्तियों को केवल गोत्व रूप से अवगत कराता है। अर्थ की बाह्य सत्ता होते हुए भी अर्थबोधक 'गो' आदि शब्दों से वह बोधित नहीं होता अतः उसके बोधनार्थ 'अस्ति' इस पृथक् शब्द का प्रयोग करना आवश्यक होता है। शशशृंग आदि शब्दों के भी शश और शृंग के पृथक् प्रसिद्ध अर्थों के सम्बन्ध का अवगमन होने से उसके प्रयोग की उत्पत्ति हो सकती है।

मीमांसा-दर्शन में शब्द और अर्थ के बीच वाच्यवाचकभाव नाम का एक अतिरिक्त संबंध माना गया है। इस संबंध के आधार पर ही शब्द वाचक और अर्थ वाच्य होता है। यह संबंध सब शब्दों और सब अर्थों के बीच न होकर शब्द-विशेष और अर्थ-विशेष के बीच ही होता है। अतः नियत शब्दों से नियत अर्थों की ही अवगति का नियमन होता है। इस संबंध को शक्ति, अभिधा आदि भी कहा जा सकता है। इसका परिज्ञान अनादि व्यवहार-परम्परा से संपादित होता है। किन्तु इस मान्यता में भी त्रुटि है और वह यह कि वाच्य-वाचकभाव का अर्थ "द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येक मभिसम्बध्यते" के नियमानुसार वाच्यभाव और वाचक भाव अर्थात् वाच्यता एकवाचकता ही हो सकती है। फलतः यदि दोनों को मिलित रूप में संबंध माना जायगा तो वह न शब्दगत हो सकेगा और न अर्थगत, क्योंकि वाच्यता शब्दगत नहीं है और वाचकता अर्थगत नहीं है। यदि यह कहा जाय कि वाच्यत्व और वाचकत्व ये दोनों मिलकर शब्दार्थ-संबंध नहीं हैं किन्तु ये दोनों ही स्वतंत्र संबंध हैं। पर यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वाच्यत्व केवल अर्थगत एवं वाच-

कत्व केवल शब्दगत हैं, अतः उभयनिष्ठ न होने से उन्हें सम्बन्ध कहना भी कठिन है। क्योंकि उभयनिष्ठता संबंध का अनिवार्य स्वभाव है। यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि वाच्यत्व-वाचकत्वान्यतर को शब्दार्थ-संबंध मानने पर यह त्रुटि नहीं हो सकती तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर शब्द में वाच्यता का और अर्थ में वाचकता का व्यवहार आपतित होगा। क्योंकि इन दोनों व्यवहारों का सम्पादक वाच्यत्व-वाचकत्वान्यतर शब्द और अर्थ दोनों में विद्यमान है। यदि यह कहा जाए कि वाच्यवाचकभाव एक अतिरिक्त अखण्ड पदार्थ है और वही शब्द-अर्थ के बीच संबंध है तो यह बात भी ठीक नहीं जँचती, क्योंकि उक्त अखण्ड पदार्थ शब्द और अर्थ दोनों में समान रूप से रहता है। अतः उसके द्वारा शब्द में वाचकत्व और अर्थ में वाच्यत्व की व्यवस्था नहीं हो सकती। अतः शब्दार्थ के इस मीमांसक-सम्मत संबंध में विद्वानों की आस्था नहीं जम पाती।

शब्द नित्य है। उसका अर्थ जाति नित्य है। साधारणतया जाति ही शब्दार्थ है। वैसे कहीं व्यक्ति और कहीं आकृति भी शब्द का अर्थ होता है। जैसे पशु शब्द का अर्थ कोई जाति न होकर व्यक्ति है। "श्येनचितिं चिन्वीत" में श्येन शब्द का अर्थ आकृति है। मीमांसा के इन कथनों की आलोचना को इस लघु लेख में स्थान मिलना संभव नहीं है।

बौद्धदर्शन में प्रत्येक भावात्मक वस्तु को क्षणिक माना गया है। शब्द और अर्थ दोनों ही क्षणिक हैं। अतः उनके बीच कोई सम्बन्ध संभव नहीं है। जो शब्द और अर्थ एक निश्चित सामग्री से एक साथ प्रादुर्भूत होते हैं उसके बीच बोध्यबोधक भाव होता है। यही कारण है कि सब शब्दों से सब अर्थों का बोध नहीं होता, हाँ लोक-व्यवहार के अनुरोध से बौद्धों ने एक ढंग के विभिन्न अर्थों में एक अनुगत अपोह की कल्पना की है। वह अपोह अतद्व्यावृत्तिरूप है, जैसे विभिन्न 'गो' व्यक्तियों में अगोव्यावृत्तिनामक एक अनुगत अपोह रहता है। वह भावात्मक या अभावात्मक न होकर एक ऐसा पदार्थ है जिसे शब्दों से वर्णित करना संभव नही है।

विद्वानों को इस मान्यता में भी त्रुटि प्रतीत होती है। क्योंकि शब्द और अर्थ के नियमित बोध की कोई उचित व्यवस्था इस मत में नहीं हो पाती। बौद्धदर्शन में माने गये चतुर्विध प्रत्ययों में शब्द का सन्निवेश ऐसे ढंग से संभव नहीं हो पाता जिससे शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष के बोध का नियमन हो सके। बौद्धों का अपोह भी केवल श्रद्धा पर आधारित प्रतीत होता है। क्योंकि वह विभिन्न कालिक विभिन्न क्षणिक व्यक्तियों में अनुगत तभी हो सकता है, जब वह अकेले विभिन्न कालों से सम्बद्ध हो और यह बात सर्वक्षणिकवादी बौद्धदर्शन में कथमपि मान्य नहीं हो सकती।

इस प्रकार शब्दार्थ संबंध के विषय में उपर्युक्त मान्यताओं को त्रुटिपूर्ण पाकर न्यायशास्त्र के विद्वानों ने शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में एक ऐसी मान्यता प्रतिष्ठित की है जो मनुष्य के अनुभव और तर्क पर आश्रित है।

न्यायशास्त्र के मतानुसार शब्द आकाश का गुण है, उसके मुख्य दो भेद हैं, वर्ण और ध्वनि/पद, वाक्य, प्रबन्ध आदि वर्णों से सम्पन्न होने के कारण वर्णात्मक शब्द की श्रेणी में आ जाते हैं। वर्णात्मक शब्दों का उदय शरीर के मूलाधार से उत्थित वायु के कण्ठ तालु आदि से टकराने पर होता है। उसका फैलाव वक्ता के मुख से दूरस्थ श्रोता के कान तक

वीचि-तरंग या कदम्बगोलक न्याय से होता है। ध्वनिरूप शब्द का विस्तार भी उसी ढंग से सम्पन्न होता है। आद्य वर्ण संयोजक और अन्त्य वर्ण शब्दज होते हैं। ध्वनिरूप शब्द की उत्पत्ति तीन कारणों से होती है, संयोग, विभाग और शब्द। पहला शब्द संयोग या विभाग से उत्पन्न होता है और उसका विस्तार शब्दज शब्द के रूप में होता है। इस शब्द का भी फैलाव वीचि-तरंग या कदम्बगोलक न्याय से होता है।

नैयायिकों के अनुसार वीचि-तरंग और कदम्बगोलक न्यायों को इस प्रकार समझा जा सकता है। जलाशय में कंकड़ फेंकने पर उसके चारों ओर एक लहर उठती है, उसे वीचि कहा जा सकता है। उस लहर से दूसरी और दूसरी से तीसरी इस प्रकार अनेक लहरें उत्पन्न होती हैं। इन सभी लहरों को वीचि-तरंग शब्द से अभिहित किया जाता है। जल में कंकड डालने पर उठने वाली ये लहरें जैसे कंकड के चारों ओर उत्तरोत्तर बढ़ती चलती हैं, ठीक उसी प्रकार किसी संयोग या विभाग से पहला शब्द उत्पन्न होता है। वह जितने आकाशभाग में उत्पन्न होता है, उससे उत्पन्न होने वाला दूसरा शब्द, उससे और अधिक आकाशभाग में उत्पन्न होता है, तीसरा शब्द उससे भी विस्तृत आकाश भाग में उत्पन्न होता है, शब्द के फैलने का, शब्द के अधिकाधिक आकाशभाग में उत्पन्न होने का यह क्रम न्याय-दर्शन में 'वीचि-तरंग न्याय' शब्द से निर्दिष्ट होता है।

कदम्ब का कुड्मल जब विकसित होने लगता है तब उसके चारों ओर अनेक पुष्पदलों की एक पंक्ति बनती है। फिर उस पंक्ति के चारों ओर भिन्न-भिन्न पुष्पदलों की दूसरी पंक्ति और दूसरी पंक्ति के चारों ओर भिन्न-भिन्न पुष्पदलों की तीसरी पंक्ति बनती है, इस क्रम से भिन्न-भिन्न पुष्पदलों की अनेक पंक्तियों का एक पूरा पुष्प खिलकर तैयार हो जाता है। ठीक इसी प्रकार किसी स्थान में बाजा बजने पर या किसी मनुष्य द्वारा एक वर्ण का उच्चारण होने पर एक शब्द उत्पन्न होता है, वह शब्द अपनी परिधि के चारों ओर अपने जैसे अनेक शब्द उत्पन्न करता है। ये शब्द भी अपनी परिधि के चारों ओर अपने जैसे भिन्न-भिन्न शब्द उत्पन्न करते हैं। शब्द के फैलाव का यह क्रम कदम्बगोलक न्याय शब्द से व्यवहृत होता है।

वर्ण और ध्वनिरूप शब्दों में वर्णात्मक शब्दों से ही पद, वाक्य आदि के रूप में मनुष्य-भाषा की रचना होती है। न्यायशास्त्र के अनुसार सर्वप्रथम यह रचना ईश्वर द्वारा सम्पादित हुई है। ईश्वर ने ही सृष्टि का निर्माण कर उसमें मनुष्यों को जन्म देकर उनके आपसी व्यवहार के सम्पादनार्थ उन्हें भाषा का सुन्दर साधन प्रदान किया। ईश्वर ने जो भाषा प्रारम्भिक मानव को प्रदान की, वही भाषा मनुष्य की उच्चारण क्षमता में भिन्नता के कारण, विभिन्न स्थानों के जलवायु में विविधरूपता के कारण तथा देश, काल और काया के भेद से परिवर्तित होती हुई अनेक प्रादेशिक भाषाओं के रूप में विकसित हुई।

ईश्वर ने अपने द्वारा रचित संसार के विभिन्न अर्थों के लिये सृष्टि के प्रारम्भ में ही भिन्न-भिन्न नाम निर्धारित कर दिये थे। ईश्वर द्वारा अर्थों का यह नाम निर्धारण शब्द और अर्थ के परस्पर संबंध का आधार है। अर्थ के नाम का निर्धारण संकेतात्मक ही हो सकता है। क्योंकि आज का मनुष्य भी जब कोई वस्तु बनाता है तो संकेत द्वारा उस वस्तु के नाम का निर्धारण करता है। वह अपनी इस प्रकार की इच्छा व्यक्त करता है कि यह वस्तु अमुक नाम से समझी जाय, अथवा अमुक नाम अमुक वस्तु का बोध करे या अमुक वस्तु का बोध

अमुक नाम से सम्पन्न हो। इनमें पहला संकेत अर्थ-विशेष्यक शब्द-जन्य बोध-विषयत्त्व प्रकारक दूसरा संकेत शब्द-विशेष्यक अर्थ-विषयक बोधजनकत्व प्रकारक हैं, तो अर्थ के नाम निर्धारण का जो रूप आज है निश्चय ही वही रूप सृष्टि के आरम्भ में भी रहा होगा। हाँ, यह बात अवश्य है कि उस समय नाम-निर्धारण क्षम मनुष्य के न होने से नाम-निर्धारण का कार्य ईश्वर ने किया। अतः उक्त तीन प्रकार की ईश्वरेच्छा ही शब्दविशेष से अर्थ-विशेष के बोध की नियामक हुई। फलतः प्रवाही अनादि शब्द का प्रवाही अनादि अर्थ के साथ उक्त प्रकार की ईश्वरेच्छा ही सम्बन्ध है। हाँ सादि शब्दों और सादि अर्थों में अधुनातम नामकर्ता का संकेत ही संबंध है। ईश्वर के उक्त संकेत को ही शक्ति और अधुनातम मनुष्य के उक्त संकेत को परिभाषा कहा जाता है।

उक्त ईश्वर-संकेत शब्द और अर्थ दोनों को विषय करता है। शब्द में रहने वाली उक्त संकेत की विषयता वाचकता रूप तथा अर्थ में रहने वाली उक्त संकेत की विषयता वाच्यता रूप है। जैसे 'गो' शब्द 'गौ' के बोध का जनक हो—'गो शब्दः गोविषयकबोधजनको भवतु' इस संकेत की विषयता जो गो शब्द में है वह गोविषयक बोधजनकत्वनिष्ठप्रकारता निरूपित विशेष्यतारूप है, एवं गौ अर्थ में जो उक्त संकेत की विषयता है वह गो शब्द निष्ठ विशेष्यता-निरूपित जनकत्वनिष्ठ प्रकारतानिरूपित बोध निष्ठप्रकारतानिरूपित प्रकारता-रूप है। इनमें उक्त विशेष्यता रूप विशेषता से वाचकता के तथा उक्त प्रकारता रूप विषयता से वाच्यता के व्यवहार की सिद्धि होती है।

नैयायिकों के अनुसार पद दो प्रकार के होते हैं, एकवर्णात्मक और अनेक वर्णात्मक। एकवर्णात्मक पद के उदाहरण हैं विष्णुवाची 'अ', सुखवाची 'क' और आकाशवाची 'ख' आदि शब्द। अनेकवर्णात्मक पद के उदाहरण हैं, घट, पट आदि शब्द। अनेक वर्णात्मक पदों के संबंध में एक अत्यन्त जटिल समस्या यह खड़ी होती है कि अनेक वर्णों का समूह बनना संभव नहीं है, क्योंकि एक मनुष्य कई वर्णों का एक साथ उच्चारण तो कर नहीं सकता। जब भी वह वर्णों का उच्चारण करेगा, तब क्रम से ही करेगा, और वर्ण जब क्रम से ही उच्चरित होंगे तो क्रम से ही ज्ञात भी होंगे। अतः एक-एक वर्ण अलग-अलग एक-एक ज्ञान का विषय होगा। कई वर्ण किसी एक ज्ञान के विषय न होंगे। यदि यह कहा जाय कि अनेक वर्णात्मक किसी एक पद के अंगभूत सारे वर्ण जब उच्चरित हो जाते हैं, तब उन सबों का एक साथ ही एक ज्ञान उत्पन्न होता है, अलग-अलग एक-एक वर्ण का ज्ञान नहीं होता। तो यह कथन ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि क्रम से उच्चरित होने वाले वर्ण श्रोता के कान में क्रम से ही पहुँचेंगे और कान में पहुँचने पर कोई वर्ण बेसुना रह नहीं सकता। अतः कान में क्रम-प्राप्त वर्णों का क्रमश्रवण ही युक्ति-संगत हो सकता है, एककालिक श्रवण युक्ति-संगत नहीं हो सकता। वर्णों के एककालिक श्रवण में एक बाधा और है और वह यह है कि अनेक वर्णों के एक काल में श्रवण होने के लिए एककाल में उन सभी वर्णों का सन्निधान अपेक्षित है, जो वर्णों के अपने जन्म के तीसरे क्षण में स्वभावतः नश्वर होने के कारण कदापि संभव नहीं है। न्यायशास्त्र में इस समस्या का बड़ा सुन्दर समाधान किया गया है जो इस प्रकार है—यह ठीक है कि वर्ण क्रम से ही उच्चरित होते हैं और अपने तीसरे क्षण में ही नष्ट हो जाते हैं। अतः एक काल में अनेक वर्णों का श्रवण संभव नहीं हो

सकता। फिर भी एक ऐसी विधि है जिससे क्रमोत्पन्न आशुविनाशी वर्णों का एक काल में श्रोत्र द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। वह विधि इस प्रकार है—किसी एक पद के अंगभूत वर्ण जिस क्रम से उत्पन्न होते हैं उसी क्रम से श्रोता द्वारा उनका अनुभव होता है और उसी क्रम से अनुभवों द्वारा उनका संस्कार उत्पन्न होता है। इस क्रम से उस पद का अन्तिम वर्ण जब कान में पहुँचता है तब इस अन्तिम वर्ण से सम्बद्ध हुआ श्रोत्र पूर्व वर्णों के अनुभवों से उत्पन्न हुए इन संस्कारों के सहयोग से एक साथ ही विनिष्ट और विद्यमान सभी वर्णों को विषय करने वाले एक पदज्ञान को उत्पन्न करता है। विनष्ट और वर्तमान वर्णों की ग्राहकता में केवल यही अन्तर होता है कि विद्यमान वर्ण के साथ श्रोत्र का साक्षात् सम्बन्ध होता है और विनष्ट हुए पूर्व वर्णों का काम उनके श्रोत्रज अनुभवों से उत्पन्न उनके संस्कारों से होता है। अनेकवर्णात्मक पद के समान ही अनेक पदात्मक वाक्य का भी ज्ञान उक्त रीति से सम्पन्न हो सकता है।

शब्दार्थ के बीच जो ईश्वर-संकेतात्मक सम्बन्ध माना गया है तथा जिसे शक्ति, अभिधा, वाचकता आदि शब्दों से व्यपदिष्ट किया जाता है। साधारणतया उसी सम्बन्ध के ज्ञान द्वारा ही शब्द से अर्थ के बोध का उदय होता है। किन्तु कभी-कभी ऐसी विशेष स्थिति भी होती है जब इस सम्बन्ध से काम नहीं चल पाता, जैसे किसी ने कहा, "गंगायां घोषः, गङ्गा का अर्थ होता है वह विशेष जलधारा जो हिमालय से भारतवर्ष के पूर्वी समुद्र तक अनवरत प्रवाहित होती है और 'घोष' का अर्थ होता है, आभीर पल्ली, जहाँ अहीर लोग अपनी गायों के साथ निवास करते हैं। स्पष्ट है कि जल में अभीर-ग्राम नहीं टिक सकता। अतः यह मानना पड़ता है कि 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य का गंगा शब्द अपने सहज अर्थ जलप्रवाह के बोधनार्थ नहीं प्रयुक्त है। किन्तु उसके समीपस्थ तीर के बोधनार्थ प्रयुक्त है। किन्तु समस्या यह है कि गंगा शब्द से तीर का बोध हो कैसे? क्योंकि शब्द से अर्थ बोध के सम्पादनार्थ शब्दार्थ के बीच जो सहज सम्बन्ध है वह तीर और गंगा शब्द के बीच नहीं है। इसी समस्या के समाधानार्थ शब्द और अर्थ के बीच लक्षणात्मक एक अन्य सम्बन्ध की भी कल्पना की जाती है। जहाँ शब्दार्थ के शक्ति नामक सहज सम्बन्ध से विवक्षित अर्थ का बोध नहीं हो पाता वहां इस दूसरे सम्बन्ध से उसे सम्पन्न किया जाता है। 'गंगायां घोषः' के गंगा शब्द से तीर का बोध इस लक्षणात्मक सम्बन्ध से ही सम्पन्न होता है।

कुछ विद्वानों ने शक्ति और लक्षणा के अतिरिक्त शब्द और अर्थ के बीच व्यंजनात्मक एक तीसरा सम्बन्ध भी माना है। उनका कहना यह है कि कभी-कभी शब्द से ऐसे अर्थ का भी बोध होता है जिसका बोधन शक्ति या लक्षणा से सम्भव नहीं हो पाता। जैसे 'गंगायां घोषः' इस वाक्य में गंगा शब्द से लक्षण द्वारा गंगा तीर का बोध होने पर उसमें शीतलता और पावनता का भी बोध होता है। क्योंकि यदि यह बोध न होगा तो गंगा शब्द से तीर का बोध कराने का प्रयत्न ही व्यर्थ हो जायगा। तीर की शीतलता और पावनता का यह बोध गंगा शब्द की शक्ति या लक्षणा से सम्भाव्य नहीं है क्योंकि इन अर्थों में गंगा शब्द की न शक्ति ही है और न लक्षणा ही है। अतः ऐसे अर्थों के बोधनार्थ व्यंजनात्मक तीसरा सम्बन्ध मानना आवश्यक है।

अन्य विद्वानों ने 'तात्पर्य' नामक एक चौथे सम्बन्ध की भी कल्पना की है जो वाक्यार्थ के बोध को सुलभ बनाता है। इस प्रकार शब्दार्थ-सम्बन्ध के कुल चार भेद होते हैं। शक्ति,

लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य। किन्तु न्यायशास्त्र में व्यंजना और तात्पर्य को अस्वीकृत कर शक्ति और लक्षणा ये दो ही शब्दार्थ-सम्बन्ध माने गये हैं। जिन अर्थों के बोध के लिए व्यंजना और तात्पर्य को शब्दार्थ-सम्बन्ध के रूप में अन्य विद्वानों द्वारा मान्यता प्राप्त है, इन अर्थों का बोध न्यायमत में प्रकारान्तर से उत्पन्न कर लिया जाता है। व्यंजना से होने वाले बोध को कहीं मन से अलौकिक प्रत्यक्ष के रूप में और कहीं अनुमान से अनुमिति के रूप में माना जा सकता है। जिस वाक्यार्थ-बोध की उत्पत्ति के लिए तात्पर्य वृत्ति मानी गयी है उसे वाक्य -सामर्थ्य रूप आकांक्षा द्वारा न्यायमत में उत्पन्न कर लिया जाता है।

शब्दार्थ के विषय में विद्वानों में अनेक मतभेद हैं। कुछ ने जाति को, कुछ ने व्यक्ति को, कुछ ने आकृति को, कुछ ने अपोह को शब्दार्थ माना है। न्यायशास्त्र में इन सारे मतों को सदोष बताकर अनुभव के आधार पर जाति और आकृति से विशिष्ट व्यक्ति को शब्दार्थ माना गया है। जैसा कि गौतम ने अपने न्यायदर्शन में 'नाव्याकृति-व्यक्तयः पदार्थः 'इस सूत्र द्वारा व्यक्त किया है। प्राचीन नैयायिकों ने सूत्रस्थ आकृति शब्द का अवयव-संस्थान अर्थ मानकर इस सूत्र को उन कतिपय शब्दों के ही अर्थ का प्रतिपादक बताया है, जिनसे आकृति का बोध अनुभाविक है, जैसे गो, घट आदि शब्द।

नवीन नैयायिकों ने जाति शब्द का 'उपाधि' और आकृति शब्द का सम्बन्ध अर्थ मान कर उक्त सूत्र को सभी शब्दों के अर्थ का प्रतिपादक बताते हुए यह सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि शब्द से जो बोध उत्पन्न होता है वह सम्बन्ध-विशेष से धर्मविशेष-विशिष्ट व्यक्ति को विषय करता है। अतः जाति-धर्म-विशेष, आकृति-सम्बन्ध विशेष और व्यक्ति सम्बन्ध विशेष से धर्मविशेष का आश्रय, ये तीनों ही शब्द के अर्थ होते हैं। वह धर्म कहीं जाति रूप और कहीं जाति से भिन्न उपाधि रूप होता है।

शब्दार्थ के संदर्भ में कुछ विद्वानों ने अभिहितान्वयवाद और कुछ ने अन्विताभिधानवाद माना है। अन्विताभिधानवाद मीमांसकों को मान्य है। उन्होंने इसे तीन रूपों में वर्णित किया है, कार्यान्विताभिधान इतरान्विताभिधान और अन्विताभिधान। न्यायशास्त्र में अभिहितान्वय माना गया। उनके अनुसार वाक्यघटक पदों से शुद्ध अर्थ अभिहित होते हैं, उनका पारस्परिक अन्वय वाक्य-सामर्थ्य से अवगत होता है।

शक्ति के आश्रयभूत शब्द के स्वरूप के विषय में भी विद्वानों के मतभेद हैं। वैयाकरण विद्वानों का कहना है कि वर्ण-समुदायात्मक शब्द-शक्ति का आश्रय नहीं हो सकता। क्योंकि वर्ण क्रमोत्पन्न और क्षणिक होते हैं। अतः उनका समुदाय-एक स्थान और एक काल में ही होना अथवा एक ज्ञान का विषय होना सम्भव ही नहीं हो सकता। अतः वैयाकरणों का कहना है कि कान से सुनाई देने वाले वर्ण केवल ध्वनिमात्र हैं, शब्द नहीं हैं। शब्द तो वह है जो इन सभी वर्णों से अभिव्यक्त होता है। वह एक, नित्य और विभु होता है, तथा उसे स्फोट कहा जाता है। यह स्फोट ही अर्थ-शक्ति का आश्रय हो सकता है।

इसके विरुद्ध नैयायिकों का कहना है क्रमोत्पन्न, क्षणिक अनेक वर्णों के एक ज्ञान की उत्पत्ति तो स्फोटवादी को भी किसी न किसी प्रकार अवश्य करनी होगी, अन्यथा नदी आदि शब्दों का उच्चारण होने पर नदी आदि अर्थों के बोधक स्फोट की अभिव्यक्ति न हो सकेगी। यदि नदी शब्द के प्रत्येक वर्ण से स्फोट की अभिव्यक्ति मानी जाती है तो प्रथम

वर्ण से ही उसके सम्पन्न हो जाने से अन्य वर्णों के उच्चरण व्यर्थ हो जाएँगे। यदि यह कहें कि नदी शब्द के प्रत्येक वर्ण से स्फोट की अभिव्यक्ति अस्पष्ट होती है, और स्पष्ट अभिव्यक्त स्फोट ही शब्दार्थ का बोधक होता है, अतः स्फोट की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिये अन्य वर्णों के उच्चरण की सार्थकता सिद्ध हो जायगी, तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि नदी शब्द के सभी वर्णों की क्षमता समान है। अतः यदि उस शब्द के आद्यवर्ण से स्फोट की अस्पष्ट और अपूर्ण ही अभिव्यक्ति होती है तो अन्य शब्द से भी वैसी ही अभिव्यक्ति होगी। फलतः स्फोट की पूर्ण अभिव्यक्ति न होने से उसे अर्थ का बोधक मानना कठिन हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि पूर्व वर्ण के ज्ञान अथवा उनसे होने वाली स्फोट की अपूर्ण अभिव्यतियाँ चरमवर्ण-ज्ञान की सहकारी है, उनके सहयोग से चरमवर्ण के ज्ञान द्वारा स्फोट की पूर्ण अभि-व्यक्ति होने पर उनसे शब्दार्थ का बोध सम्पन्न होता है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्व वर्ण के ज्ञान तथा उनसे होने वाली स्फोट की अपूर्ण अभिव्यक्तियाँ भी क्रमिक और क्षणिक हैं अतः उनसे सम्पूर्ण स्फोट की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं मानी जा सकती। इसलिए किसी न किसी प्रकार नदी आदि शब्दों के सभी वर्णों के सहभावी ज्ञान की कल्पना कर उसी से स्फोट की पूर्ण अभिव्यक्ति और उसके द्वारा शब्दार्थ की अनुभूति माननी होगी तो इस स्थिति में तो यही मानना उचित है कि जब पद और वाक्य का एक ज्ञान संभव है तब उसी से अर्थ-बोध और उक्त ज्ञान से विषयीकृत वर्ण-समुदायात्मक पद में अर्थनिरूपित शक्ति का अवस्थान संभव होने से स्फोटात्मक शब्द की कल्पना निरर्थक है। फलतः वाक्यभावापन्न शब्द अपने अंगभूत पदों से उपस्थित अर्थों के परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ को स्वयमेव प्रतिपादित करते हैं। पदार्थ या वाक्यार्थ की प्रतीति के लिये उन्हें किसी रहस्यात्मक सहयोग की अपेक्षा नहीं है।

□ □ □

७

"पाणिनीय व्याकरण की कतिपय विशेषताएँ"

महर्षि पाणिनि द्वारा निर्मित संस्कृत भाषा के व्याकरण का ग्रन्थ अष्टाध्यायी के नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी कुछ विशेषताएँ इस निबन्ध में दिखलायी जा रही हैं।

किसी भी भाषा के शुद्ध स्वरूप को बताने वाला नियम-विशेष उस भाषा का व्याकरण-शास्त्र कहलाता है। अर्थात् किसी भाषा के विकृत होने पर पुनः निर्मित भाषा के अथवा भाषान्तर के शब्दों को पृथक् कर देने वाला नियम-विशेष उस भाषा का व्याकरण है। संस्कृत भाषा का व्याकरण ऐसा ही है। इसीलिए 'व्याक्रियन्तेऽसाधुशब्देभ्यः साधुशब्दाः पृथक्क्रियन्ते येन तद् व्याकरणम्, यह परिभाषा स्वीकार की जाती है। इसका मतलब यह है कि जिन सूत्रात्मक नियमों से असाधु (अशुद्ध) शब्दों से साधु (शुद्ध) शब्द अलग किये जाएँ, उन्हें व्याकरण कहते हैं। इस तरह व्याकरण पद का योगार्थ भी चरितार्थ होता है। 'अथ शब्दानुशासनम्'[१] इस स्थल में करण के अर्थ में प्रयुक्त ल्युट् प्रत्यय से तथा 'लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम्,'[२] इस स्थल में करणार्थक ल्युट्-प्रत्ययान्त लक्षण शब्द से भी उपर्युक्त अर्थ में ही व्याकरण शब्द का प्रयोग माना जाता है। इतना ही नहीं— 'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत,'[३] इस ऋग्वेदीय मन्त्र में तितउ (चालनी) के दृष्टान्त से व्याकरण पद का यही अर्थ समझाया गया है। तात्पर्यतः जैसे चालनी सक्तु को स्वच्छ कर देती है (भूसी को अलग कर सार भूत सक्तु को भक्षण के योग्य बना देती है) वैसे ही व्याकरण-शास्त्र भाषा के अशुद्ध शब्दों को अलग कर शुद्ध शब्दों का निर्देश करता हुआ भाषा को व्यवहार-क्षम बनाता है।

संस्कृत भाषा के व्याकरण अष्टाध्यायी में यह बात पूर्ण रूप से मिलती है। दृष्टान्त के लिए गो शब्द को ही लीजिए—व्याकरण शास्त्र ने भी इस गो शब्द को 'गावी, गोणी, गोता, गऊ, गाय इत्यादि अशुद्ध शब्दों से अलग कर बताया कि शुद्ध होने के कारण यह शब्द संस्कृत भाषा में व्यवहर्तव्य है तथा गावी, गऊ, इत्यादि अशुद्ध होने से अव्यवहार्य हैं। महर्षि पतंजलि ने भी कहा है एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः यथा गोशब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका—इप्येवमादयः '।[४]

दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि व्याकरण भाषा का बन्धन होने के कारण भाषा को विकृत होने एवं उसके अस्तित्व को मिटने से बचाता है। उदाहरण के लिए दुग्ध से लबालब भरे हुए कलश का मुख अच्छी तरह कपड़े से बाँध कर गंगाजी की अगाध धारा में फेंक दिया जाय, तथा कुछ समय बाद प्रयत्न कर उस कलश को निकाला जाय,

तो हम पायेंगे कि दुग्ध पूर्ववत् सुरक्षित है। उस समय हम यह विचार करेंगे, जो वस्तुतः विचारणीय है, कि यदि कलश का मुख खुला होता तो पूरा का पूरा दुग्ध गंगाजल की अगाध एवं तीव्र धारा में विलीन हो जाता। फिर तो नीर-क्षीर-विवेचनशील कोई हंस ही उस दुग्ध को अलग कर पाता। ठीक यही बात व्याकरण की भी है। व्याकरण, भाषा को विकृत होने से बचा कर उसके अस्तित्व की सुरक्षा करते हुए अमरत्व प्रदान करता है। यदि व्याकरण न हो तो भाषा अपना अस्तित्व ही खो बैठे। इस तरह भाषा को सती साध्वी अव्यभिचारिणी बनाता हुआ व्याकरण-शास्त्र मानों उसका स्वरूप-संरक्षक सत्पति है। यह बात पूर्ण रूप से अष्टाध्यायी के विषय में संघटित होती है, तभी तो संस्कृत भाषा लम्बे अरसे से अब तक जीवित है।

प्रकृति-प्रत्यय-व्युत्पादन भी व्याकरण का प्रधान कार्य अवश्य है, पर नियत नहीं। इसीलिए महर्षि पाणिनि शब्दों के संबंध में अव्युत्पन्न पक्ष मानकर भी डित्थ, कपित्थ इत्यादि शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा के लिए 'अर्थवदधातु—, सूत्र[५] बनाते हैं तथा इसीलिए प्रकृति-प्रत्यय-व्युत्पादन को व्याकरण का लक्षण नहीं माना जाता। यद्यपि शाकटायन महर्षि के मत में सभी प्रातिपदिक व्युत्पन्न अर्थात् धातु से बने हुए ही माने जाते हैं—'सर्वं नामधातुजमाह शकटस्य च तोकम्,[६] परन्तु उनके मत में भी भू, यज, वह, इत्यादि धातु रूप शब्दों में प्रकृति प्रत्यय के न रहने के कारण वहाँ व्याकरण का लक्षण न जा सकेगा। अतः प्रकृति-प्रत्यय-विचार व्याकरण का परिचायक है, लक्षण नहीं। हाँ, पदार्थ-विचार के लिए प्रकृति-प्रत्यय का तथा उनके अर्थों का ज्ञान आवश्यक है। जैसे 'पाचक' इत्यादि शब्दों में पच्-प्रकृति तथा अक प्रत्यय पच् का अर्थ है पकाना, अक का अर्थ है—कर्ता। इस प्रकार पाचक का अर्थ हुआ—पकाने का कर्ता अर्थात् पकाने वाला।

भगवान् महेश्वर से प्राप्त 'अ इ उ ण,' इत्यादि चौदह सूत्रों पर अष्टाध्यायी आधारित है। इन्हीं चौदह सूत्रों से अण् आदि प्रत्याहारों को बना कर बड़ी ही लघुता एवं सरलता से अष्टाध्यायी सम्पन्न हुई है। उदाहरणस्वरूप 'वृद्धिरादैच,'[७] इस पहले ही सूत्र में 'ऐच्' प्रत्याहार है। प्रत्याहार सांकेतिक शब्द है, इसमें दो वर्ण उच्चरित होते हैं—एक तो इन चौदह सूत्रों का अन्त्य वर्ण होता है (जो प्रत्याहार का अन्त्य वर्ण होता है) तथा दूसरा इन सूत्रों का आदि या मध्य वर्ण होता है (जो प्रत्यहार में पहला वर्ण होता है) । ये दोनों वर्ण मिलकर अण, अक्, अच् इत्यादि रूप लेते हैं साथ ही मध्य के वर्णों का एवं आदि का भी बोध कराते हैं। इसके लिए पाणिनि ने दो सूत्र बनाये हैं—'हलन्त्यम्[८],' एवं 'आदिरन्त्येन सहेता।[९] अन्तिम वर्णों की इत्संज्ञा होने से उनका ग्रहण प्रत्यहारों में नहीं किया जाता। भाष्यकार ने कहा है—

> प्रत्याहारेष्वनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न।
> आचारादप्रधानात्वाल्लोपश्च बलवत्तरः।[१०]

संस्कृत भाषा की दृष्टि से इन्हीं चौदह सूत्रों में आये हुए वर्ण प्रामाणिक हैं। इनका जिस स्थान एवं प्रयत्न से उच्चारण शिक्षादि-ग्रन्थ ने प्रतिपादित किया है वही उच्चारण शुद्ध माना जाता है। इस तरह शिक्षा एवं व्याकरण की रीति से उच्चरित शब्द साधु हैं,

यही व्याकरण की मान्यता है, न कि दूसरे प्रकार से किये गये उच्चारण।

अष्टाध्यायी के सूत्रों में सूत्र का लक्षण पूर्ण रूप से घटित होता है : वह लक्षण है—

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥[११]

न्यूनातिन्यून अक्षरों वाली, संदेहात्मक ज्ञान न पैदा करने वाली, सारतत्त्व बताने वाली, नाना विद्या अर्थों को ज्ञापित करने वाली, स्तोभ (प्रतिरोध) रहित, सर्वथा निर्दोष शब्दराशि को सूत्र कहते हैं। अष्टाध्यायी के सूत्रों में एक वर्ण भी ऐसा नहीं, जो अनर्थक हो, सदोष हो, फिर पदों की अनर्थकता की क्या चर्चा? भाष्यकार पतंजलि भी स्वयं कहते हैं—'वर्णानाप्यनर्थकेन न भवितव्यम्, किं पुनरियता सूत्रेण।'[१२] इसी तरह अन्यत्र भी करते हैं—'सामर्थ्ययोगान्न हि किंचिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।'[१३]

महर्षि पाणिनि के सामर्थ्य-बल से अथवा अपने योग-सामर्थ्य अथवा सूत्रान्तर्गत वर्ण एवं पदों के सामर्थ्य (सम्यक् प्रयोजन) के सम्बन्ध से इन सूत्रों में कुछ भी अनर्थक दिखाई नहीं देता। कोई सूत्र लक्ष्य-संस्कार-रूप-दृष्ट-फल तथा पुण्य-जनन रूप अदृष्ट-फल वाले हैं, तो कुछ सूत्र अदृष्ट-फल वाले ही हैं। इस तरह सर्वथा निष्प्रयोजन कोई भी नहीं हैं। इसीलिए आधी मात्रा भी यदि कहीं कम हो जाय तो वैयाकरण-परिवार में पुत्रोत्सव जैसा महोत्सव मनाया जाता है। कहते हैं—अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।[१४] इस प्रकार लाघव एवं सार-गर्भ विश्वतोमुख सूत्रों की भूरि-भूरि प्रशंसा आज भी समस्त विश्व मुक्तकण्ठ से कर रहा है।

अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद होने से बत्तीस पाद हैं। आचार्य ने इन पादों में सूत्रों को बड़े ही वैज्ञानिक क्रम से विन्यस्त किया है। इस क्रम के वल पर ही सूत्रों का अधिकार, पदों की अनुवृत्ति (उत्तर सूत्रों में जाना) आदि निर्भर है। उदाहरण के लिए आप देखें—क्रमशः 'वृद्धिरादैच्,[१५] 'अदेङ् गुणः,[१६] 'इको गुणवृद्धि,:[१७] न धातुलोप आर्धधातुके,[१८] 'क्ङिति च,'[१९] ये अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के प्रथमपाद के पाँच सूत्र हैं इनमें चौथा सूत्र है—'न धातुलोप आर्धधातुके, जिसमें पूर्व सूत्र 'इको गुणवृद्धिः', सम्पूर्ण रूप से अनुवृत्त होता है, अर्थात् पूर्व सूत्र के सभी पद यहाँ पठनीय है। और इस तरह अर्थ हुआ कि 'धातुलोपे आर्धधातु के परे इको गुणवृद्धी न भवेताम्' धातु के (धात्ववयव के) लोप में निमित्तभूत आर्धधातुक के परे होने पर, इक् के स्थान में गुण एवं वृद्धि नहीं होती। इसी प्रकार 'क्ङिति च, इस पाँचवें सूत्र में सम्पूर्ण 'इको गुणवृद्धिः,' सूत्र अनुवृत्त होता है। साथ ही "न धातुलोप आर्धधातुके सूत्र का निषेध-बोधक पन 'न' भी आ जाता है। अतः योजना हो गयी—क्ङिति परे इको गुणवृद्धि न स्याताम् अर्थात्-गश्च कश्च ङश्चेति क्ङाः, ते इतो यत्र स क्ङित् तस्मिन्। याने गकार ककार ङकार इनमें कोई भी वर्ण इत्संज्ञक हो जिस प्रत्यय में उसके पर रहने पर इक् के स्थान में गुणवृद्धि न ही होती।

स्पष्ट है कितनी सरलता से सूत्रों के क्रम से अर्थ की विवृति होती है, वस्तुतः अष्टाध्यायी की यही सर्वोच्च विशेषता है। सूत्रों में जो अर्थ छिपा हुआ है वह क्रम के आधार पर स्वयं स्पष्ट हो जाता है। उसके लिए कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। कहा भी है 'सूत्रेष्वेव हि तत्त्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके।[२०]

अर्थात् वृत्ति या वार्तिक में जो कुछ है वह सब सूत्रों में ही है। इस अनुवृत्ति के लिए यह ध्यान रखना चाहिए कि सूत्र में जो पद होते हैं, उनके सजातीय-पद प्रायः अनुवृत्त नहीं किये जाते। उदाहरणार्थ—'क्ङिति च,' इस सूत्र में 'क्ङिति,' सप्तम्यन्त पद है, अतः 'धातुलोप आर्धधातुके, का सप्तम्यन्त अनुवृत नहीं होते। जहाँ सजातीय-पद को लाना होता है वहाँ 'च' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे—'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' [२१] इस सूत्र में 'च' शब्द के बल पर ही 'कर्तरि कृत्,' [२२] पूर्व सूत्र से 'कर्तरि,' पद अनुवृत्त होता है। इसके लिए स्वयं आचार्य ने 'स्वरितेनाधिकारः,' [२३] सूत्र रच कर यह सूचित कर दिया है कि स्वरित-धर्म-विशिष्ट शब्द का उत्तर सूत्रों में अधिकार अर्थात् अनुवृत्ति करनी चाहिए। परन्तु स्व-रित-धर्म को जानने के लिए और कहाँ तक किसी पद, या सूत्र की अनुवृत्ति मानी जाय, यह जानने के लिए महाभाष्य की सहायता ली जाती है। कहा गया है—

यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् [२४]

तात्पर्यतः उत्तर मुनि अर्थात् भाष्यकार के' प्रामाण्य में पूर्व दोनों मुनियों (सूत्रकार और वार्तिककार) की भी सम्मति है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कहीं-कहीं सूत्रों की आवृत्ति से दो-दो अर्थ भी किये जाते हैं। जैसे—'षष्ठी स्थाने योगा' [२५], सूत्र का एक अर्थ है—व्याकरण-शास्त्र में जिस षष्ठी का अर्थ ज्ञात न हो, तो उसे स्थान पदार्थ से निरूपित सम्बन्ध-रूप अर्थ में समझा जाये। तथा 'यतः सा, इन दो पदों के अध्याहार से 'यतः षष्ठी सा स्थाने योगा, 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' [२६], निर्दिश्यमान का ही आदेश होता है, यह दूसरा अर्थ भी किया जाता है। यह समस्त विचार 'षष्ठी स्थाने योगा,' [२७] सूत्र के भाष्य में पंतजलि ने प्रस्तुत किया है।

अष्टाध्यायी के प्रथम तथा द्वितीय अध्याय में संज्ञा तथा परिभाषा-सूत्रों का संकलन है। किसी भी शास्त्र के अध्ययन में उसकी संज्ञाओं तथा परिभाषाओं को पहले से जाने बिना उसमें प्रवेश नहीं हो सकता। प्रथम-अध्याय के संज्ञा-प्रकरण में ही कारक-संज्ञाओं का विचार भी है। इसके अध्ययन से वाक्यार्थ एवं बौद्धपदार्थों का परिचय सरलता से हो जाता है। जैसे 'घटं, करोति', इस वाक्य में घट रूप अर्थ की कर्म संज्ञा 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म,' [२४] सूत्र से की गयी है। इस सूत्र का सामान्य-अर्थ यह है—'कर्ता में रहने वाली, क्रिया से उत्पन्न होने वाले फल के आश्रय-रूप से विवक्षित जो अर्थ होता है उसकी कर्म संज्ञा होती है। अब यह विचार करना चाहिए कि कर्ता एवं क्रिया के ज्ञान होने पर ही उस क्रिया से उत्पन्न फल के के आश्रय का ज्ञान संभव होता है और तभी उसकी कर्म-संज्ञा हो सकेगी। अतः पूर्ण वाक्यार्थ का ज्ञान अपेक्षित हो जाता है। यहाँ जिस घट की कर्म संज्ञा की जा रही है वह तो अभी बना ही नहीं है अतः क्रिया-जन्य-फल के आश्रय के रूप में घट को कैसे माना जाय? ऐसी स्थिति में स्पष्ट होता है कि यहाँ सूत्रकार बुद्धि में स्थित घट की कर्म संज्ञा चाहते हैं। अर्थात् बाह्य-जगत् के अतिरिक्त बुद्धि में संस्कार-रूप से वर्तमान सूक्ष्म जगत् के घट की कर्म संज्ञा है।

इसी प्रकार पाणिनि ने अव्यय-संज्ञा के लक्षण से अपव्यय के साथ-साथ नित्य निर्विकार निर्धर्मक शब्द-ब्रह्म (परारूप) का लक्षण भी दे दिया है। द्वितीय अध्याय के समास संज्ञा-प्रकरण में दो पदों के मेल से एक पद बनाने की शैली की विवेचना हैं जो अनेकता से एकता

की ओर आने की जाति का निदर्शन भी है। जैसे स्त्रीपुरुष के सम्बन्ध से ही सन्तति-रूप में एक तृतीयतत्त्व प्रकाशित होता है। वैसे ही दो शब्द मिलकर एकार्थीभावरूपी वृत्ति से एक नया अर्थ प्राप्त करते हैं।

तृतीयाध्याय में 'प्रत्ययः,' इस सूत्र का अधिकार पंचम अध्याय की समाप्ति तक चलता है। तृतीयाध्याय में धातु-रूप प्रकृतियों में लगने वाले तिङ् एवं कृत्संज्ञक प्रत्ययों की चर्चा है जबकि चतुर्थ से पंचम अध्याय तक प्रातिपदिक रूपी प्रकृति में लगने वाले प्रत्ययों को बताया गया है जो स्त्री-प्रत्यय एवं तद्धित प्रत्ययों के दो भागों में विभक्त हैं।

ध्यान देने लायक बात यह है कि इन सभी प्रत्ययों को प्रकृति से पर ही कहा गया है जो दार्शनिक दृष्टि से उचित ही है। क्योंकि प्रत्यय (ज्ञेय) जो शब्द ब्रह्म है, वह सर्वथा प्रकृति से पर ही रहता है अर्थात् प्रकृति को आविष्ट करके ही वह प्रवर्तमान होता है।

आगे छठे अध्याय में द्विर्वचन-संधि एवं स्वर के विधायक सूत्र संकलित हैं। इस अध्याय में द्विर्वचन के माध्यम से एक से अनेक होने तथा वर्ण-संधि कार्यों से संधी-भवन की बात व्यंजित मिलती है। इस संधि-कार्य से यह भी स्पष्ट होता है, कि जो वर्ण मिलने के लिए उन्मुख होता है, वह प्रायः अपने स्वरूप को खो बैठता है या लघु बन जाता है। उदाहरण के लिए 'सुध्युपास्यः,' प्रयोग में ईकार उकार से मिला और यकार बनकर अर्धमात्रा रूप रह गया। कहीं-कहीं पर इस नियम का व्यभिचार भी होता है। जैसे 'हरेऽव,' प्रयोग में एकार अकार की संधि हुई परन्तु यहाँ वह एकार को समाविष्ट कर लेता है। अकार की अपेक्षा एकार महान् है।

इसी अध्याय में आगे उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की चर्चा विस्तार से की गई है जिसका प्रधानतः सम्बन्ध वैदिक संस्कृत से है। इसी षष्ठ अध्याय के चतुर्थ पाद से अंगाधिकार का प्रारंभ होता है, जो सप्तम अध्याय तक जाता है। इसमें विविध प्रकार के अंगाधिकारी कार्यों का (जैसे प्रकृत्युद्देश्यक एवं प्रत्ययोद्देश्यक-कार्यों का) विधान किया गया है।

अष्टम अध्याय में भी द्वित्व-संधि,-षत्व, णत्व, जश्त्व, कुत्व, चर्त्व-प्रभृति विविध कार्यों का विधान है। इसमें पदाधिकार एवं तिङन्त-स्वर का भी निरूपण है। सबके अन्त में महर्षि पाणिनि ने 'अ अ,' सूत्र से विवृत 'अ' के स्थान पर संवृत 'अ' का विधान किया है तथा अब तक चर्चित प्रक्रियांश का उपबृंहण किया है। 'अ' शब्द वासुदेव परमात्मा का भी वाचक है अतः 'अ' शब्द का दो बार उच्चारण परम-मंगल सूचक है, तथा समस्त पूर्व के प्रकरणों को उद्देश्य करके 'अ' शब्दार्थ के विधेयत्व की भी सूचना मिलती हैं। इस तरह संपूर्ण व्याकरण-शास्त्र वासुदेव-स्वरूप सिद्ध होता है। आचार्य भर्तृहरि ने भी कहा है :—

> तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः
> तस्य प्रवृत्तितत्वज्ञः स ब्रह्मामृतमश्नुते।[२९]

अष्टाध्यायी के सूत्रात्मक नियमों में वाध्य-बाधक-भाव की चर्चा भी आवश्यक है। इस के लिए कुछ दृष्टांत लिए जा सकते हैं—जैसे 'दैत्यारिः' प्रयोग में दैत्य अरिः इस स्थिति में 'आद्गुणः,'[३०] सूत्र से गुण प्राप्त होता है तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः[३१],' इस सूत्र से दीर्घ भी होता है। ऐसी स्थिति में दोनों सूत्रों में से किसके द्वारा विधान किया जाय, ऐसी जिज्ञासा

होने पर दोनों सूत्रों के विरोध को दूर करने के लिए आचार्य ने एक सूत्र बनाया है 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[32], इस सूत्र के कारण यहाँ पर दीर्घ-विधान ही स्वीकार्य होता है क्योंकि अष्टाध्यायी के क्रम में पर है (अर्थात् गुण-विधायक सूत्र से उत्तर में पठित है) । इसी प्रकार 'श्रीशः प्रयोग में' इको यणचि[33], से होने वाले यण् को दीर्घ-विधायक सूत्र बाधित कर देता है ।

'पूर्वत्रासिद्धम्'[34], सूत्र भी इसी प्रकार के निर्णय में सहायक होता है । यह सूत्र सवा सात अध्यायों के सूत्रों के प्रति त्रैपादिक सूत्रों को तथा त्रैपादिक-सूत्रों में भी पूर्व के प्रति पर सूत्र को असिद्ध कर देता है । जैसे—मनोरथः, इस प्रयोग में 'मनस् + रथः, इस स्थिति में सकार को 'ससजुषो रु.'[35] सूत्र से 'रु' आदेश होने पर मनस् + रथः. स्थिति में 'हशि च'[36], सूत्र से रु के स्थान में उकार आदेश प्राप्त होता है साथ ही 'रोरि'[37], सूत्र से रेफ का लोप प्राप्त होता है । अतः प्रश्न उठता है कि दोनों में कौन-सा सूत्र लगेगा ? 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र के अनुसार परत्व का ख्याल करते हुए रेफ के लोप का निर्णय लिया जा सकता है । क्योंकि 'रोरि', सूत्र 'हशि च', से बाद में आता है । परन्तु पूर्वत्रासिद्धम्, सूत्र ने उच्चन्यायालय की भाँति उपर्युक्त विप्रतिषेध-सूत्र के विपरीत निर्णय दिया । क्योंकि इस के अनुसार सवा सात अध्यायों में पठित 'हशि च', सूत्र के प्रति त्रिपादी में पठित 'रोरि', सूत्र असिद्ध समझा जाता है । इस प्रकार पहले के फैसले को रद्द कर हशि च, सूत्र से रु के स्थान में उकार आदेश हो गया । इसके बाद 'आद्गुणः[38],' सूत्र से गुण आदेश (ओकार) होकर 'मनोरथः' शब्द निष्पन्न हुआ ।

पूर्वत्रासिद्धम्[39] से भी उच्च स्तर का, एक तरफ से सर्वोच्च न्यायालय की भाँति निर्णय देने वाला नियम है—'असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे, [40] । उदाहरण के लिए 'सुद्ध्युपास्यः,' में 'संयोगान्तस्य लोपः'[41], सूत्र से यकार का लोप प्राप्त होता है । पर इस परिभाषा ने अन्तरंग लोप-शास्त्र की कर्तव्यता में बहिरंग यण्-शास्त्र को असिद्ध कर दिया । यद्यपि—पूर्वत्रासिद्धम्, के विपरीत यह निर्णय है, क्योंकि यण्-शात्र सपाद सप्ताध्यायी में है, उसके प्रति त्रैपादिक लोप-शास्त्र असिद्ध है, तथापि अन्तरंग, परिभाषा के निर्णय का सम्मान 'पूर्वत्रासिद्धम् को करना पड़ता है । इसीलिए भाष्यकार पतंजलि कहते हैं कि—'यणः प्रतिषेधो वाच्यः न वा झलो लोपात्, बहिरंग-लक्षणत्वाद्वा इति'[42]—यह परिभाषा 'वाह ऊठ्[43] सूत्र के ऊठ् ग्रहण के कारण महर्षि पाणिनि को अभिप्रेत प्रतीत होता है ।

इसी तरह 'देवान्नमस्करोति' में, नमः शब्द के योग में देव शब्द में चतुर्थी विभक्ति 'नमः स्वस्ति स्वाहा'[44]—सूत्र से प्राप्त होती है तथा 'कर्तुरीप्सिततमं,'[45] सूत्र से देव की कर्म संज्ञा होने से 'कर्मणि द्वितीया,'[46] सूत्र से द्वितीया विभक्ति प्राप्त होती है । ऐसी स्थिति में विप्रतिषेध-सूत्र के आधार पर निर्णय किया कि पर पठित होने के कारण 'नमः स्वस्ति' सूत्र से चतुर्थी होनी चाहिए । पर इस निर्णय को 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी'[47] इस परिभाषा ने बाधित कर कारक-विभक्ति अर्थात् द्वितीया विभक्ति को प्रबल घोषित कर दिया ।

शब्द-नित्यतावाद 'अर्थात् स्फोटवाद को पाणिनीय व्याकरण का हृदय माना जाता है, जिसकी यहाँ संक्षिप्त चर्चा की जा सकती है । स्फोटवाद अष्टाध्यायी में प्रत्यक्षतः चर्चित न

होकर भी उसके अनेक अंशों से प्रमाणित है। उनमें से एक अंश की यहाँ चर्चा की जा रही है। 'अर्थवदधातु'[४८]—सूत्र में पाणिनि ने प्रातिपदिक की परिभाषा दी है। इस सूत्र का अर्थ है धातु-भिन्न प्रत्यय-भिन्न प्रत्ययान्त-भिन्न जो अर्थ बोधक होता है उसकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है। यहाँ अर्थ बोधक-शब्द का अर्थ है अर्थ-निरूपित वृत्ति-रूप सम्बन्ध वाला शब्द। जैसे—'राम' शब्द धातु आदि से भिन्न होते हुए भी दशरथापत्य-रूप-अर्थ से निरूपित शक्ति (वृत्ति) वाला है, अतः प्रातिपदिक-संज्ञक हुआ। यहाँ पर यह विचार करना चाहिए कि दशरथापत्य रूप अर्थ से निरूपित शक्ति (सम्बन्ध) का आश्रय कौन है? यदि र, आ, म्, अ इन चारों वर्णों में से प्रत्येक वर्ण उसका आश्रय है तो यह पक्ष संभव नहीं, क्योंकि चार वर्णों से चार बार 'राम, इस अर्थ का बोध होने लगेगा, जो अनुभव-विरुद्ध है। उच्चरित होकर नष्ट होना यह तो वर्णों का स्वभाव है,[४९] ऐसी स्थिति में इनका समुदाय कैसे बनेगा? इसलिए समुदाय भी शक्ति का आश्रय नहीं हो सकता। अतः इन चार रेफ आदि ध्वनियों से अभिव्यक्ति होने वाली कोई एक नित्य वस्तु होनी चाहिए, जो शक्ति का आश्रय बन सकती हो। वह औपाधिक चिद्रूप आत्मा ही है जो स्फोट पद से वैयाकरणों द्वारा व्यपदेश्य है। इसी का अनौपाधिक रूप 'परा', शब्द से भी अभिहित किया जाता है। वही 'वाग्वै ब्रह्म,' इस श्रुति में संकेतित है। इसी को—

'स्वरूप ज्योतिरेवान्स: परावागनपायिनी। के रूप में भर्तृहरि ने विवेचित किया है।

'शब्द-ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।

संदर्भ

१ पतंजलि–महाभाष्य- १/१/ पस्पशाह्निक
२ वही
३ वही
४ पतंजलि–महाभाष्य १/१ पस्पशाह्निक।
५ पाणिनि–अष्टाध्यायी-१/२/४५
६ पतंजलि–महाभाष्य-३/३/१
७ पाणिनि अष्टाध्यायी १/१/१
८ वही १/३/२
९ वही १/१/७१
१० पतंजलि महाभाष्य १/१/२१
११ ल० शे० –टीका अभि० च०-संज्ञाप्रकरण
१२ पतंजलि–महाभाष्य-१/१/३/१
१३ वही ६/१/७७
१४ परिभाषेन्दु शेखर ३ प्रकरणान्त्य
१५ पाणिनि–अष्टाध्यायी-१/१/१
१६ वही–१/१/२
१७ वही–१/१/३

१८ वही–१/१/४
१९ वही–१/१/५
२० शिष्टोक्तिः, भाष्य भूमिका
२१ पाणिनि–अष्टाध्यायी- ३/४/६९
२२ वही–३/४/६७
२३ वही–१/३/११
२४ ज्ञापित–वही-१/१/४
२५ वही–१/१/४६
२६ परिभाषेन्दु शेखर–१
२७ पाणिनि–अष्टाध्यायी-१/१/४९
२८ वही–१/४/४९
२९ भर्तृहरि–वाक्यपदीय-१/१३२
३० पाणिनि अष्टाध्यायी-६/१/८७
३१ वही ६/१/१०
३२ वही १/४/२
३३ वही ६/१/७७
३४ वही ७/२/१
३५ वही ८/२/६६
३६ वही ६/१ १४४
३७ वही ८/३/१४
३८ पाणिनि अष्टाध्यायी–६/१/८७
३९ वही ८/२/१
४० परिभाषेन्दु शेखर–परि० ५१
४१ पतंजलि महाभाष्य ८/२/२३
४२ पाणिनि अष्टाध्यायी ८/२/२३
४३ पाणिनि अष्टाध्यायी ६/४/१३२
४४ वही –२/३/१६
४५ वही–१/४/४९
४६ वही–२/३/२
४७ परिभाषेन्दु शेखर–१०३
४८ पाणिनि अष्टाध्यायी १/२/४५
४९ पतंजलि–महाभाष्य–१/४/१०९

□ □ □

८

वक्रोक्ति की संकल्पना

'वक्रोक्ति' शब्द के सैद्धान्तिक प्रयोग को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में यह शब्द अनेक सन्दर्भों में प्रयुक्त होने के कारण विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न अर्थ और महत्त्व रखता है। सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में मोटे तौर पर इन मान्यताओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पहले वर्ग के भीतर भामह, दण्डी, कुन्तक आदि की मान्यताएँ रखी जा सकती हैं और दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वामन, रुद्रट, मम्मट आदि की धारणा मानी जा सकती है। इस दूसरे वर्ग के विद्वान् इसके अर्थ और प्रयोग को अलंकार विशेष के क्षेत्र तक सीमित करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार वक्रोक्ति अर्थालंकार अथवा शब्दालंकार के अनेक प्रकारों में से एक प्रकार है, जहाँ उक्ति में वक्ता के मन्तव्य से भिन्न अर्थ की कल्पना निहित रहती है—चाहे वह शब्द के माध्यम (श्लेष वक्रोक्ति) से प्रतिफलित हो, चाहे अनुतान के सहारे व्यक्त हो, (काकु वक्रोक्ति)।

यद्यपि बाद में चल कर वक्रोक्ति की संकल्पना साहित्यशास्त्र में इस दूसरे वर्ग की धारणा की ही पुष्टि करती है पर आरंभ में इसका सन्दर्भ इस धारणा से नितान्त भिन्न था। वह अलंकार विशेष के रूप में मान्य न होकर सकल–अलंकार–सामान्य के रूप में गृहीत था। इसके अन्तर्गत शब्द और अर्थ दोनों ही प्रकार की वक्रता समन्वित रूप में समाहित थी। उदाहरण के लिये भामह ने वक्रोक्ति को अलंकार के किसी एक भेद के रूप में स्वीकार नहीं किया है। 'काव्यालंकार' (I. ३०) में वक्रोक्ति काव्य की प्राणभूत शक्ति माना गया है क्योंकि इस शक्ति के अभाव में काव्य, काव्य के रूप में सिद्ध रह ही नहीं सकता। वक्रोक्ति के अभाव में अलंकार, अलंकार रूप में प्रतिफलित हो ही नहीं सकता—'कोऽलंकारोऽनया बिना (II. ८५) अर्थात् जिस अनुपात में वक्रोक्ति की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती उसी अनुपात में अलंकार की भी सत्ता नहीं मानी जा सकती; और यही कारण है कि भामह हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार नहीं मानते—

> हेतु : सूक्ष्योऽथ लेशश्च नालंकारतया मतः ।
> समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ।। (II. ४७)

यद्यपि इन अलंकारों को बाद में दण्डी ने अलंकार के रूप में स्वीकार किया है। वक्रोक्ति अगर सभी अलंकारों के मूल में है तब वह प्राणभूत है न कि कोई विशिष्ट अलंकार। विशिष्ट अलंकार के रूप में मानने पर सभी अलंकार, 'संसृष्ट' अथवा 'संकीर्ण' सिद्ध हो जाएँगे। क्योंकि अगर वे अलंकार हैं तो उन अलंकारों के अतिरिक्त अलंकार-सामान्य-वचन के रूप में वक्रोक्ति की सत्ता स्वयमेव सिद्ध है। इसी प्रकार वक्रोक्ति की संकल्पना के भीतर

शब्द और अर्थ दोनों ही प्रकार की वक्रता समाहित है। 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः (I.३६) और 'वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते' (V.६६) के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भामह के अनुसार 'वक्राभिधेय-शब्दोक्तिः' और 'वक्रार्थ-शब्दोक्तिः' दोनों ही एक ही तत्त्व को व्यंजित करते हैं और इस प्रकार वक्रोक्ति वस्तुतः शब्दालंकार हो अथवा अर्थालंकार, दोनों के ही मूल में समान रूप से स्थित है।

'वक्रोक्ति' के अतिरिक्त जिस तत्त्व की सत्ता को भामह ने सर्वव्यापी माना है, वह है 'अतिशयोक्ति'। अतिशयोक्ति की सत्ता वहाँ मानी गई है जहाँ गुण के अतिशय का योग हो-

इत्येवमादिसहिता गुणातिशय-योगतः ।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम् ।। (II.८४)

इसी अतिशयोक्ति के सन्दर्भ में वक्रोक्ति की बात भी उठाई गयी है। अगर वक्रोक्ति के मूलधर्म में 'लोकातिक्रान्तगोचरता' है तो इसी को अतिशयोक्ति अलंकार का भी आधारभूत तत्त्व स्वीकार किया गया है।

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यतेऽतिशयोक्तिं तामलंकरतया यथा ।। (II.८१)

इस आधार पर यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'वक्रोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' पर्यायवाची हैं, क्योंकि इन दोनों के मूल में समान तत्त्व लोकातिक्रान्तगोचरता' है। दोनों ही सर्वव्यापी है; दोनों ही सकल-अलंकार-सामान्य हैं। यहां प्रश्न उठाया जा सकता है कि अगर ये दोनों शब्द, एक-दूसरे के पर्याय हैं तो क्या इन दोनों के सन्दर्भ भी एक हैं? क्या ये पूर्ण पर्याय हैं या आंशिक पर्याय हैं? दोनों की सत्ता काव्यचिन्तन के एक ही स्तर से सम्बद्ध है अथवा स्तर-भेद के कारण एक होकर भी वे दो भिन्न विशेषताओं की ओर संकेत देने में समर्थ हैं? काव्यसिद्धान्त के संदर्भ में भामह ने एक ही संकलपना को दो भिन्न पारिभाषिक शब्दों के द्वारा व्यक्त करने की आवश्यकता क्यों अनुभव की, यह प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

यहाँ पर भामह के काव्य-धारणा के सन्दर्भ में एक अन्य शब्द पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। भामह ने 'काव्य' को 'वार्ता' के विरोध में परिभाषित किया है। दोनों भाषिक यथार्थ हैं, दोनों का सम्बन्ध 'शब्दार्थ' से है। पर वार्ता का सम्बन्ध लोकजीवन के सामान्य व्यवहार के साथ जुड़ा रहता है, अतः वह लोक-जीवन में व्यवहृत भाषा का सामान्य व्यापार है। 'सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा चमकता है, पक्षी अपने बसेरों में लौट जाते हैं' आदि शाब्दिक उक्तियाँ लोक-व्यापार के सामान्य कथन हैं, वे वार्ता मात्र हैं। (II.८७)। इसमें वक्रोक्ति का अभाव रहता है, अतः वह काव्यार्थ की संज्ञा नहीं पा सकता, उसमें अर्थ का आतिशय्य नहीं होता, अतः वह काव्य-गुण से शून्य रहता है।

"स्पष्ट है भामह का काव्यशास्त्रीय चिन्तन पहले काव्य को सामान्य भाषा के व्यापक सन्दर्भ में परिभाषित करता है-'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्', तदुपरान्त उसकी विशिष्टता को भी भाषा के आधार पर ही यह संकेत देकर समझना-समझाना चाहता है कि यद्यपि सभी काव्यात्मक उक्तियाँ भाषिक होती हैं पर सभी भाषिक कथन काव्यात्मक उक्तियाँ नहीं होतीं। क्योंकि 'वार्ता' और 'काव्य' में स्पष्ट भेद है। काव्यात्मकता के विश्लेषण

लिये जिस 'अलंकार' की कल्पना को प्राणभूत शक्ति के रूप में उन्होंने मान्यता दी है, वह भी भाषा सन्दर्भित है। क्योंकि वक्रोक्ति के बिना अलंकार अथवा काव्य संभव नहीं और वक्रोक्ति और कुछ नहीं अपितु 'लोकातिक्रान्त-गोचर-वचनम्' होने के कारण लोक में व्यवहार्य सामान्य कथन (वार्ता) का ही अतिक्रमण है।"

यहाँ एक और तथ्य की ओर ध्यान देना अत्यावश्यक है। सामान्य कथन और सामान्यीकृत प्रकथन एक नहीं, उनमें एक निश्चित अन्तर होता है। व्यावहारिक सन्दर्भ में किसी वस्तु का सामान्य होकर रूढ़ होना एक बात है और उस वस्तु के मूल में स्थित उसकी सहज प्रकृति के रूप में स्वाभाविक होना उससे नितान्त भिन्न बात हैं। पहले में कवि-कल्पना या अन्तर्दृष्टि का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि वह लोकजीवन में ज्ञात, कथन में सामान्य, लोक-व्यापार में प्रसिद्ध और लोक-व्यवहार में रूढ़ होता है। पर दूसरी स्थिति में वस्तु के बाह्य आवरण को गहराई में भेदकर उसकी आन्तरिक प्रकृति के उद्घाटन के लिये कवि की अन्तर्दृष्टि अपेक्षित है। व्यक्ति-वैषम्य के भीतर से उसकी जातिगत संकल्पना के संश्लिष्ट रूपांकन के लिये सर्जनात्मक कल्पना की आवश्यकता बनी रहती है।

लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध होने के फलस्वरूप किसी वस्तु के 'सामान्य' होने और वस्तु की आन्तरिक प्रकृति और स्वभाव, जन्म, गुण-धर्म के उद्घाटन के निमित्त 'सामान्यीकृत' होने, की प्रक्रिया में अन्तर करना आवश्यक है। भामह की वार्ता 'वस्तुतः लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध होने के कारण सामान्य कथन है। अतः उक्ति को लोकातिक्रान्त नहीं कर पाता और 'प्रसिद्ध-व्यापारातीत' न होने के परिणामस्वरूप 'काव्यत्व' का सृजन करने में भी असमर्थ रहता है। स्वाभाविक है कि इस सन्दर्भ में 'वक्रोक्ति' या 'अतिशयोक्ति' का समावेश होना भी उसमें असंभव है।

दण्डी ने जिस 'स्वभावोक्ति' की बात की है वह वस्तुतः की भामह की 'वार्ता' नहीं और अगर वह 'वार्ता' नहीं तो निष्कर्षतः उसे काव्य-कोटि के अन्तर्गत स्वीकार किया जाना चाहिए। सुशीलकुमार डे के अनुसार भामह, स्वभावोक्ति को अलंकार की श्रेणी में रखने के पक्ष में नहीं हैं। पर यह मत उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि 'गुण-धर्मी' होने के कारण स्वभावोक्ति में अतिशयोक्ति स्वयमेव सिद्ध है और 'प्रसिद्ध-व्यपारातीत' होने के कारण उसमें काव्यत्व अनिवार्यतः समाविष्ट रहता है। स्वभावोक्ति का सम्बन्ध 'वार्ता' से न होकर 'काव्य' से है क्योंकि उसमें कवि-प्रतिभा का स्वाभाविक योग होता है। वह कवि की सृजनात्मक कल्पना का परिणाम होता है। 'वार्ता' की उक्ति के समान उसमें कथन का 'सामान्य' अथवा प्रयोग का रूढ़ पक्ष निहित नहीं होता।

जिस प्रकार 'सौन्दर्य' की संकल्पना, कला-सिद्धान्त से जुड़ी हुई है और जिस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र को कला-सिद्धान्त का पर्याय माना जा सकता है, उसी प्रकार 'अलंकार' की संकल्पना को भी काव्य-सिद्धान्त से जोड़ा जा सकता है। इस स्थिति में अलंकार–शास्त्र को भी काव्य-शास्त्र के पर्याय के रूप में स्वीकार किया जाना संभव है। भामह के अनुसार 'अलंकार' इसीलिए काव्य की प्राणभूत शक्ति के रूप में मान्य है। कला और काव्य के इस समसम्बन्ध (Correlation) को निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त करना संभव है।

(अ) कला : सौन्दर्य : : काव्य : अलंकार

(आ) सौन्दर्य : सौन्दर्यशास्त्र: : अलंकार : अलंकारशास्त्र

कला सिद्धान्त में जो स्थान सौन्दर्य का है, काव्य में वही स्थान 'अलंकार' का है और इसीलिए अगर सौन्दर्यशास्त्र, कला-क्षेत्र का अपना शास्त्र है तो अलंकारशास्त्र, काव्य-क्षेत्र का शास्त्र है। पर जैसा पहले संकेत दिया जा चुका है, भामह, काव्य की प्रकृति शाब्दिक (Verbal) मानते हैं, अत: अलंकार के विश्लेषण के लिये उसके समानान्तर भाषिक संकल्पना का भी प्रतिस्थापन करने की ओर प्रवृत होते हैं। 'वार्ता' के विरोध में 'काव्य' को परिभाषित करने वाला जो 'अलंकार' है, वही भाषिक-स्तर पर 'वक्रोक्ति' है। अगर 'अलंकार' कला-सिद्धान्त में गृहीत 'सौन्दर्य' की काव्यशास्त्रीय रूपान्तरित संकल्पना है तो 'वक्रोक्ति', 'अलंकार' की धारणा को विश्लेषणगम्य बनाने के लिये उसका भाषाशास्त्रीय रूपान्तरित प्रत्यय है।

(इ) कला: सौन्दर्य: : काव्य: अलंकार: : काव्यभाषा: वक्रोक्ति:

अगर भामह ने अपने काव्य-सिद्धान्त के सन्दर्भ में 'अलंकार' के भाषिक पर्याय के रूप में 'वक्रोक्ति' की संकल्पना सामने रखी है तब उनके द्वारा प्रयुक्त 'अतिशयोक्ति' की प्रकृति क्या है? यह प्रश्न दण्डी के वर्गीकरण—'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति' के सन्दर्भ में और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। भामह के काव्य-सिद्धान्त पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि 'वक्रोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' पर्याय रूप में ग्रहीत होने के उपरान्त भी भाषिक विश्लेषण के दो भिन्न स्तरों पर स्थित संकल्पनाएँ हैं। 'वक्रोक्ति' अगर भाषिक विश्लेषण के रूपात्मक (Formal) स्तर से सम्बद्ध है तो 'अतिशयोक्ति' उसके प्रकार्यात्मक (Functional) स्तर से। 'वक्रोक्ति' के प्रयोजन को लेकर भामह की उक्ति है—'अनयाऽर्थो विभाव्यते' अर्थात्, (वक्रोक्ति) के कारण अर्थ का विचित्र रूप से भावन होता है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि 'वक्रोक्ति' तो अलंकार को समझने के लिये प्रयोजनवत् स्वीकार्य है जबकि अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोज्य है। अर्थात् वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में साधन-साध्य अथवा प्रयोजन-प्रयोज्य का सम्बन्ध है। यह भी इसके साथ जोड़ा जा सकता है कि भामह ने काव्यशास्त्र को एक साथ रूपात्मक (Formal) और प्रकार्यात्मक (Functional) बनाने का प्रयास किया था।

यही कारण है कि भामह के अलंकारशास्त्र में 'वक्रोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' दोनों की संकल्पना पर्याय रूप में एक साथ देखने को मिलती है। जहाँ भामह 'प्रसिद्ध व्यापार' को वार्ता से अभिहित करते हैं और वार्ता के विरोध में काव्य को परिभाषित करते हैं, वहीं वे एक ओर 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर वे यह भी मानकर चलते हैं कि 'वक्रता' के फलस्वरूप उद्भूत 'अतिशयोक्ति' अर्थात् अभिव्यक्ति के अर्थजन्य लालित्य और काव्य-कल्पना के वैभव का प्रकाशन भी होता है। पर अगर 'अतिशयोक्ति' प्रयोज्य है और 'वक्रोक्ति' की संकल्पना उसके निमित्त के रूप में स्वीकृत है; प्रयोजनवत् रूप में मान्य है, तब यह भी प्रश्न उठ सकता है कि क्या 'वक्रोक्ति' अर्थात् शब्द और अर्थ के विचित्र सम्बन्धों की प्रकृति के अतिरिक्त 'अतिशयोक्ति' की सत्ता संभव नहीं? दण्डी के स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के विभाजन को ध्यान में रखते हुए यह पूछा जा सकता है कि स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति का कारण हो सकती है या नहीं?

अगर हम यह मानकर चलते हैं कि भामह ने अपने काव्य-सिद्धान्त के सन्दर्भ में 'अलंकार' के उस भाषिक पर्याय के रूप में 'वक्रोक्ति' की संकल्पना को सामने रखा है जो अपनी प्रकृति में रूपात्मक हैं, तब इसका उत्तर स्पष्ट है। प्रयोज्य के धरातल पर अलंकार के मूल में अगर अर्थ का आतिशय्य है तो वह अर्थाधिक्य उसी सीमा तक वक्रोक्ति के क्षेत्र द्वारा परिभाषित हो सकता है, जहाँ तक काव्यभाषा, रूपात्मक स्तर पर विश्लेषणगम्य है। स्वभावोक्ति, भाषा-सन्दर्भित न होकर जहाँ तक काव्य-वस्तु की जातिगत संकल्पना पर आधारित है और काव्य-वस्तु की आन्तरिक प्रकृति की सहज अभिव्यक्ति होने के कारण जहाँ तक वह प्रसिद्ध व्यापारातीत है, वहाँ तक वह विषय-वस्तु का विषय है। विषय-वस्तु की सामान्यीकृत संकलपना कवि-प्रतिभा के सहज वैभव का परिणाम होने के कारण 'अतिशयोक्ति' का कारण तो बन सकती है पर भाषिक संकलपना के रूप में परिभाषित 'वक्रोक्ति' के रूप में सिद्ध नहीं हो सकती।

पर अगर हम यह स्वीकार कर चलें कि 'वक्रोक्ति' की संकल्पना मात्र भाषा के रूपात्मक स्तर तक ही सीमित नहीं, तब स्थिति इससे कुछ भिन्न हो जाती है। 'वक्रोक्ति' के मूल में है—'लोकातिक्रान्त-गोचरता'—की संकलपना। यदि यह कहा जाए कि भामह न केवल भाषिक संरचना के धरातल पर इस संकलपना के प्रयोग के समर्थक हैं वरन् उनके मत में प्रसार शब्दों के 'संकेतार्थ' (Referent) तक है, तब स्वभावोक्ति का समाहार स्वयमेव 'वक्रोक्ति' की संकलपना में हो जाता है। स्वभावोक्ति में पदार्थों का साक्षात् रूप वर्णित होता है (काव्यादर्श II/८) पर यह साक्षात् रूप व्यष्टिपरक न होकर उस वस्तु के समष्टिगत प्रत्यय से सम्बद्ध रहता है, वह सामान्य दृष्टि का परिणाम न होकर कवि की आन्तरिक और कल्पना परक सर्जनात्मक अन्तर्दृष्टि का प्रतिफल होता है। अतः इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि स्वभावोक्ति के रूप में वर्णित काव्य-वस्तु की प्रकृति भी लोकातिक्रांत है, वह भी प्रसिद्ध व्यापारातीत है।

भामह के काव्य-सिद्धान्त में वक्रोक्ति की संकलपना इस दूसरे अर्थ में ही ग्रहीत हैं। यही कारण है कि न तो उसमें स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के बीच कोई विभाजन-रेखा खिची मिलती है और न वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में ही कोई भेद माना गया है। दोनों के ही मूल में भामह ने 'लोकातिक्रान्त-गोचरता' की स्थिति स्वीकार की है और इसके परिप्रेक्ष्य में उनके बीच किसी भी अन्तर की ओर संकेत नहीं दिया है। प्रयोजन और प्रयोज्य, काव्य-वस्तु के सन्दर्भ में ग्रहीत न होकर उसके विश्लेषण उपगम के रूप में ही स्वीकृत हो सकता है जहाँ वक्रोक्ति को संक्रियात्मक उपगम (Operational Approach) का परिणाम कह सकते हैं वहाँ अतिशयोक्ति को प्रकार्यात्मक उपगम (fuanctional Approach) का प्रतिफल मान सकते हैं।

दण्डी ने भामह की अलंकार की संकलपना को तद्रूप में तो स्वीकार किया पर वक्रोक्ति के भीतर उनकी तरह वस्तुरूप (संकेतार्थ) सम्बन्धी वक्रता और भाषा-सन्दर्भित वक्रता का ग्रहण नहीं किया। वक्रोक्ति से उनका तात्पर्य 'चमत्कार-जन्य-लोकातिक्रान्त-गोचरता' तक सीमित रहा जिसकी मूल प्रकृति उनके मत में केवल भाषा-सन्दर्भित ही रही। वस्तुरूप संदर्भित वक्रता, उनके मत में वक्रता ही नहीं, वह तो वस्तुओं का साक्षात् वर्णन है, उनकी आन्तरिक प्रकृति का

प्रकाशन है। और इसीलिए वह आद्य अलंकार है। (काव्यादर्श II/८) स्वभावोक्ति न केवल वस्तुओं की जातीय प्रकृति की प्रकाशक होने के कारण आद्य अलंकार है वरन् अलंकारशास्त्र में उसी का सर्वत्र साम्राज्य है—'शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यम्'। (II/१३)

यह ठीक है कि दण्डी ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति की परिधि के बाहर स्वीकार करने के कारण सभी अलंकारों के मूल में उसे नहीं माना। लेकिन इसके साथ यह भी तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि भामह की ही भाँति उन्होंने भी सभी अलंकारों के मूल में अतिशयोक्ति की सत्ता स्वीकार की। इसका कारण यही है कि स्वभावोक्ति का अतिशयोक्ति से कोई विरोध नहीं, क्योंकि अतिशयोक्ति का सम्बन्ध भाषा के मात्र रूपात्मक पक्ष के साथ नहीं है। अतिशयोक्ति के प्रभावक्षेत्र में न केवल कथन (शब्दार्थ) की वक्रता है वरन् वस्तु-रूप की जातिगत धारणा भी समाविष्ट की जा सकती है।

अतिशय ही अगर 'वार्ता' से काव्य को भिन्न करता है तब एक ओर यह भाषा-सन्दर्भित 'लोकातिक्रान्त वचन' अर्थात् वक्रोक्ति का परिणाम है और दूसरी ओर वस्तु की जातिगत संकल्पना से सन्दर्भित 'लोकातिक्रान्त' रूप अर्थात् स्वभावोक्ति का परिणाम है। यही कारण है कि दण्डी, एक साथ, 'वक्रोक्ति' और 'स्वभावोक्ति' दोनों की बात उठाते हैं। (II/३६२)

"श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रीयिम्
द्विधा भिन्नम् स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।

दण्डी की वक्रोक्ति की संकल्पना का संबंध इसी भाषा—सन्दर्भित लोकातिक्रान्त गोचरता से है। अतः उनके मूल में वे भाषिक संकल्पना श्लेष को मानते हैं। इस श्लेष को उन्होंने वस्तुरूप-सन्दर्भित लोकातिक्रान्तगोचरता (जाति) के लिये मूल नहीं माना है। यह लोकातिक्रान्तगोचरता ही चाहे वह भाषा-सन्दर्भित (वक्रोक्ति) हो अथवा वस्तुरूप-सन्दर्भित (स्वभावोक्ति) हो, अतिशय का कारण है और यह अतिशय ही काव्यार्थ है।

अतः दण्डी के लिये वक्रोक्ति एक ऐसा पारिभाषिक शब्द बन कर आता है जिसे भाषा-सन्दर्भित लोकातिक्रान्तगोचरता को व्यक्त करने वाले अलंकार-वर्ग के लिये प्रयुक्त माना जा सकता है और उसके मूल में 'श्लेष' की सत्ता असंदिग्ध रूप से रहती है। क्योंकि 'श्लेष' वक्रोक्ति-वर्ग के अलंकारों के मूल में है, अतः इस वर्ग के सभी उदाहरण संकीर्ण माने जा सकते हैं। परन्तु इससे भिन्न स्थिति स्वभावोक्ति की है। स्वभावोक्ति वस्तुरूप-सन्दर्भित लोकातिक्रान्त-गोचरता से सम्बद्ध है अतः श्लेष अथवा उसके समान्तर किसी अन्य भाषिक पारिभाषिक इकाई—(आर्टिफैक्ट) की धारणा सामने नहीं लाई गई है और यही कारण है कि उसे आद्य अलंकार कह कर वर्णित किया गया है।

आगे चलकर वक्रोक्ति' को अलंकार सामान्य के स्थान पर अलंकार-विशेष के रूप में प्रतिष्ठा मिली। इसमें भी दो दृष्टियाँ स्पष्ट हैं। वामन इसे अर्थालंकार की श्रेणी का अलंकार मानने के पक्ष में है। वे इसे उस 'लक्षण' के रूप में मानते हैं जो सादृश्य के आधार पर स्थित है। दूसरी ओर रुद्रट ऐसे विद्वान् हैं जो इसे शब्दालंकार की श्रेणी का अलंकार-विशेष मानने के पक्ष में हैं। यद्यपि शब्दालंकार के रूप में प्रयुक्त रुद्रट की वक्रोक्ति की धारणा ही बाद के काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार की और अलंकारशास्त्र में वक्रोक्ति की प्रतिष्ठा

शब्दालंकार-विशेष रूप में हुई, पर कुन्तक ने भामह द्वारा प्रयुक्त वक्रोक्ति की संकल्पना को ही अपने काव्यसिद्धान्त के मूल में स्वीकार किया।

कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को वैचित्र्य' के रूप में ग्रहण किया, जो काव्यार्थ का मूल हेतु है और जो लोकोत्तरचमत्कारकारि के रूप में सिद्ध है। वक्रोक्ति और कुछ नहीं 'विचित्र अभिधा' है। यह वक्रोक्ति अथवा विचित्र-अभिधा और कुछ नहीं, अपितु 'शास्त्रादि प्रसिद्ध शब्दार्थोप-निबन्ध-व्यतिरेकी है, वह 'अतिक्रान्त प्रसिद्ध-व्यवहार-सरणि' है।

यहाँ यह भी तथ्य ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि 'वक्रोक्ति' का प्रयोग कुन्तक ने भामह की तरह 'अलंकार-सामान्य-लक्षण' के रूप में किया है पर इस विभाजन—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति की भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की। यद्यपि स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के अन्तर को उन्होंने स्वीकार किया, पर वे दण्डी के इस मत से सहमत नहीं थे कि मात्र शब्द (चाहे वह कितना ही रमणीय हो) और मात्र अर्थ (चाहे वह कितना ही रंजक क्यों न हो) काव्य को जन्म दे सकता है। 'न शब्दशैव रमणीयता-वैशिष्ट्यस्य केवलस्य काव्यत्वम् न त्वर्थस्य'-पृ० ७) अर्थात् उनके मत में काव्यत्व के लिये वक्रोक्ति की सत्ता अनिवार्य है।

वक्रोक्ति को कुन्तक ने 'वैदग्ध्यभंगी–भणिति' (I/१०) के रूप में स्वीकार किया। 'भणिति', अभिव्यक्ति है, 'विन्यास' है; और भंगी व्यवच्छेद-तत्त्व है। विच्छिति वैचित्र्य है। 'वैदग्ध्य' से तात्पर्य है कवि-कौशल जो कवि-व्यापार-वक्रता है। अतः 'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति' से कुंतक का तात्पर्य है कवि-कौशल-जन्य वह अभिव्यक्ति जो विचित्र (Deviant) होने के कारण शास्त्रादि-प्रसिद्ध शब्दार्थ के उपनिबन्धन से भिन्न हो, जो अपने विन्यास में प्रसिद्ध व्यवहार-सरणि का अतिक्रमण करती हो।

यहाँ यह भी संकेत दे देना अनुचित न होगा कि कुन्तक या अन्य आचार्यों के कथन को उनके काव्य सम्बन्धी व्यापक सिद्धान्त के संदर्भ में ही देखना उचित है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि शब्दार्थोपनिबन्ध में प्रयुक्त शब्द वस्तुतः शब्द (word) न होकर अभिव्यक्ति (Expression) है और अर्थ शब्द का अर्थ (Word-Incoming) न होकर कथ्य अथवा भाव (Contentor Concept) है तथा उपनिबन्ध कोशीय शब्द (Lexicalitem) और उसके अर्थ (Lexical meaning) का मात्र सम्बन्ध न होकर अभिव्यक्ति और कथ्य के बीच का विन्यास है। इस दृष्टि से पूरी काव्यकृति को भाषिक-प्रतीक (Linguistic-symbol) माना जा सकता है और कवि-कौशल के रूप में काव्यकृति को कथ्य और अभि-व्यक्ति के विन्यास के रूप में देखा जा सकता है। कुन्तक इस विन्यास (उपनिबन्ध) की विच्छिति अथवा वक्रता की बात करते हैं और यही कारण है कि उनके काव्य-सिद्धान्त में न केवल वाक्य-वक्रता है, बल्कि प्रबन्ध-वक्रता का भी समावेश है। अतः अगर वक्रोक्ति को भणिति-प्रकार (अर्थात् अभिव्यक्ति-प्रकार) माना जाए तो इस अभिव्यक्ति-प्रकार को विन्यास-प्रकार के रूप में देखना और उसे विन्यास-विच्छिति (वैचित्र्य) के रूप में परि-भाषित करना उचित है न कि रूपक की तरह यह मानना कि भणिति उक्ति-वैचित्र्य है। इकाई के रूप में कोषीय शब्द के स्थान पर काव्यकृति की सम्पूर्ण भाषिक रचना को आधार मानने के कारण कुन्तक दण्डी की तरह 'श्लेष' को सर्वसामान्य अलंकार मानने के पक्ष में नहीं है। उपनिबन्ध अथवा कथ्य और अभिव्यक्ति-पक्ष के विन्यास को केन्द्र रखने के कारण

ही उन्होंने वक्रोक्ति को एक व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठापित किया।

कुन्तक की एक दूसरी महत्त्वपूर्ण धारणा पर संक्षेप में यहाँ विचार कर लेना असमीचीन न होगा। कुन्तक, दण्डी के 'वस्तु-रूप-सन्दर्भित-लोकातिक्रांत-गोचरता' और 'भाषा सन्दर्भित-लोकातिक्रांत-गोचरता' के विभाजन को तो स्वीकार करने के पक्ष में हैं पर उनकी 'वस्तु-रूप-सन्दर्भित-लोकातिक्रांत-गोचरता' एक दूसरी दृष्टि से भी भाषा-सन्दर्भित है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि जब कुन्तक अलंकार्य और अलंकार के भेद की बात करते हैं तब अलंकार्य से भी उनका तात्पर्य शब्द और अर्थ से है। बाह्य जगत् की स्थिति भौतिक वस्तु से नहीं। काव्य तो 'सालंकृत शब्दार्थ' है। अतः अलंकार, इस शब्दार्थ का अलंकरण है न कि वस्तु का। यही कारण है कि कुन्तक के अनुसार अलंकार और वक्रोक्ति एक दृष्टि से पर्याय बन जाते हैं, क्योंकि 'वार्ता' से 'काव्य' का विच्छेद करने वाला जो वक्रोक्ति तत्त्व है वही तो अलंकार है। इसी कारण कुन्तक ने वक्रोक्ति-वैचित्र्य को अलंकार-वैचित्र्य-भाव भी कहा है। यह भी कहा जा सकता है कि काव्य शास्त्र के सिद्धांत के संदर्भ में तो उन्होंने अलंकार शब्द का प्रयोग किया है, पर 'सकल-अलंकार-सामान्य' या 'अलंकार सामान्य-लक्षण' के रूप में वक्रोक्ति को परिभाषित करते हुए इसे काव्य शास्त्र के विश्लेषण-गम्य-प्रयोग (operation) के लिए अपनाया है।

यह 'वस्तुरूप-संदर्भित लोकातिक्रांतगोचरता' शब्दार्थ तो है पर वह सालंकृत शब्दार्थ नहीं, पर इसके साथ ही यह भी सत्य है कि वह 'सामान्य' कथन (वार्ता) न होकर वस्तु की। सामान्यीकृत की (स्वभावोक्ति) भाषिक संकल्पना होती है। कुन्तक के अनुसार यह स्वभावोक्ति कविशक्ति की मूलभूत प्रकृति के सहज प्रस्फुटन का परिणाम है, जबकि वक्रोक्ति का कवि-कौशल आहार्य होता है। वस्तु की जातिगत (स्वभावपरक) संकल्पना से सम्बन्ध होने के कारण ही इसे स्वभावोक्ति कहा गया है। इस मार्ग में अभिव्यक्ति-(निबन्धन) की वक्रता नहीं होने के कारण, कवि-कौशल की अपेक्षा नहीं रहती। वह तो कवि-स्वभाव की अपनी सहज प्रतिभा का परिमाण है। अतः यह 'सुकुमार' मार्ग है, 'विचित्र' मार्ग नहीं।

यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि कुन्तक 'सुकुमार' और 'विचित्र' दोनों ही मार्गों के संदर्भ में माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य गुणों की चर्चा करते हैं (यद्यपि इन दोनों मार्गों में इनके लक्षण गुणात्मक भेद के साथ संकेतित हैं), दोनों में वे समान रूप से 'प्रतीयमानता' की सत्ता स्वीकार करते हैं और इन दोनों में ही अभिव्यक्तियों को वे 'सातिशय' मानते हैं।

जो दुविधा भामह और दण्डी के विवेचन में देखने को मिलती है वह कुन्तक में भी है। 'सुकुमार' और 'वैचित्र्य' दोनों ही मार्ग अगर काव्य-मार्ग हैं, दोनों ही 'वार्ता' से भिन्न 'सातिशय' अर्थ के कारण हैं, तब काव्य सिद्धान्त के सर्वसामान्य लक्षण के रूप में 'वक्रोक्ति' (वैचित्र्य) की संकल्पना को ही क्यों मूलरूप में स्वीकार किया जाए? किसी एक मार्ग को प्रधानता देना एक बात है पर उसी मार्ग की संकल्पना को सर्वसकल लक्षण के रूप में स्वीकार करना उससे भिन्न बात है। अतः यह प्रश्न कुन्तक के सिद्धान्त के संदर्भ में भी उठाया जा सकता है कि अगर 'स्वभावोक्ति' अलंकार नहीं अपितु 'अलंकार्य' है और स्वभावोक्ति वक्रोक्ति रहित होकर भी एक ओर सातिशय काव्यपरक अभिव्यक्ति है और दूसरी तरफ वक्रोक्ति सर्वसामान्य अलंकार तत्त्व है तब अलंकार या वक्रोक्ति काव्य की मूलभूत

आत्मा कैसे सिद्ध रह सकती है। कुन्तक जैसा विचारक इस दुविधा से परिचित न हो, ऐसा संभव नहीं। वस्तुतः कुन्तक ने अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों की स्वभावोक्ति अथवा रसवत् अलंकार की धारणा का विस्तार में जाकर खण्डन किया है। उनके अनुसार 'रसवत्' न तो 'रसाश्रयम्' है और न 'रसपेशलम्' है अपितु वह 'रसेन वर्तते तुल्यम्' है। वे यह मानते हैं कि 'रसवत् स्वभावोक्ति से आविर्भूत अतिशय, कवि-कौशल का परिणाम है। अगर यह कौशल है तब यह वक्रता ही है भले ही यह कवि-कर्म से सम्बन्ध है—

'रसस्वभावालंकाराणाम् सर्वेषां कवि कौशलम् एव जीवितम्' (पृ. १४६)

स्पष्ट है कि कुन्तक ने वक्रोक्ति की धारणा को दो भिन्न संदर्भों में प्रयुक्त किया है। पहला स्तर है अंतर-विधा (Inter-genera) का है जिसके आधार पर काव्य को अन्य भाषिक संरचना (वार्ता) से भिन्न दिखाना चाहते हैं। इस स्तर पर वे इसे 'सातिशय' के समानार्थी के रूप में ग्रहण करते हैं। यह कवि-कौशल की सहज प्रकृति से सम्बद्ध है और इसके भीतर वस्तु-संदर्भित और भाषा-संदर्भित दोनों ही 'अतिक्रांत' गोचरता समाहित हैं। 'वक्रोक्ति' इस धारणा के प्रयोग का दूसरा स्तर है–काव्यविधा के भीतर (Intra-genera) का क्षेत्र, जिसके आधार पर वे 'वैचित्र्य' मार्ग को 'सुकुमार मार्ग' से भिन्न सिद्ध करते हैं। स्वभावजन्य कवि-प्रतिभा और आहार्य-जन्य कवि-कौशल में भेद करते हैं तथा वस्तु-संदर्भित और भाषा-संदर्भित अतिक्रांत गोचरता में विभेद स्थापित करते हैं। इस आधार पर वे कथ्य की सहज स्वाभाविकता के सौंदर्य और कथ्य तथा अभिव्यक्ति के विन्यास में अंतर्भुक्त सौंदर्य में भेद करते हैं।

वक्रोक्ति की धारणा को इन दो भिन्न स्तरों पर प्रतिष्ठापित करने और इस दुविधा से अपने काव्य सिद्धांत की रक्षा करने के कारण ही परवर्ती अन्य आचार्यों में उस संकल्पना को मूलभूत रूप में स्वीकार किया जो काव्य के सभी उपवर्गों में समान रूप से स्थित है। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन सभी अलंकारों के उद्देश्य के रूप में अतिशय की कल्पना सामने लाते हैं और अभिनवगुप्त की यह मान्यता है कि अतिशयोक्ति, (न कि वक्रोक्ति) 'सर्वालंकार-सामान्य रूपम्' है। इसी प्रकार मम्मट की यह मान्यता है कि यह अतिशय ही सभी अलंकारों का प्राणतत्त्व है।

६

शब्दार्थ-सम्बन्ध : प्राचीन काव्यशास्त्र के अनुसार

दंडी ने कहा कि लोकयात्रा वाक्-प्रसाद से ही चलती है, यदि शब्दाख्या-ज्योति न होती तो संसार अंधेरा ही रहता—

'वाचामेव प्रसादेन लोक-यात्रा प्रवर्तते । इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।'

यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ।। (काव्यादर्श १/३-४)

काव्य अथवा साहित्य की साधना वस्तुतः शब्दार्थ-साधना ही है । ऋग्वेद (८/१००/११) में भाव-प्रकट करने के लिए जिस वाक् के जनन की ('दैवीं' वाचमजनयन्त देवाः) बात कही गई है, उसका आधार शब्द है चित्त-वृत्ति का प्रकाशन शब्द के माध्यम से ही होता है । अभिनवगुप्ताचार्य ने इसलिए चित्त-वृत्ति के शब्दों की वहिरंगता को स्पष्टतः अस्वीकार किया है—'यन्तु कैश्चिदभिधीयते चित्त-वृत्ति प्रतिशब्दानां वहिरंगत्वं तदसत् । (ना. शा./४/१ पर अभिनव भारती) इस चित्त-वृत्ति अथवा भाव का दूसरे शब्दों में अर्थ का शब्द से एक प्रकार का अनिवार्य संबंध है । यह संबंध क्या है, किस प्रकार का है, किस प्रक्रिया से शब्द से अर्थ द्योतित होता है, यह अन्य शास्त्रों के आचार्यों के अतिरिक्त काव्य-शास्त्रीय आचार्यों के विचार का भी प्रधान विषय रहा है । यह दूसरी वात है कि ये काव्य-शास्त्री अनेक मतमतान्तरों के पूर्वग्रह से ग्रस्त रहे हैं और उन मतवादों की मान्यता का स्पष्ट प्रभाव उनके शब्दार्थ-संबंध विवेचन पर पड़ा है ।

शब्द और अर्थ का संबंध नित्य है या अनित्य, इस प्रश्न पर भारतीय काव्य-शास्त्राचार्यों ने कदाचित् अधिक विवाद नहीं किया है, पर उनका व्यवहार शब्दार्थ की नित्यता को ही संकेतित करता है । ऐसा लगता है कि शब्दार्थ-संबंधी नित्यता को स्वीकारे विना उनका कार्य ही नहीं चल सकता । छठी शती के आचार्य भामह ने शब्द को नित्य अविनाशी तो माना, परन्तु सत्तात्मक अर्थ से शब्द का नित्य संबंध है अथवा अनित्य, इस विषय पर विचार न करके केवल उन विद्वानों को नमस्कृति निवेदन करके छुट्टी पा ली, जो इसकी निश्चिति में प्रमाण हैं:—

> स कूटस्थोऽनपायी च नादादन्यश्च कथ्यते ।
> मन्दाः सांकेतिकानर्थान् मन्यन्ते पारमार्थिकान् ।।
> विनश्वरोऽस्तु नित्यो वा सम्वन्धोऽर्थेन वा सत्तां ।
> नमोऽस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यो प्रमाणं येऽस्य निश्चितौ ।। (काव्यालंकार, ६/१४-१५)

कालिदासादि से लेकर गोस्वामी तुलसीदासादि महाकवियों ने वागर्थ अथवा शब्दार्थ का संबंध संपृक्त अथवा अभिन्न माना है । महाकवि कालिदास ने जिस प्रकार पार्वती-परमेश्वर के समान संपृक्त वागर्थ की वंदना की है :—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ-प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ (रघुवंश, १/१)

उसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी गिरा अर्थ को ऊपर-ऊपर से भिन्न दीखने वाले, किन्तु तत्वतः अभिन्न कहा है :—

गिरा अर्थ जल-वीचि-सम लखियत भिन्न न भिन्न।

लोक-व्यवहार में सामान्यतः वाक्, ध्वनि, शब्द और पद का पर्याय के रूप में प्रयोग होता है, परन्तु विशिष्ट दृष्टि से ये सब पृथक्-पृथक् पारिभाषिक शब्द हैं। वाक् व्यक्त भी हो सकती है और अव्यक्त भी। निरुक्त (११/२९) में कहा गया है—'पशवो वदन्ति व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च।' इसी को दुर्गाचार्य ने स्पष्ट करते हुए बताया है—'व्यक्तवाचो मनुष्यादयो अव्यक्तवाचो गवादयः।' अर्थात् व्यक्त वाणी मनुष्यों की है, अव्यक्त गौआदि की। ध्वनि या नाद से कूटस्थ, अनपायी शब्द भिन्न है। भामह के पूर्वोद्धृत वचन से यह स्पष्ट है। उनका तात्पर्य है कि वर्णों से शब्द की उत्पत्ति होती है, वे वर्ण नादस्वरूप नहीं, प्रत्युत् नाद से अभिव्यंग्य हैं, अर्थात् नाद या ध्वनि व्यंजक है और वर्ण व्यंग्य। महाभाष्य (पस्पशाह्निक) में 'शब्द करो', 'शब्द मत करो' अथवा 'यह बालक शब्दकारी है—' 'शब्दं कुरु', 'मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः' इत्यादि लोक-व्यवहार में प्रयुक्त शब्द से यह विचारा गया है कि यह जो प्रतीत-पदार्थक ध्वनि लोक में उच्चरित होती है, वही शब्द है। इससे यह संकेत मिलता है कि ध्वनि या स्वन शब्द का आदिम रूप है। यह ध्वनि दो प्रकार की होती है, अव्यक्त और व्यक्त। उव्वट के अनुसार अव्यक्त ध्वनि वेणु उपकरणों द्वारा वायु के आघात से उत्पन्न होती है—'सम्यक् करपौरूपहितो हृदि वायु-र्वेणु शब्दादिभिः शब्दी भवति' और पुरुष-प्रयत्न से उच्चरित ध्वनि व्यक्त होती है जिसे वर्ण कहा जाता है—संघातः पुरुष-प्रयत्नः स आदौ येषां स्थानादीनां ते संघातादयः। तान् प्राप्य वाग् भवति, वर्णोभवतीत्यर्थः। शब्द प्रकृतिः सर्व-वर्णानाम्—शब्द सब वर्णों की प्रकृति है। वर्ण समुदाय अथवा वर्ण अक्षर है—वर्णऽसमुदायोऽक्षरं वर्णो वा। बृहद् देवता (२/११७), कौटिलीय अर्थशास्त्र (२/१०/२८) तथा शुक्ल यजुः (प्रा. ८/४६-४७) के अनुसार वर्ण-संघात या अक्षर-समुदाय पद है। (क) वर्ण-संघातजम् पदम्। (ख) वर्ण-संघातः पदम्। (ग) अक्षर-समुदायः पदम्। अक्षरं वा। इस प्रकार लोक-व्यवहार में शब्द और पद एकार्थ का बोध कराने पर भी भिन्न हैं। पाणिनि के अनुसार सुप् और तिङ्—विभक्ति युक्त होने पर शब्द पद बनते हैं। 'सुप्तिङन्तं पदम्' महाभाष्य (१/२/६४) में भी 'विभक्त्यन्तं च पदम्' बताया गया है। अधातु अप्रत्यय अर्थवत् प्रातिपदिक शब्द हैं—व्यक्त शब्द तथा पद वह शब्द है जो विभक्ति-युक्त होता है अर्थात् लोक-व्यवहार में प्रयोग शब्द का नहीं अपितु पद का होता है, किन्तु बहुधा शब्द और पद दोनों पर्याय रूप में प्रयुक्त मिलते हैं, जैसे महाभाष्य (१/२/६४, वार्तिक २९) में 'केष्वर्थेषु लौकिकाः कान् शब्दान् प्रयुज्यते' कहा है, जबकि नियनतः 'कानि पदानि' कहना चाहिए।

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने पद और शब्द का यथेच्छ व्यवहार किया है। प्रश्न उठता है कि 'कस्तर्हि शब्दः' ? शब्द क्या है ? महाभाष्यकार कहता है-'येनोच्चारितेन सास्नालांगूल-ककुदखुर-विषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः' जिसके द्वारा सास्ना लांगूल ककुदखुर विषाणधारियों का संप्रत्यय हो, वह शब्द है, अथवा ध्वनि शब्द है। भामह ने कहा है :—

कुछ लोग शब्द उसे कहते हैं जिससे अर्थ की प्रतीति हो, पर ऐसा नहीं है, अन्यथा अग्नि की प्रतीति में धूम और प्रकाश को भी शब्द मानना पड़ेगा। तब फिर अर्थ की प्रतीति के लिए उच्चारित अकारादि वर्णों के सार्थक समुदाय को शब्द कहना चाहिए। पर एक-एक असमर्थ (अर्थ हीन वर्ण) का समुदाय अर्थवान् कैसे हो सकता है? फिर वर्णों के क्रमवर्ती होने से उनका समुदाय भी संगत नहीं है। समुदायी से समुदाय पृथक् नहीं होता। लकड़ी, दीवार और भूमि को छोड़ भवन और किसे कहा जाता है? (तुलनीय हैं : काव्यालंकार ६/७-१०)

भामह ने शब्द की परिभाषा—अर्थ प्रतीति के लिए उच्चरित 'अकारादि वर्णों का सार्थक समुदाय'—दी है। परन्तु इस पर स्फोटवादियों की कुछ आपत्ति है। स्फोटवादी कहते हैं कि यदि सार्थक वर्ण-समुदाय शब्द है तो पहिला प्रश्न यह उठता है कि अर्थ-प्रतीति वर्ण से होती है या वर्ण-समुदाय से। यदि वर्ण से होती है तो कमल का 'क' कहने भर से कमल के अर्थ की प्रतीति हो जानी चाहिए, पर ऐसा होता तभी है, जब 'कमल'—इन तीनों वर्णों का उच्चारण होता है। अर्थात् स्वयं वर्ण अर्थहीन होते हैं और जब वर्ण अर्थहीन हैं तो वर्ण-समुदाय भी अर्थहीन होगा, क्योंकि समुदायियों से भिन्न समुदाय कोई वस्तु नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त समुदाय तो उसे कहते हैं जो एक देश और काम में उपस्थित रहे। कमल के तीनों वर्ण एक देश और काल में उपस्थित नहीं रहते। उच्चारण के साथ प्रत्येक वर्ण का अविलम्ब नाश होता रहता है। ऐसी स्थिति में क्षणिक वर्णों का समुदाय कैसे संभव हो सकता है? इन आपत्तियों का परिहार करने के लिए वैयाकरणों ने वर्ण की एकता, नित्यता और विभुता की मान्यता दी और शब्द-बुद्धि-कर्म की क्षणिकता को अयुक्त माना—'अवर्णादीनामेकत्वं नित्यत्वं विभुत्वं च।········ शब्द-बुद्धि-कर्मणां क्षणिकत्वमिति न युक्तम्।' (वैयाकरण सिद्धान्तमञ्जूषा-शक्त्याश्रय-निरूपणम्) इसीलिए उन्होंने स्फोट की कल्पना की है। स्फोट अर्थात् जिससे अर्थ फूटता है—स्फुटित अर्थः अस्मात्। स्फोट का अर्थ है नित्य, अखंड शब्द। इससे ही अर्थ स्फुटित होता है।

भामह ने स्फोटवादियों का खंडन करते हुए कहा है कि यह तो पहिले ही संकेतित अर्थात् ईश्वर द्वारा निश्चय हो चुका है कि इतने और ऐसे वर्ण, ऐसे अर्थ का बोध करायेंगे—'इयंत ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिनः। व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः। (काव्यालंकार ६/१३)

और इन्हीं भामह ने शब्दार्थ को काव्य में अभिन्न माना है तथा काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया, 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। (काव्यालंकार, १/१६)

दंडी ने (सातवीं शती) इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्' (काव्यादर्श १/१०) कहकर पदार्थ (पद और अर्थ का) सहसंबंध स्वीकार किया है।

रीति-संप्रदाय के प्रवर्तक वामन (नवम शती) ने भी कहा है कि 'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।' (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति-१) और रुद्रट ने 'शब्दार्थौ काव्यम्' (काव्यालंकार २/१) कहा है। इसी प्रकार मम्मट (आनंद वर्धन, हेमचन्द्र, वाग्भट, विद्यानाथ, विद्याधर आदि काव्य-शास्त्रियों ने शब्दार्थ के नित्य सहचार की घोषणा की है। मम्मट—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'

आनंदवर्धन—शब्दार्थ-शरीरं तावत्काव्यम् ।
हेमचन्द्र—अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।
वाग्भट—शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ च काव्यम् ।
विद्यानाथ—गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम् ।
विद्याधर—शब्दार्थौ वपुरस्य च······· ······ ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने शब्दार्थ का उल्लेख तो नहीं किया, पर वे और आगे बढ़कर वाक्य को काव्य मानते हैं—वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । रसगंगाधर के रचयिता पंडितराज जगन्नाथ यद्यपि शब्द को ही काव्य मानते हैं, पर वे उसकी अर्थवत्ता पर ही नहीं, रमणीयार्थवत्ता पर बल देते हैं ।

इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्री संपृक्त शब्दार्थ को ही काव्य मानते हैं । व्याकरण की दृष्टि से—सिद्ध शब्द पद होता है । पाणिनि के अनुसार पद सुबंत और तिङ्त होते हैं । पदों का यह वर्गीकरण रचना के आधार पर है । इसी को शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य (१/२७) में तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासशब्दमयम् । कहा गया है प्रवृत्तिनिमित्त के आधार पर आचार्य इन्द्र के अनुसार अर्थाभिधायक पद एक ही प्रकार का है । 'नैकं पदजातं यथाऽर्थः पदमैन्द्राणामिति । (दुर्गाचार्य १/१) । महाभाष्यकार का मत इसके विपरीत है । वे शब्द की प्रवृत्ति को जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा को प्रकट करने के लिए निमित्त मानते हैं । उनके अनुसार शब्द के चार प्रकार हैं—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा,—'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति जाति-शब्दाः, गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्था' (महाभाष्य १/१/२) ।

प्रयोग रीति के आधार पर शब्द दो प्रकार के माने गए—दृष्टव्यय और अव्यय । दृष्टव्यय वे सुप्-तिङंत पद हैं, जिनके विभिन्न प्रकार के रूप प्रयोग में आते हैं । दृष्टव्ययंतु भवति (निरूक्त १/८/५/२३) और अव्यय वे हैं, जो गोपथ ब्राह्मण (१२/१/२६) के अनुसार 'सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु यन्न येति तदव्ययम् ।' अर्थात् जो तीनों लिंगों, सब विभक्तियों और सब वचनों में अधिकृत रहें, वे अव्यय कहलाते हैं । यास्क ने प्रवृत्तिनिमिति और प्रयोग की रीति के आधार पर नाम (जाति, गुण और यदृच्छा वाचक शब्द), आख्यात (क्रिया), उपसर्ग (नाम और आख्यात के साथ लगकर अभियान करने वाले शब्द) और निपात (अव्यय)—ये चार शब्द-भेद माने हैं । कुछ लोगों ने प्रति आदि असत्व-वाचक पदों को कर्म-प्रवचनीय कहकर पाँच शब्द-भेद माने हैं, किन्तु अन्य आचार्य कर्म-प्रवचनीय को उपसर्ग में अंतर्भूत कर लेते हैं ।

ऐतिहासिक दृष्टि से देश और काल को आधार मानकर तत्सम, तद्भव, अपभ्रष्ट आदि वर्गों में पदों का विभाजन किया जाता है ।

काव्यशास्त्री भामह द्रव्य, क्रिया, जाति और गुण के भेद से शब्द चार प्रकार के मानते हैं:—

'द्रव्य क्रिया जाति गुण भेदात्ते च चतुर्विधाः' (काव्यालंकार ६–२१)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सस्कृत काव्य शास्त्रियों ने अर्थ को ध्यान में रखते हुए शब्द को परिभाषित किया है । क्योंकि जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, काव्य में शब्दार्थ की संपृक्ति के बिना कार्य नहीं चल सकता । यह अपने स्थान पर सत्य है जैसा कि दंडी ने

कहा है कि शब्दाह्वय ज्योति से ही संसार दीपता है, और जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है कि लोक में शब्दानुगम के बिना कोई प्रत्यय नहीं होता तथा समस्त ज्ञान शब्द से ही भासता है :—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।।

किन्तु शब्द स्वयं साध्य नहीं होता। जिस प्रकार ज्योति का उपयोग दीप्त करने में है, वैसे ही शब्द का उपयोग भी अर्थ द्योतित करने में है। भले ही वह वैयाकरणों के मतानुसार 'स्फुटित' हो, और स्फोट के नित्य होने से नित्य हो, या नैयायिकों के अनुसार 'अनेक-वर्णा-वगाहिनी पद-प्रतीति' हो, अथवा बौद्धों के अनुसार 'तद्भिन्न-भिन्नत्व' हो। अतः काव्यशास्त्रियों ने शब्दार्थ-स्वरूप की चर्चा में अर्थ को ध्यान में रखते हुए शब्द के 'स्याद् वाचिको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंज्यकस्त्रिधा (मम्मट—काव्यप्रकाश, २/१) कहकर शब्द को तीन प्रकार का माना वाचिक, लाक्षणिक और व्यञ्जक। यों विश्वनाथ ने अनन्वितकार्थबोधक प्रयोगार्ह वर्णों को पद कहा है— 'वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः (साहित्यदर्पण २/८)। वस्तुतः काव्यशास्त्रियों की दृष्टि अर्थ-प्रधान ही रही है 'प्रधानमर्थः शब्दो हितद्गुणायत्त इष्यते।' (बृहद् देवता २/९९)।

वैसे भी साहित्य में अर्थ की ही प्रधानता होती है। यद्यपि अर्थ के अनेक लक्षण दिये गये हैं, पर अर्थ का सरलतम लक्षण यही है कि शब्द के द्वारा जो प्रतीत होता है, वही उसका अर्थ होता है :—

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते ।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ।। (वाक्यपदीय, २/३३०)

देखने में (और व्यवहार में भी) किसी शब्द से किसी अर्थ का बोध हो जाना बड़ा सरल और सहज लगता है, पर विचार करने पर यह बड़ा आश्चर्यजनक लगता है कि पुस्तक शब्द का उच्चारण करने से एक पठन-व्यवहार में आने वाली वस्तु का ही बोध होता है। क्यों जिस पर चढ़कर जाया जाता है, या जो 'बनारसी इक्के' में जोता जाता है, उसका बोध नहीं होता ? वह वस्तु 'अश्व' ही क्यों है, 'पुस्तक' क्यों नहीं ?

भारतीय शास्त्रों में शब्दार्थ-संबंध की इस क्रिया को शाब्दबोध कहा गया है। इसका विवेचन व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा-शास्त्रों में विशेषतया किया गया है। व्याकरण पद-पदार्थों का विवेचन है, अतः यह 'पदशास्त्र' कहलाता है। न्याय में प्रमाणों का विशिष्ट-तया विचार होता है, अतः वह 'प्रमाण-शास्त्र' कहा जाता है, मीमांसा वाक्य-शास्त्र है, क्योंकि उसमें वाक्यार्थ शैली का विवेचन होता है। अतः शाब्दबोध विवेचन में इन तीनों शास्त्रों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। काव्यशास्त्रियों ने यद्यपि शब्दार्थ संबंध—निर्धारण इन तीनों शास्त्रों की सहायता अनिवार्य रूप से ली है; किन्तु मुख्यतः वे वैयाकरणों के मत के पोषक रहे हैं।

भाषा-व्यवहार में सिद्ध शब्द अर्थात् पद ही प्रयुक्त होता है, किन्तु स्वतंत्र रूप में नहीं वाक्य के अंग के रूप में। अतः व्यवहार में वास्तविक सत्ता वाक्य की होती है, पद या वर्ण की सत्ता काल्पनिक है। भर्तृहरि ने बताया है कि जिस प्रकार वर्णों में अवयव नहीं होते, उसी प्रकार पदों में वर्ण और वाक्य में पद नहीं होते :—

पदे वर्णा न विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यंतं प्रविवेको न कश्चन ।।

किन्तु यह भी अपने स्थान पर सही है कि योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति-युक्त पद-समूह ही वाक्य होता है :— 'वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः, (विश्वनाथ, साहित्य दर्पण २/१) । पदोच्चय अर्थात् वाक्य का उच्चय आगे चल कर महावाक्य बन जाता है और काव्यादि कहलाता है। अर्थात् समूचा अर्थबोध पदोच्चय में ही होता है ।

मम्मट आदि आचार्यों का जैसा कि अभिमत है तीन प्रकार के वाचिक, लाक्षणिक और व्यंजक शब्दों से क्रमशः तीन प्रकार के अर्थ होते हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। इसी को विश्वनाथ ने 'अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यंग्यश्चेति त्रिधा मतः (सा. द. २/५) कहा है ।

'काव्यप्रकाश' के शब्दार्थ-स्वरूप-निर्णय नामक द्वितीय उल्लास में मम्मट ने आगे बताय है-'तात्पयार्थोऽपि केषुचित् ' (२/६), अर्थात् कुछ विद्वान् एक चौथा अर्थ 'तात्पर्यार्थ' भी मानते हैं। विश्वनाथ ने भी इसका उल्लेख किया है (सा. द. २/२७) । यह 'तात्पर्यार्थ' पदोच्चय-दृष्टि से है।

शब्द में अर्थ किस तरह सिद्ध होता है ? वैयाकरणों ने शब्द में अर्थ का स्फोट होने की बात कही है। यद्यपि वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, वर्ण-जातिस्फोट, पदजातिस्फोट, वाक्यजातिस्फोट, अखण्ड पदस्फोट, और अखण्ड वाक्यस्फोट वैयाकरणों द्वारा मान्य हैं, परन्तु लोक में मुख्यता वाक्य-स्फोट की ही है । कम न्याय भाष्यकार के 'पदसमूहो वाक्यमर्थ समाप्तौ (२/१/५५) के अनुसार अर्थ-समाप्ति वाक्य द्वारा ही संभव है—'तत्र वाक्य स्फोटो मुख्यो लोके तस्यैवार्थबोधकत्वात्तेनैवार्थ-समाप्तेश्च ।' नागेश भट्ट (वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा) स्फुटित अर्थ और शब्द अर्थात् पद-पदार्थ का सम्बन्धान्तर 'शक्ति' कहता है, जिसका अपरपर्याय 'वाच्य-वाचकभाव' है—'पद-पदार्थयो : सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः वाच्यवाचक भावा पर्याया ।' (वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा, शक्ति निरूपण) । इस शक्ति का कहलाता ग्राहक संकेत है । पातंजल भाष्य में संकेत को पदपदार्थ का इतरेतराध्यासरूप और स्मृत्यात्मक बताया गया है—'इस शब्द का यह अर्थ है, इस अर्थ के लिए यह शब्द है— 'संकेतस्तु पद-पदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः, योऽयं शब्दः सोऽर्थो योऽर्थः स शब्दः ।' यह शक्ति तीन प्रकार की मानी गई है—शक्ति, लक्षणा और व्यंजना-'शक्तिर्लक्षिणा व्यंजना च ।'

काव्य-शास्त्रियों ने प्रमुखतया इन तीन शब्दार्थ-सम्बन्ध-विधायिका शक्तियों को स्वीकारा है। उन्होंने इनके नाम क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना दिए हैं । वाच्यार्थ अभिधा से, लक्ष्यार्थ लक्षणा से और व्यंग्यार्थ व्यंजना से बोध्य होता है ।

अभिधा अग्रिमा वृत्ति है, क्योंकि संकेतित (जिसे साक्षात्-संकेतित कहना समीचीत है) अर्थ का बोध इसी से होता है—'तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमामिधा' (वि. ना., सा. द. २/७) । भामह ने स्फोटवाद को अग्राह्य करके 'प्रागित्थं समयः कृतः,' इसी संकेत के लिये कहा था । कौण्डभट्ट ने भी इसी को कदाचित् इन्द्रियों की स्वविषयों में अनादियोग्यता के समान शब्दों का अर्थों से अनादि संबंध कहा है :—

'इन्द्रियाणां स्वविषयेषु अनादिर्योग्यता यथा ।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा।।' (वैयाकरण भूषणसार ६/३७ में उद्धृत) इस प्रकार संकेत-ग्रह का अर्थ होता है शब्द से अर्थ का बोध । आधुनिक भाषा में इसे बिम्ब-निर्माण भी कहा जा सकता है । मानवी चेतना के विकास के साथ-साथ जैसे-जैसे परिवेश के वस्तुजगत् से मनुष्य का परिचय बढ़ता जाता है, उसके मस्तिष्क पर वस्तु का बिम्ब अंकित होता जाता है । इसी से मनुष्य वस्तु के परोक्ष होने पर भी मानसिक रूप में उसे देख सकता है । जैसे-जैसे वस्तु-बिम्ब मन पर अंकित होता चलता है, वैसे-वैसे उसका वाचक शब्द भी मन पर अंकित होता जाता है । वस्तु और शब्द, अथवा पदार्थ और पद का यही स्थिरीभूत मानस-संस्कार बिम्ब है । अतः जब-जब वस्तु दिखायी देती है, उसका वाचक शब्द भी उपस्थित हो जाता है । साहित्याचार्यों ने इस बिम्ब-ग्रहण अथवा संकेत-ग्रहण के आठ साधन माने हैं—व्यवहार, आप्तवाक्य, उपमान, वाक्यशेष (प्रकरण) विवृति, प्रसिद्ध पद-सन्निधि, व्याकरण और कोष ।

मम्मट ने इस विषय में कहा है कि लोक-व्यवहार में बिना संकेत-ग्रह के शब्द से अर्थ की प्रतीति न होने से संकेत की सहायता से ही शब्द अर्थ-विशेष का प्रतिपादन करता है । अतः जिस शब्द का जिस अर्थ में अव्यवधान से संकेत का ग्रहण होता है, वह उसका वाचक होता है ।

'संकेतग्रह' कहाँ होता है' इस विषय में मम्मट की उक्ति है कि संकेतिक अर्थ जात्यादि अर्थात् जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा रूप भेदों से चार प्रकार का होता है, अथवा केवल जाति ही होता है—'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।' (का. प्र. २/८) । विश्वनाथ के अनुसार संकेत जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में होता है—'संकेतो गृह्यते जातौ गुण-द्रव्य-क्रियासु च ।' (सा. द. २/८) । भामह ने द्रव्य, क्रिया, जाति और गुण के भेद से शब्दों के चार प्रकार माने हैं, जिसका आधार महाभाष्यकार का यह कथन है कि 'चतुष्टयी च शब्दानां प्रवृत्तिः जाति-शब्दाः गुण-शब्दाः क्रियाशब्दाः-यदृच्छा शब्दाः ।' मम्मट ने भी इस कथन को ही प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है और बताया गया है कि संकेतग्रह व्यक्ति में नहीं, व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा आदि धर्मों में होता है । व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से आनंत्यव्यभिचार दोष आ जायेगा, अतः व्यक्ति में नहीं व्यक्ति की जातिगुणादि उपाधियों में ही संकेत-ग्रह मानना उचित है । (तुलनीय हैः सा. द. २/८ की वृत्ति) ।

संकेत-ग्रह को लेकर सामान्यतः वैयाकरण, मीमांसक, नैयायिक तथा बौद्ध इन चार मतों की चर्चा होती है । साहित्यशास्त्रियों ने अधिकतः वैयाकरणों के मत को ही मान्यता दी है, जिनके अनुसार संकेतग्रहण जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया चारों में होता है । मीमांसक केवल जाति में मानते हैं, उनके अनुसार गुण, द्रव्य और क्रिया जाति की ही विभिन्न विशेषताओं के बोधक मात्र है । नैयायिक संकेतग्रहण सपूर्ण जाति में न मानकर 'जाति-विशिष्ट' मात्र में मानते हैं । जैसे अश्व कहने से पशु-संपूर्ण जाति का बोध नहीं होता, अश्व विशिष्ट जाति-मात्र का बोध होता है । बौद्ध 'अपोह' वादी है । अपोह—अर्थात् आवृत कर लेना । इनके अनुसार जब वस्तु का नाम लिया जाता है, तब उसके अतिरिक्त शेष वस्तु जगत् पर एक आवरण पड़ जाता है ।

क्योंकि हमेशा साक्षात् संकेतित मुख्यार्थ से इष्टार्थ की प्रतीति नहीं होती, अतः मानना पड़ता है कि साक्षात् संकेतित अर्थ से भिन्न कोई अन्य अर्थ भी उस शब्द का होता है। अर्थात् जब अर्थ की 'वाचकता' में बाधा पड़ रही होती है तब लक्ष्यार्थ पर ध्यान जाता है। यह लक्ष्यार्थ लक्षणा शक्ति से बोध्य होता है। शब्द का वह व्यापार लक्षणा कहलाता है, जिससे मुख्यार्थ के बाध होने पर, उस मुख्यार्थ से सम्बद्ध रूढ़ि अथवा प्रयोजन विशेष से अन्य अर्थ लक्षित होता है।

मुख्यार्थ-बाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ।। (काव्य-प्रकाश-२.९)

विश्वनाथ ने भी लक्षणा का ऐसा ही लक्षण किया है (सा. द. २/९)। रूढि और प्रयोजन के आधार पर लक्षणा दो भागों में बँट जाती है, रूढि मूला और प्रयोजनवती। सम्बन्ध-भेद के आधार पर प्रयोजनवती के दो भेद हो जाते हैं, शुद्धा और गौणी। वाच्यार्थ के पूर्णतः न छुटने और न छुटने पर शुद्धा के उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा ये दो भेद हो जाते हैं, और फिर आरोप-भाव के पूर्णतः स्पष्ट होने और न होने पर गौणी और शुद्धा—दोनों के सारोपा और साध्यवसाना—दो भेद हो जाते हैं। लक्षणा के ये प्रमुख भेद हैं। परंतु भारतीय काव्यशास्त्रियों ने लक्षणा के अनेक भेद किये हैं। विश्वनाथ ने लक्षणा के चालीस भेद मानकर और उन्हें पुनः पद और वाक्यगत—दो भेद कहकर अस्सी भेद कर दिये हैं। मम्मट ने लक्षणा षड्विधा मानी है—उपादान लक्षणा, लक्षण लक्षणा, शुद्धा सारोपा लक्षणा, शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा, गौणी सारोपा लक्षणा, गौणी साध्यवसाना लक्षणा। इस विषय में मम्मट के प्रमाण मीमांसक मुकुल भट्ट (नवीं शती) हैं जिनका एक मात्र ग्रन्थ है—अभिधा-वृत्तिमात्रिका। इसमें लक्षणा के छः भेद तो दिखाये गये हैं, किन्तु अभिधा को दशधा विवेचित कर लक्षणा का अंतर्भाव अभिधा में ही कर दिया गया है।

लक्षणा से गम्य लक्षयार्थ को गौण अर्थ भी कहा जाता है। इसी लक्षणा शक्ति से मुहावरे या लाक्षणिक अर्थों को देने वाले शब्द या वाक्यों द्वारा इष्टार्थ की उपलब्धि होती है। जैसे 'सूरज माथे पर आ गया' से मध्याह्न का अर्थ लक्षित होता है।

शब्दार्थ-सम्बन्ध की तीसरी स्थिति है—अर्थ का व्यंग्य होना। इसी को प्रतीयमान अर्थ कहते हैं। शब्द का यह न साक्षात् संकेतित मुख्य अर्थ होता है और न लक्षित गौण अर्थ। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने

"प्रतीयमानं पुरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनानाम् ।।"

कहकर प्रत्यंग-सौंदर्य से भिन्न प्रतीत लावण्य के उपमान द्वारा इस प्रतीयमान अर्थ को समझाया है। यही ध्वन्यर्थ कहलाता है। कदाचित् कुंतक ने इसी को छाया कहा है—सुकुमार तथा विचित्र बिम्बों के संकलन से उठने वाली वक्रता-काव्यच्छाया। वक्रोक्ति जीवित-कार के अनुसार यह छाया ही प्रत्यक्षानुभूति से भिन्न काव्यानुभूति है। खान से निकाली किन्तु अशाणोल्लीढ मणि और पाषाण में दृश्यमानतया समता ही होती है, किन्तु शाणोल्लीढ होने पर मणि में जो एक झिलमिल छाया उठती है, वही उसे पाषाण से भिन्न कर देती है।

ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने लक्षणा में प्रयोजन को लक्षणा से नहीं, व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली तृतीय शक्ति व्यंजना से गम्य माना है। 'काव्य-प्रकाशकार' ने भी ऐसा ही माना है। 'प्रयोजनं हि व्यंजना-व्यापार गम्यमेव' (२.१३) की व्याख्या करते हुए मम्मट ने इसे स्पष्ट किया है। (का. प्र, २/१५) आशय यह कि गंगा में अहीरों की बस्ती है, 'इसका वाच्यार्थ हुआ कि गंगा के मध्य बस्ती है, जो संभव नहीं। अतः मुख्यार्थ में बाधा पड़ने से लक्ष्यार्थ से इष्ट-बोध होता है कि 'गंगा में' का अर्थ उसका मध्य नहीं, तट है। पर इसके अतिरिक्त तटादि में जो पावनता-शीतलता आदि की प्रतीति होती है, वह मुख्यार्थ-बाधादि हेतुओं के न होने से लक्षित नहीं हो सकती, यह उसका प्रतीयमानार्थ है। अर्थात् भिन्न होकर भी अभेद रूप प्रतीत होती है। 'तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्।' अतः अर्थ-बोध की यह क्रिया व्यंजना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—'व्यंजनान्नापरा क्रिया।' (का.प्र -२/१४)।

विश्वनाथ ने सीधे शब्दों में शब्द का व्यंग्यार्थ सम्पन्न करने वाली वृत्ति को व्यंजना कहा है। इसी से अभिधादि-वृत्तियों के विरत हो जाने पर अपर अर्थ का बोध होता है :—

विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥ (सा. द. २. १६)।

अभिधा द्वारा शब्द का मुख्यार्थ गम्य होता है, लक्षणा द्वारा गौण अर्थ। इस प्रकार ये दोनों व्यापार शब्द से ही अर्थ बोध कराने तक सीमित हैं, परन्तु व्यंजना में शब्द ही नहीं वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी अपर अर्थ का बोध कराते हैं। इसीलिए व्यंजना शाब्दी भी होती है और आर्थी भी। अनेकार्थक शब्दों का आकांक्षित एक अर्थ शाब्दी व्यंजना द्वारा ही प्राप्त होता है। भर्तृहरि ने

'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष-स्मृति हेतवः॥

(वाक्यपदीय, २/३१७-१८)—द्वारा जो चौदह अर्थ-निर्णय के साधन बनाये हैं—वे शाब्दी व्यंजना के ही व्यापार हैं।

जैसे अनेकार्थक शब्दों का एक अभिप्रेत अर्थ शाब्दी व्यंजना द्वारा सम्पन्न होता है, उसी प्रकार एकार्थक शब्दों का अभिप्रेत अर्थ-निर्णय, जो एक प्रकार अर्थ-परिवर्तन माना जा सकता है, आर्थी व्यंजना द्वारा होता है। इस अर्थ-संभवा व्यंजना का परिचय मम्मट (का. प्र. ५.३/२१/२२) तथा विश्वनाथ (सा. द. २/२३) ने दिया है। विश्वनाथ कहते हैं—वक्ता, बोद्धा, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, काकु तथा चेष्टादि की विशिष्टता द्वारा जो अन्यार्थ का बोध कराती है, वह आर्थी व्यंजना-शक्ति है।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रियों ने शब्दार्थ-सम्बन्ध का विवेचन करते हुए शब्द से साक्षात् संकेतित, लक्षित तथा प्रतीत तीन प्रकार के अर्थों का बोध माना है और इनके लिये तीन वृत्तियों की उद्भावना की है। शब्दार्थ-संबंध के निरूपण में भारतीय मनीषा की यह एक अद्भुत देन है। अर्थ-विभाजन के क्षेत्र में इन तीन वृत्तियों का महत्व अद्वितीय है। इनके द्वारा अर्थ-सम्बन्धी सभी स्तरों और भंगिमाओं को गतार्थ कर दिया

गया है।

कुछ काव्यशास्त्रियों ने सभी शब्द-शक्तियों को मान्यता नहीं दी है। जैसे मुकुल भट्ट केवल अभिधा शक्ति ही मानते हैं। वस्तुतः काव्यशास्त्रियों के शब्द के विशेष सहृदय-श्लाघ्य अर्थ खोजने की ही प्रक्रिया है। सहृदयश्लाघ्य, काव्यात्मा अर्थ के उन्होंने दो भेद माने हैं—

अर्थः सहृदय-श्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्य-प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥

भारतीय काव्य-शास्त्रियों की दृष्टि में इसी प्रतीयमान अर्थ पर काव्य की स्थिति है। प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है—'काव्यस्यात्मा स एवार्थः ।' शब्द-शक्तियों की अनेकता न मानने वाले भी इससे सहमत है—'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः, (व्यक्ति विवेक १/२६) । तब विमति कहाँ हैं ? विमति है प्रतीयमान की प्रतीति में कारण-मीमांसा में। इनमें दो प्रमुख पक्ष हैं—(१) व्याकरणमूलक (२) न्यायमूलक। ध्वनिकार वैयाकरणों के पक्षधर हैं, उनके अनुसार 'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः' हैं। वैयाकरणों से अनित्य बैखरी में अर्थ-ज्ञान असंभव देखकर आकाश अथवा समुद्र जल के समान सामान्यात्मिका नित्यवाणी की कल्पना की। अनित्यवाणी इसे अपने रूप में व्यक्त करती हैं। नित्यवाणी भित्ति है, अनित्यवाणी प्रकाशाधार। प्रकाशाधार के आकारानुरूप किरणें सृनिसृत होती हैं, तदनुरूप ही भित्यंश व्यक्त होता है। वैयाकरणों के अनुसार अनित्यवाणी और नित्यवाणी अर्थात् अनित्य और नित्य शब्दों में व्यंग्य-व्यंजक भाव है। ध्वनिकार ने इसी रूप में वाच्य-प्रतीयमान के रूप में अर्थ के दो भेदों को माना है। इसी क्रम में वैयाकरणों का अनुसरण करते हुए काव्यशास्त्रियों ने अभिधा के समान व्यंजना को भी भिन्न शक्ति माना है।

नैयायिक इस भिन्नता को नहीं मानते। इनके मतानुयायी काव्य-शास्त्री भी इस प्रपंच, को बराबर चुनौती देते रहे हैं। ध्वन्यालोक में उद्धृत 'यस्मिनास्ति' इत्यादि श्लोक से मनोहर कवि को चुनौती का संकेत मिलता है। भट्टनायक ने भी व्यंजना के स्थान पर भोज्य-भोजक-भाव माना है। वक्रोक्ति जीवितकार भी ध्वनि-सिद्धान्त का खंडन करते हैं किन्तु महिम भट्ट ने 'व्यक्ति-विवेक' की रचना ही ध्वनि-सिद्धान्त का खंडन करने के लिये की। यह पूर्णतः न्यायानुग है। महिम भट्ट के अनुसार शब्द में केवल एक ही शक्ति संभव है और वह अभिधा हो सकती हैं, क्योंकि शब्द में एकाधिक शक्ति नहीं रह सकती। वे कहते हैं कि एकाश्रित शक्तियों में परस्पर निरपेक्षता रहती है, जैसे अग्नि की विभिन्न शक्तियों—दाहकता, पाचकता प्रकाशशीलता आदि में लक्षणा और व्यंजना तो अभिधाश्रित हैं। दूसरा तर्क यह है कि कर्म और ज्ञान के समान शब्द भी तृतीय क्षणाविष्ठ—ध्वंस प्रतियोगी हैं, वह केवल दो क्षणों तक ही ठहर सकता है—प्रथम क्षण में वह उच्चरित होता है और द्वितीय क्षण में उसका अर्थ ज्ञान होता है। इसके बाद विध्वंस। ऐसी स्थिति में अभिधा-व्यापार से मुख्यार्थ-बोध होने पर जब शब्द ही नहीं है, तो लक्षणा-व्यंजना-व्यापार के लिये अवकाश ही नहीं रहता। शब्द का और उससे प्रतीत होने वाले अर्थ का संस्कार ज्ञानात्मक होता है। ज्ञानात्मक संस्कार ही अपरार्थ-प्रतीति में कारण हैं—शेष कुछ नहीं। और सच बात तो यह है कि मम्मट भी लक्षणा को आरोपिता क्रिया मानते हैं—'लक्षणारोपिता क्रिया' (का. प्र. २.६) शब्द एक

जड़ और तटस्थ पदार्थ है। उसमें एक ही शक्ति रह सकती है। अर्थवाचकता मानस-आश्रित शक्ति है। मानस में एक ओर शब्द-ज्ञान रहता है और दूसरी ओर अर्थ-ज्ञान। दोनों का संबंध व्यवहारार्थ ही स्वीकृत है। महिम भट्ट के अनुसार अर्थ की शक्ति शब्द की शक्ति नहीं हो सकती, वह अनुमानादि के समान काव्येतर तत्त्व है। काव्यार्थों में वाच्यार्थों की प्रतीति सर्वत्र क्रमिक होती है, कहीं यह क्रम दिखता है, और कहीं अलक्षित रहता है। इनमें व्यंग्य-व्यंजक भाव नहीं, कार्य-कारण भाव संबंध है। महिम भट्ट ने व्यंजना को ही नहीं, लक्षणा को भी इसी प्रकार अस्वीकार दिया है। उन्होंने उसे भी अनुमान रूप ही माना है —'गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते',—वाहीक में बैल का आरोप करने से, उसकी समानता का अनुमान हो जाता है।

महिम भट्ट का समय कदाचित् दसवीं—ग्यारहवीं शताब्दी हो पर इनसे भी कुछ पूर्व 'दशरूपक के रचयिता धनंजय भी 'शम-भाव' प्रकरण में व्यंग्यार्थ को पूर्णतः अस्वीकार चुके हैं। उन्होंने अपने 'काव्य-निर्णय' का हवाला देते हुए कहा है कि व्यंजना जैसी भिन्न शक्ति की कल्पना व्यर्थ का प्रयत्न है।

जैसा कि पहिले कहा गया है कि कुछ विद्वान् तात्पर्यार्थ नामक एक चतुर्थ अर्थ भेद की कल्पना करते हैं। धनंजय और धनिक भी तात्पर्यार्थ और तात्पर्याख्या वृत्ति को मानते हैं। वे भट्ट मीमांसकों से प्रभावित हैं। शब्द का तात्पर्यार्थ मानने वाले जो विद्वान् हैं, वे कुमारिल भट्ट के अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि अभिहितान्वयवादी हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है, तदनन्तर पदार्थों का पदों द्वारा उपस्थित नहीं हुआ परस्पर संबंध वाक्यार्थ-मर्यादा से उपस्थित होता है। पहिले पदों द्वारा पदार्थ अभिधा शक्ति द्वारा बोधित होते हैं, तत्पश्चात् वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर सम्बन्ध-अन्वय होता है, जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः तात्पर्यानुसार होने से यह तात्पर्यार्थ हुआ और उसकी बोधक वृत्ति तात्पर्याख्या वृत्ति। काव्यशास्त्रियों ने सामान्यतः इसे अस्वीकारा नहीं है।

'अन्विताभिधानवादी' प्रभाकर भट्ट एवं उनके अनुयायी तात्पर्यार्थ और तात्पर्याख्या वृत्ति को अनावश्यक मानते हैं। इनके अनुसार पहिले से अन्वित पदार्थों का अभिधा द्वारा बोधन होता है अतः पदार्थों का अन्वय पूर्वसिद्ध होने से 'तात्पर्याख्या वृत्ति' मानना अनावश्यक है।

इस प्रकार शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में हमारे प्राचीन शास्त्रों में बड़ा सूक्ष्म विवेचन हुआ है। काव्यशास्त्री प्रायः वैयाकरणों के अनुयायी हैं, जिन्होंने शब्दार्थ का लोक में व्यवहार देखा है और शब्द-स्वरूप-निर्धारण किया है—'शब्दार्थयोरभेदेन लोके व्यवहार दर्शनात्' (महाभाष्य-प्रदीप)।

□□□

१०

स्फोटवाद का भाषा-दर्शन

स्फोटवाद को सामान्यतः एक व्याकरण या भाषा-दर्शन माना जाता है तथा आधुनिक काल में उसे वैयाकरणों के शास्त्रार्थ का विषय समझकर दर्शनशास्त्र के भारतीय विद्वानों द्वारा सामान्यतः उसकी उपेक्षा हुई है। भाषाविज्ञान के विद्वानों ने यद्यपि, प्राचीन भारतीय भाषा-वैज्ञानिक-चिन्तन का गुणानुवाद तो किया है, परन्तु गंभीरतापूर्वक उसे अध्ययन या शोध के विषय के रूप में सामान्यतः मान्य नहीं किया है। क्योंकि आधुनिक काल में भारत के दर्शन आदि विषयों के अध्ययन की दृष्टि मूलतः पाश्चात्य है तथा पश्चिम में आधुनिक काल से पूर्व भाषा-दर्शन या भाषिक-तत्त्व-दर्शन को दर्शन शास्त्र और भाषा-विज्ञान की सीमा में स्वीकृत नहीं किया जा सकता था। अतः स्वाभाविक ही है कि आधुनिक काल में दर्शन एवं भाषाविज्ञान के विद्वानों द्वारा स्फोटवाद की तात्त्विक विवेचना सामान्यतः प्रस्तुत न हो। परन्तु भारतीय परंपरा में स्फोटवाद न केवल एक व्याकरण व भाषादर्शन के रूप में मान्य है, अपितु वह एक तात्त्विक मतवाद भी है। स्फोटवाद मूलतः तत्त्वदर्शन ही है जो भाषा के रूपक से सृष्टि के उदय, स्थिति तथा लय की व्याख्या करता है तथा उसी सिद्धांत के अनुसार किसी भी वास्तविक भाषा के उदय, प्रकाश, प्रतीति आदि को ही नहीं, वरन् उसके स्वरूप की भी व्याख्या करता है। परम्परानुसार स्फोटवाद एक प्राचीन, वैदिक, आस्तिक, अद्वैतवादी तत्त्वदर्शन ही है। भट्टोजी दीक्षित ने इसे, जहाँ, अद्वैतवाद का वैयाकरण रूप कहा है तथा अद्वैतवाद के सभी भेदोपभेदों को या अभिमतों को इस पर घटित किया है,[1] वहीं माधवाचार्य ने अपने 'सर्व-दर्शन-संग्रह' में पाणिनि-दर्शन पर उसी प्रकार एक स्वतन्त्र अध्याय लिखा है जिस प्रकार अन्य मान्य प्राचीन भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों या सिद्धांतों पर लिखा है।[2] आशय यह है कि भारतीय परम्परा में स्फोटवाद एक तत्त्वदर्शन के रूप में ही स्वीकृत है, जिस पर संस्कृत में प्रभूत साहित्य उपलब्ध है तथा उसका जो भी व्याकरण व भाषादर्शन है वह सब कुछ स्फोटवाद के व्यापक तत्त्व-दर्शन का ही अंग या प्रतिबिंब है।

वस्तुतः स्फोटवाद एक ऐसा तात्त्विक दर्शन है जो दुहरी व्याख्या की अपेक्षा करता है क्योंकि एक ओर जहां वह भाषा-दर्शन है वहीं वह एक भाषिक-तत्त्व-दर्शन भी है तथा उस पर आधारित एक साधन-पद्धति भी है, जिसकी चर्चा आगमिक तंत्र-साहित्य में विशेष रूप से उपलब्ध होती है। दूसरे शब्दों में स्फोटवाद जहाँ संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का आधार है, संस्कृत वैयाकरणों का भाषिक-तत्त्व-दर्शन है, वहीं वह एक जीवन-साधान-पद्धति भी है। यद्यपि स्फोटवाद के उक्त सभी रूपों या पक्षों की व्याख्या करने वाला कोई एक ग्रंथ उप-

लब्ध नहीं है, परन्तु यास्क, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि आदि की रचनाओं में जिस प्रकार स्फोटवाद की सैद्धान्तिक आधार-भूमि दृष्टिगोचर होती है,[3] उसी प्रकार उस की साधना-पद्धति के विविध रूप शैव:, शाक्त एवं वैष्णव आगमों या तंत्रों में ही नहीं, अपितु बौद्ध आदि तंत्रों में भी प्राप्त होते हैं।[4]

इसी प्रकार जैसे मध्यकाल में स्फोटवाद का सविस्तार सैद्धांतिक विवेचन भर्तृहरि आदि वैयाकरणों के ग्रंथों में हुआ हैं उसी प्रकार उसके साधना-पक्ष का विकास सोमानन्द, उत्पलाचार्य, अभिनव गुप्त आदि काश्मीरी शैव आचार्यों के तांत्रिक ग्रंथों में प्राप्त होता है।[5] यद्यपि सभी प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने 'शब्द', 'अर्थ' और उनके 'सम्बन्ध' के विषय में विचार किया है, अत: स्फोटवाद के भाषा-दर्शन का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप से सभी भारतीय दर्शनों के साथ माना जा सकता है तथा इसलिए स्फोटवाद की अनेकानेक व्याख्याएँ की जा सकती हैं तथा 'स्फोट' शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग अन्य भारतीय दर्शनों ने किया भी है। परन्तु वस्तुत: स्फोटवाद वैयाकरणों का ही सिद्धांत है, जिसके आदि प्रवर्तक तो नहीं, परन्तु प्रधानतम आचार्य के रूप में पाणिनि को स्वीकार किया जा सकता है। इसे चाहे पाणिनि की अष्टाध्यायी का चमत्कार कहा जाए या उसके व्याख्याता आचार्यों की विलक्षण प्रतिभा का परिणाम, परन्तु यह सत्य है कि जिन सूत्रों के आधार पर संस्कृत भाषा के रूप-प्रयोग आदि के विषय में विधान किया गया है, उन्हीं के आधार पर अमूर्त तात्त्विक सिद्धांतों की उद्‌भावना भी हुई है, तथा उन्हीं के आधार पर बीज मंत्रों की व्याख्या तथा मंत्र साधना का भी विधान किया गया है। इस दृष्टि से बीज-मंत्र-कोश का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें वर्णों की आकृति, ध्वनि आदि की रहस्यवादी व्याख्या की गई है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के प्रारंभ में प्राप्त होने वाले १४ माहेश्वर सूत्रों के वर्णों की दार्शनिक व्याख्या 'नंदिकेश्वर' द्वारा 'नंदिकेश्वर काशिका' में हुई है।[6] इसी प्रकार अभिनव गुप्त ने अपने 'तंत्रालोक' में बीज मंत्रों की व्याख्या अष्टाध्यायी के सूत्रों के आधार पर ही की है।[7] आशय यह कि यद्यपि 'स्फोट' या 'स्फोटवाद' शब्द पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रयुक्त नहीं मिलते, पर उसे स्फोटवाद का मूल अवश्य कहा जा सकता है।

यद्यपि 'स्फोट' शब्द का दार्शनिक अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है,[8] परन्तु उससे पूर्व प्रातिशाख्य ग्रंथों में 'स्फोटण' शब्द पारिभाषिक अर्थ में मिलता है,[9] जिसके स्वरूप और अर्थ के विकसित रूप में तो स्फोटवाद को नहीं स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु दोनों विचारधाराओं में कुछ साम्य अवश्य है। प्रातिशाख्यों के अनुसार 'स्फोटण' का अर्थ है 'क वर्ग' के अन्य स्पर्श व्यंजन के साथ सन्निकर्ष-काल में निष्पन्न उनकी स्फुटोक्ति।[10] अर्थात् वर्ण से भिन्न उनकी परिवर्त्तन-क्रम-कालीन ध्वनि स्फोटण है। यह उल्लेखनीय है कि स्फोटण के प्रयोग की सीमा केवल व्यंजन सन्निपात तक ही है जबकि मात्र स्थूल भाषिक अर्थ में भी 'स्फोट' का क्षेत्र 'उक्ति' की 'श्रुति' से लेकर सब प्रकार के वर्णों के संयोग-सन्निपात से बने पद, शब्द, वाक्य के परे उनकी अर्थ प्रतीति तक है।[11]

विद्वानों की मान्यता है कि यद्यपि 'स्फोटवाद' शब्द अपेक्षाकृत नवीन है, परन्तु यह सिद्धान्त आर्ष है। यास्क और पाणिनि से पूर्व औदुम्बरायण वार्ष्यायणि, वार्ताक्ष, स्फोटा-

यन आदि आचार्यों को प्रायः स्फोटवादी ही माना जाता है।[१२] नागेश भट्ट ने अपने ग्रंथ 'स्फोटवाद' में स्फोटायन को ही स्फोटवाद का आदि आचार्य माना है,[१३] तथा पाणिनि के सूत्र 'अवङ् स्फोटायनस्य'[१४] में उल्लिखित स्फोटायन को ही हरदत्त ने अपनी 'काशिका' की टीका 'पदमंजरी' में स्फोटवाद का प्रवर्तक आचार्य बताया है।[१५] आशय यह कि यद्यपि पतंजलि से पूर्व स्फोटवाद के अनेक आचार्य मिलते हैं परन्तु सम्प्रति महाभाष्य में ही न केवल सर्व प्रथम 'स्फोट' शब्द का एक सिद्धान्त एवं 'तत्त्व' के अर्थ में प्रयोग मिलता हैं, वरन् उसमें स्फोटवाद के सारे भावी विकास-विस्तार की पुष्ट भूमिका भी है। स्फोटवाद के अन्तर्गत 'शब्द' 'अर्थ' एवं उनके संबंध, स्वरूप आदि के विषय में जो कुछ विचार वैयाकरणों ने किया है, वह किसी-न-किसी रूप में पतंजलि के महाभाष्य में अवश्य मिल जाता है। वैसे भी सम्प्रति स्फोटायन आदि के मात्र उल्लिखित होने तथा पाणिनि आदि द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से ही स्फोटवाद की चर्चा किये जाने कारण, पतंजलि के महाभाष्य को ही स्फोटवाद के मूल आधार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पतंजलि-पूर्व-साहित्य में स्फोटवाद के अनेकानेक प्रमाण हैं। परन्तु उनमें स्फोट के स्थान पर 'वचन' या 'शब्द' शब्द का प्रयोग मिलता है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यास्क के 'इन्द्रिय नित्यं वचनमौदुम्बरायणः' वाक्य में वाक्य-स्फोटवादियों का अभिमत है जबकि यास्क स्वयं शब्द-स्फोटवादी थे।[१६] स्फोट के इन दो मतवादों के अतिरिक्त वर्ण स्फोटवादी एवं पद स्फोटवादी-अभिमत भी है,[१७] परन्तु मूलतः वाक्य-स्फोटवाद को ही वैयाकरणों का मौलिक सिद्धान्त माना जाता है, जिसके दार्शनिक पक्ष का पूर्ण पल्लवन भर्तृहरि के 'वाक्यप्रदीप' में प्राप्त होता है। वस्तुतः स्फोटवाद के विषय में परवर्ती वैयाकरण जैसे भट्टोजी दीक्षित, कौण्ड भट्ट, नागेश आदि ने 'शब्द कौस्तुभ' 'भूषण,' 'मंजूषा' 'स्फोटवाद' आदि ग्रंथों में जो कुछ लिखा है वह सब कुछ भर्तृहरि के 'वाक्यपदीप' पर आधारित है। इसी प्रकार कुमारिल आदि द्वारा जिस स्फोटवाद का खण्डन तथा शंकराचार्य, मण्डनमिश्र आदि द्वारा समर्थन हुआ है वह भी भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित स्फोटवाद ही है।[१८] स्फोटवाद के संदर्भ में भर्तृहरि के वाक्यपदीय का इसलिए भी सर्वाधिक महत्त्व है कि उसमें स्फोटवाद के सभी सैद्धान्तिक पक्षों की सुस्पष्ट व्याख्या प्राप्त होती है। परन्तु स्फोटवाद का साधना-पक्ष तंत्रों में ही सुरक्षित है। स्फोटवाद को समग्र रूप से समझने के लिये उक्त दोनों आधारों का समन्वित सैद्धान्तिक अध्ययन आवश्यक है।

स्फोटवाद के मात्र 'भाषा दर्शन' को समझने के लिये यद्यपि उसके तत्त्वदर्शन के विवेचन को सामान्यतः अनावश्यक समझा जा सकता है, परन्तु स्फोटवाद का भाषा-दर्शन, क्योंकि एक व्यापक-तत्त्व-दर्शन का ही अंग है, जो सारी सृष्टि से उदय, स्थिति, लय की अटूट श्रृंखला की 'विवर्त' एवं 'परिणाम' दोनों रूपों में व्याख्या भाषा के प्रतीक के माध्यम से करता है। इसीलिए स्फोटवाद के तत्त्व-दर्शन तथा भाषा-दर्शन को बिलकुल अलग-अलग करके नहीं समझा जा सकता। स्फोटवाद के भाषा-दर्शन को समझने के लिये उसके व्यापक तत्त्व-दर्शन का साधारण परिचय, इसलिए भी आवश्यक है कि उसका तत्त्व-दर्शन मूलतः भाषा-मूलक होने के कारण भाषिक-तत्त्व-दर्शन है। परम्परानुसार भी स्फोटवाद के अद्वैतवाद को शब्दाद्वैतवाद की कहा जाता है।

स्फोटवाद के अनुसार सारी सृष्टि, जिसका कि एक रूप भाषा भी है, शब्द-ब्रह्म से उत्पन्न हुई है तथा यद्यपि व्यावहारिक स्तर पर भाषा और भाषेतर सृष्टि दो समान तथा समानान्तर यथार्थ के रूप में स्वीकार्य हैं, तथा सृष्टि-काल में परस्पर दोनों एक-दूसरे में प्रतिच्छायित होते हुए भिन्न प्रतीत माने जाते हैं। परन्तु मूलतः दोनों यथार्थ एक ही परमार्थ, परं-ब्रह्म प्रणव की अभिव्यक्ति हैं, उसी में स्थित रहते हैं तथा उसी में लय प्राप्त करते हैं। आशय यह है कि यद्यपि व्यावहारिक धरातल पर स्फोटवाद भाषा और भाषेतर यथार्थ शेष पदार्थ जगत् का द्वैत तो स्वीकार करता है परन्तु दोनों की उत्पत्ति एक ही यथार्थ से मान्य करता है। अतः परमार्थतः अद्वैत ही स्वीकार्य है। स्फोटवाद के अनुसार उक्त दोनों यथार्थों में परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं। जगत् और भाषा एक दूसरे से आभासित होते हैं। उक्त दोनों यथार्थों का कार्य कारण सम्बन्ध परस्पर न होकर, शब्द-ब्रह्म के साथ है। इसीलिए पारमार्थिक दृष्टि से स्फोटवाद अद्वैतवादी तत्त्व-दर्शन है, जो भाषा को मात्र मानवीय सामाजिक यथार्थ न मानकर, उसे एक समूची ब्रह्माण्डीय सृष्टि के संदर्भ में देखता है। इसीलिए उसके अनुसार 'भाषा' एक प्राकृतिक यथार्थ है, वह मात्र पारम्परिक सांस्कृतिक, यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की व्यवस्था नहीं है। वास्तविक भाषाएं भी क्योंकि ब्रह्म-स्फोट की व्यष्टि रूप होती है, अतः उन्हें भी स्फोटात्मा कहा गया है।

भारतीय वैयाकरणों के अनुसार 'स्फोट' उपरोक्त दोनों भाषा और भाषेतर यथार्थों का संयोजक तत्त्व ही नहीं, वरन उनका कारण भी है। वह मात्र भाषा की ही आत्मा नहीं है अपितु समस्त सृष्टि की भी आत्मा है। सृष्टि में जो भी 'स्पन्द' या स्पन्दन है वह सब स्फोट ही है तथा जो कुछ निस्पन्द जागतिक सृष्टि है, वह सब उसी स्फोट शब्द का वाच्य है। काश्मीरी शैव आचार्यों के तान्त्रिक-ग्रन्थों में इस विचारधारा का विशेष पल्लवन प्राप्त होता है। उनके अनुसार यह सारी सृष्टि 'परमशिव' की अभिव्यक्ति है। जैसे बिम्बों के माध्यम से कल्पना का रूप अभिव्यक्त होता है, वैसे ही शब्द ब्रह्म या परम-शिव, स्फोट के माध्यम से जगत् और वाक् या भाषा के रूपों में व्यक्त होता है।[१९] जैसे उपनिषदों में जगत् को ब्रह्म का निश्वसित कहा गया है उसी प्रकार आभासवादी शैवों ने समस्त सृष्टि को प्रकाश विमर्शमय परमशिव की अभिव्यक्ति माना है।[२०] वैयाकरणों के अनुसार भी शब्द ब्रह्म का स्फोट ही समस्त पदार्थ जगत् है।[२१] आभासवादी शैवों के अनुसार सृष्टि में मूलतः दो ही प्रकार के पदार्थ हैं एक प्रकाश का विवर्तित परिणामस्वरूप स्थूल पदार्थ या जगत् तथा दूसरा विमर्श का स्थूल रूप वाक् या प्रत्यायक तथा प्रकाशक यथार्थ।[२२] इन्हीं को क्रमशः रूप और नाम भी कहा जा सकता है। जगत् और वाक् में परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध ही शैवाचार्यों को मान्य है।[२३] वस्तुतः स्फोटवाद के तत्त्वदर्शन में परम-ब्रह्म या उसके समकक्ष एक परमसत्ता स्वीकृत है जिसकी भाषिक अभिव्यक्ति ही सारी सृष्टि है तथा जिसे शैवों और वैयाकरणों ने प्रतिमा स्फोट, शब्द ब्रह्म आदि शब्दों से अभिहित किया है तथा क्योंकि परमसत्ता "प्रकाशविमर्शैक्यपरा" स्थिति रूप शब्द ब्रह्म ही है अतः उसी के दो तत्त्वों की अभिव्यक्ति सृष्टिकाल में, शब्द-अर्थ या वाच्य-वाचक के द्वैत रूप में प्रतीत या आभासित होता है।[२४] वाच्यरूप जगत् प्रकाश तत्त्व का घनीभूत स्थूल रूप है तथा

वाक् (वास्तविक भाषाएं नहीं) विमर्श तत्त्व का घनीभूत स्थूल या मूर्त-रूप है।[२५] भर्तृहरि भी उसी प्रकार समस्त अनुभूत वास्तविक जगत् का शब्द-ब्रह्म के साथ अद्वैत मानते हैं।[२६] जैसे अद्वैतवादी ब्रह्म और जगत् में तथा विज्ञानवादी ज्ञान और ज्ञेय में अद्वैत मानते हैं।[२७] वस्तुतः सत्ताद्वैत, विज्ञानाद्वैत तथा शब्दाद्वैत एक ही सिद्धांत के तीन संस्करण हैं।

स्फोटवाद के अनुसार शब्द-ब्रह्म की अनेक शक्तियां हैं जिनमें से स्वातन्त्र्य शक्ति को प्रधानतम माना जाता है।[२८] शैवों ने इसे ही काल-शक्ति कहा है।[२९] भर्तृहरि ने भी शब्द की काल-शक्ति को माना है जिसके परिणामस्वरूप जन्मादि षड् भाव–विकार उत्पन्न होते हैं। भर्तृहरि ने कहा है :—

अव्याहत कला यस्य, काल-शक्तिमुपाश्रिता ।
जन्मादयो विकारा षट् भावभेदस्य योनयः । (वा. प. 1:3)

परन्तु यह ज्ञातव्य है कि शब्द-ब्रह्म और उसकी शक्ति की अभिव्यक्ति जब भी होती है वह स्फोट के कारण तथा स्फोट के रूप में ही होती है। वस्तुतः वैयाकरणों का शब्द-ब्रह्म सांख्य दर्शन के प्रकृति या हिरण्यगर्भस्थ आदि तत्त्व, सर्वतत्त्वसार-भूत,त्रिगुणात्मक प्रकृति का प्रतिनिधि है जिससे समस्त सृष्टि स्फुटित, विकसित होती है और जिसमें विलीन होती है। स्फोट के इसी आध्यात्मिक रूप को शब्द-ब्रह्म कहा जाता है। भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक में इसी का वर्णन किया है :—

अनादि निधनं ब्रह्म शब्द–तत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः । [वाक्यपदीय १–१)

अन्यत्र भर्तृहरि ने शब्द को स्फोटात्मक कहा है तथा उसे अव्याहत कला वाला अर्थात् 'काल' से अबाधित माना है।[३०] आशय यह है कि वैयाकरणों के अनुसार शब्द-ब्रह्म वह मौलिक तत्त्व है जिस तत्त्व के कारण और जिस तत्त्व के रूप में समस्त भौतिक सृष्टि है या आभासित होती है तथा क्योंकि यह मौलिक तत्त्व मूलतः प्रकाश-विमर्श-मय है अतः समस्त सृष्टि में द्वैत प्रतीत होता है, वस्तुतः दोनों में अद्वैत ही है। इसीलिए यद्यपि एक को वाच्य तथा दूसरे को वाचक या एक को रूप तथा दूसरे को नाम कहा गया है, परन्तु क्योंकि वाच्य, वाचक और वाक्य-वाच्य हो जाता है तथा रूप का नाम व नाम का रूप भी होता है, इसीलिए, स्फोटवाद के अनुसार परमार्थतः अद्वैत ही सिद्ध होता है।

वैयाकरणों के अनुसार स्फोट शब्द-ब्रह्म की वैसे ही आत्मा है जैसे सामान्य भाषिक अर्थ में शब्द की आत्मा अर्थ को माना जाता है। इसी स्फोटात्मा शब्द ब्रह्म से जो सृष्टि होती है उसका क्रम वैयाकरणों ने सामान्यतः इस प्रकार माना है प्रणव-शब्द-ब्रह्म-परा-मध्यमा-वैखरी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भर्तृहरि ने परा और शब्द-ब्रह्म को एक ही माना है अतः उनके अनुसार सृष्टि क्रम में तीन ही सोपान हैं, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।[३१] परन्तु नागेश आदि प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने वाक्-सृष्टि के चार ही स्तर माने हैं।[३२] काश्मीरी शैवों के प्रत्यभिज्ञावाद के प्रवर्तक आचार्य सोमानन्द ने सर्वप्रथम भर्तृहरि द्वारा मान्य वाक् के उक्त तीन रूपों के सिद्धांत की आलोचना की है तथा पश्यन्ती को वाक् के परम-रूप या स्तर के रूप में स्वीकार न कर, परावाक् को वाक् का परम रूप माना है तथा वाक्सृष्टि के क्रम के उक्त चार स्तर माने हैं, जिसे परवर्ती प्रायः सभी वैयाकरणों ने भी स्वीकार किया है।[३३] परन्तु

काश्मीरी शैवों के क्रम-सिद्धांत ने वाक्-सृष्टि के पाँच रूप माने हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि समूचा क्रम-सिद्धांत क्योंकि पंचक प्रधान है इसीलिए उसमें वाक्-सृष्टि के पाँच सोपान या स्तर मान्य हैं। इसीलिए सम्भवतः क्रम-सिद्धांत के अनुसार परा और पश्यन्ती के बीच में एक सूक्ष्मा वाक् और भी है। संक्षेप में काश्मीरी शैव आचार्यों के वाक् सृष्टि क्रम विषयक विविध दृष्टिकोणों को निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है :—
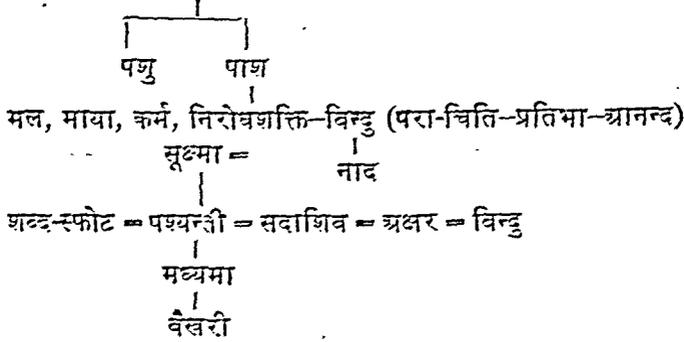
यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त वाक्-सृष्टिक्रम मूलतः किसी विशेष या सामान्य भाषा की अभिव्यक्ति का क्रम नहीं है। यह समस्त व्याकृत, अभिव्यक्त या दृश्यजगत् सृष्टि का क्रम है जिसके अव्याकृत, अनभिव्यक्त, अननुभूत अन्य अनेक सूक्ष्म स्तर भी हैं। अर्थात् जो कुछ दृश्यजगत् में विमर्श तत्त्व की अभिव्यक्ति है वह सब वैखरी-सृष्टि है, जिसके अन्तर्गत तथाकथित वास्तविक भाषाएँ भी हैं और उसके तथाकथित वक्ता और उनकी बोलियाँ आदि भी। परन्तु क्योंकि जो कुछ पूर्ण में है वह उसके अंश में भी पूर्णतः ही है, अतः वाक्सृष्टिक्रम के उक्त पाँच रूपों या स्तरों के पंचक के अनुसार वास्तविक 'भाषा' के स्वरूप व व्यवहार की भी व्याख्या की जा सकती है, क्योंकि वास्तविक भाषाएँ भी व्यापक वाक् तत्त्व की अंश, या विम्ब मात्र हैं। आशय यह कि जिस तत्त्व-दर्शन के आधार पर स्फोटवाद सृष्टि में व्याप्त व्यापक वाक् व उसकी अभिव्यक्ति की व्याख्या करता है, उसी के अनुसार वह वास्तविक भाषाओं की अभिव्यक्ति, स्वरूप तथा प्रयोग की व्याख्या भी करता है। उक्त तात्त्विक दृष्टि से जो भाषादर्शन भारतीय वैयाकरणों द्वारा चर्चित हुआ है, उसे ही स्फोटवाद का भाषा-दर्शन कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय वैयाकरणों तथा अन्य भारतीय दार्शनिकों में भी सामान्यतः इस प्रकार के दो पक्ष या उप-सम्प्रदाय मिलते हैं, जिनमें एक त्रिक को लेकर चलता है तथा दूसरा पंचक को। वेदांतियों में भी इस प्रकार का भेद मिलता है। 'पंचक' वादी सिद्धांत सामान्यतः विशुद्ध अद्वैतवादी हैं तथा त्रिकवादी द्वैतवादी या द्वैताद्वैतवादी हैं। यदि यह मान्यता स्वीकृत की जाय तो भर्तृहरि को द्वैताद्वैतवादी ही मानना चाहिए, क्योंकि वे वाक् के तीन ही रूप मानते हैं। अतः उन्हें त्रिकवादी ही कहा जाएगा। कुछ विद्वानों ने भर्तृहरि को द्वैताद्वैतवादी तथा अचिन्त्यभेदाभेदवादी आचार्य माना भी है।[34] ओंकार के तीन वर्णों द्वारा उच्चरित होने तथा पाँच आवृत्तियों में लिखे जाने में भी कदाचित् उक्त दोनों पंचक और त्रिकवादी दार्शनिकों का द्वन्द ही प्रतिविम्बित प्रतीत होता है।

आशय यह कि स्फोटवाद की उक्त दोनों प्रकार की व्याख्याएँ प्राचीन व्याकरण शास्त्र में मिलती हैं तथा जिसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से १८–१९ शताब्दी तक अक्षुण्ण चली जा रही है। परन्तु सम्प्रति व्याकरण-शास्त्र के साहित्य में उक्त दोनों परम्पराओं के अनुसार स्फोटवाद की दुहरी व्याख्या ऐसी घुली-मिली रहती है कि उन दोनों को पृथक् कर सकना इस समय सहज प्रतीत नहीं होता। परन्तु इतना निश्चित है स्फोटवाद के तत्त्वदर्शन की जैसे भी व्याख्या की जाएगी उसका भाषादर्शन भी तदनुसार परिवर्तित होगा ही। परन्तु इस समय स्फोटवाद के उक्त भेदोपभेदों की चर्चा न कर संक्षेप में उसके समन्वित भाषा-दर्शन के विषय में विचार किया जा सकता है।

स्फोटवाद भाषा को एक ही साथ एक यथार्थ और आदर्श दोनों मानकर चलता है। क्योंकि उसके अनुसार यथार्थ (जो वस्तुतः आभास या अध्यास होने के कारण अभ्यार्थ ही है) के द्वारा ही आदर्श अभिव्यक्त होता है। भाषा, व्यक्तियों के वाक्-व्यापार के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। जिन व्यक्तियों का जितना और जैसा भी समान संस्कार होता है वैसा ही उनका परस्पर वाक्व्यापार समान होता है। परस्पर व्यक्ति-वाक्-व्यापार में अभिव्यक्त 'एक भाषा' की व्याख्या भी स्फोटवाद उसी सिद्धांत से करता है जिस सिद्धांत से वह किसी एक व्यक्ति में अभिव्यक्त 'भाषा' या उसके वाक्-व्यापार की व्याख्या करता है। साथ ही मानवीय व्यक्ति-वाक्-व्यापार से भिन्न एक भाषा व उसकी स्वतन्त्र भाषिक-संरचना को ही नहीं, वरन् सारी सृष्टि के प्रत्येक नाम-रूपधारी पद व पदार्थ को भी एक भाषा या अभिव्यक्ति मानता है जिसमें मूलतः कोई भेद नहीं है। क्योंकि स्फोट सर्वत्र एक है तथा उसके कारण सबकी अर्थवत्ता है। सारी सृष्टि, प्रकाश-विमर्शमय परा के प्रकाश से अनुसृजित वाच्य एवं विमर्श से प्रस्फुटित वाचक सृष्टि के रूपों में ही अभिव्यक्त हुई है। अतः स्फोटवाद के अनुसार वाक् या 'भाषा के व्यक्ति-यथार्थ तथा समष्टि यथार्थ के साथ-साथ उसका एक आध्यात्मिक यथार्थ भी है। आधुनिक पाश्चात्य भाषा-विज्ञान अभी तक भाषा को व्यष्टि और समष्टिगत यथार्थों के रूप में ही देख पाया है। भाषा को समस्त सृष्टि के संदर्भ में देखने की कल्पना आधुनिक भाषा विज्ञान नहीं कर सकता, क्योंकि वह अभी अन्य मान्य विज्ञानों की कोटि से बाहर नहीं जाना चाहता। परन्तु स्फोटवादी दृष्टिकोण यही है। भाषा की उत्पत्ति के विषय में भी स्फोटवाद का वही सिद्धांत है जो उसे अन्य किसी यथार्थ की उत्पत्ति के विषय में स्वीकृत है। अर्थात् जिस प्रकार 'स्फोट' के आधार पर मानव और उसकी उत्पत्ति या विकास-क्रम की व्याख्या होती है, उसी प्रकार 'भाषा' भी एक यथार्थ है और उसी प्रकार भाषा और उसके व्यक्ति-यथार्थ या समष्टि-यथार्थ दोनों रूपों के विकास-क्रमों की व्याख्या भी स्फोट के आधार पर की जा सकती है। क्योंकि स्फोट जहाँ समस्त सृष्टि का आत्मतत्त्व है, वहीं वह भाषा और उसके सभी स्तरों व कोटियों का ही नहीं, वरन् वह उसके सभी स्वाभाविक या उचित प्रयोग-व्यापार का नियामक प्राणतत्त्व भी है। जैसे पाश्चात्य प्रतीकवाद सृष्टि को ही प्रतीक नहीं, वरन् उसकी सृष्टि का क्रम तथा उपादान भी प्रतीकात्मक मानता है।[३५] उसी प्रकार स्फोटवाद भी सारी सृष्टि को स्फोट रूप ही मानता है तथा स्फोट को ही उसका कारण तथा सत्कार्यवादी होने से कार्य-कारण में अनन्यत्व स्वीकार करने के कारण सृष्टि के कार्य-व्यापार या उसकी क्रियात्मक अभिव्यक्ति

में भी स्फोट को ही अनुस्यूत माना गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रतीक के समान स्फोट भी सदा सार्थक ही होता है, चिह्न के समान प्रतीक और स्फोट कभी व्यर्थ नहीं हो सकते। इसीलिए स्फोटवाद ने तो स्पष्टतः 'शब्द' और 'अर्थ' को ही नहीं है, वरन् उनके परस्पर सम्बन्ध को भी नित्य माना है। परन्तु पश्चात्य प्रतीकवाद के अनुसार प्रतीक में अर्थ संदर्भ से ही आते हैं तथा सहज ऐतिहासिक तथा सामाजिक स्तरों पर निष्पन्न होते हैं, साथ ही प्रतीक, प्रतीकार्थ और उनके सम्बन्ध को उस अर्थ में नित्य नहीं मानते जिस अर्थ में स्फोटवादी 'शब्द' 'अर्थ' और उनके सम्बन्ध को नित्य मानते हैं। आशय यह है कि यद्यपि पाश्चात्य प्रतीकवाद तथा भारतीय स्फोटवाद में क्रमशः प्रतीक तथा स्फोट-विषयक विचारों में कुछ साम्य है। परन्तु उन्हें एक-सा नहीं कहा जा सकता।

स्फोटवाद के अनुसार पूर्व और वर्तमान जन्मों के संस्कारों के परिपाक के रूप में, विवक्षा के तात्कालिक कारण से मानवीय कण्ठ से जो ध्वनि रूप में यथार्थ अभिव्यक्त होता है, तथा जो श्रोता द्वारा श्रुतिरूप में ग्रहीत हो सुश्रषा आदि[३६] के क्रम में प्रतीत होता है, वही भाषा है जिसका मूल केन्द्र-विन्दु 'वाक्य' माना गया है। 'वाक्य' उक्ति का शास्त्रीय पर्याय है। भर्तृहरि ने वाक्य को उसी प्रकार उपचार से अनेक स्थानों पर शब्द भी कहा है जिस प्रकार स्फोट और अर्थ आदि को 'शब्द' कहा है। परन्तु भाषा की मौलिक इकाई के रूप में वाक्य ही मान्य है तथा उसकी अभिव्यक्ति उसके अर्थ और रूप के दो तत्वों के माध्यम से मानी जाती है। इसी प्रकार, शास्त्र व्यवहार के लिये जब वाक्य का उपखण्डों में विश्लेषण किया जाता है तब भी उक्त अर्थ और रूप का द्वैत बना रहता है तथा पूर्व को पर का मूल या कारण माना जाता है। आशय यह कि स्फोटवाद के अनुसार जब वाक्य का विश्लेषण आदि पदों या वर्णों में किया जाता है, तब प्रत्येक पद और वर्ण के 'रूप' और 'अर्थ' के द्वैत को स्वीकार किया जाता है, तथा द्वैत के उक्त दोनों तत्वों में, वाच्य-वाचक, प्रकाश्य-प्रकाशक, या प्रतीत-प्रत्यायक रूप संबंध माना जाता है।

स्फोटवाद के अनुसार भाषा का मौलिक रूप शुद्ध ज्योतिर्मय प्रतिबिम्बग्राही, आनन्दमय, ज्ञानमय, बुद्धिमय, चैतन्य रूप स्फोट है जिसकी, विवर्तित अहम् या व्यक्ति-चिति रूप वाक्ता की बुद्धि, मन प्राण और वायु के माध्यम से ध्वनिरूप में प्ररिणति होती है या ध्वनि के उपलक्षणों के माध्यम अभिव्यक्ति होती है। आशय यह कि मूलवाक् या परावाक् का अहंकार तक विकास विवर्त रूप में होता है तथा उस सीमा तक 'स्फोट' अव्यक्त रहता है परन्तु जब वह विवक्षा प्रेरित होकर व्यक्त-नाद का रूप लेता है तो बुद्धि से प्रारंभ होकर मन और प्राण-वायु के माध्यम से परिणाम और परिमाण रूप में व्यक्त होता है।[३७] अव्यक्त वाक् की परिणति और परिमित अभिव्यक्ति रूप भाषा के स्फोट के प्राणवायु के प्रधान और निकटतम होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति का वाह्य रूप प्रधानतः ध्वनिक होता है, जो श्रोत्रेन्द्रीय का धर्म और आकाश का गुण माना जाता है।

प्राणवायु का द्रव्याभिघात अर्थात् वायु में जब स्थान और करण के संघात से जो विकार होता है उसी में अव्यक्त बौद्ध शब्द, नाद, घोष, श्वास के रूप में परिणत होकर ह्रस्व, दीर्घ आदि के रूप में परिमित होकर अर्थ-प्रत्यायक स्फोट रूप में व्यक्त होता है, जिसकी, श्रोता में विशिष्ट कालक्रम में प्रतीति भी वैयाकरणों ने स्फोट रूप ही मानी है, तथा वर्ण पद, शब्द

एवं वाक्य (भाषिक कोटियों के अर्थ में) आदि के तत्तत् स्तर पर तद्स्फोट माना है तथा उसकी पूर्ण प्रतीति उसके अंतिम तत्त्व की उक्ति के पश्चात् ही माना है।

भर्तृहरि ने कहा है कि

नादैराहितयोजानामन्त्येन ध्वविना सह ।
आवृत्ति-परिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ।। (वाक्यपदीय १-८५)

यहाँ यह उल्लेखनीय है यद्यपि नागेश तथा भट्टोजी दीक्षित ने वर्ण, पद, वाक्य आदि व्याकरणिक कोटियों के समानान्तर तत्तद् स्फोट माने हैं, परन्तु ये सब भेदोपभेद शास्त्र-चर्चा के लिये ही हैं, अंततः वाक्य तो अखंड्य है और तदनुसार वाक्य-स्फोट ही अखंड और अक्रम-रूप में ही वैयाकरणों को मान्य है।

भर्तृहरि ने स्पष्टः कहा है कि:—

पदे भेदेऽपि वर्णानामेकत्वंन्न निवर्तते ।
वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते ।।
तद्वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यन्न विद्यते ।
वाक्यं-वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न किंचन ।।
पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चनः ।। (वाक्यपदीय-१-७१-७३)

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वाक् व्यापार के प्रारंभ से लेकर वक्ता श्रोता से स्वतंत्र एक भाषा के रूप व प्रयोग की व्याख्या तक में 'स्फोट' तत्त्व अनुस्यूत है। अर्थात् स्फोटवाद में 'स्फोट' शब्द का प्रयोग यद्यपि विविध स्तरों पर विविध अर्थों में हुआ, परन्तु वह एक ऐसा शब्द है जो अपने एक मौलिक आशय के साथ स्फोटवाद के आध्यात्मिक तत्त्व-दर्शन से लेकर सामान्य मानवीय भाषा के विश्लेषण तक में व्याप्त मिलता है।[३५] इसीलिए 'स्फोटवाद' शब्द के द्वारा ही प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के समस्त तत्त्वदर्शन को अभिहित किया जाता है।[३६] स्फोटवाद के भाषा दर्शन के अध्ययन के लिये 'स्फोट' शब्द की आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से एक भाषिक परिभाषा प्राचीन साहित्य के अध्ययन के आधार पर दी जा सकती है तथा तदनुसार भाषा विश्लेषण की पद्धति भी खोजी जा सकती है। परन्तु अभी तक स्फोट-वाद आधुनिक विचारकों की दृष्टि से पर्याप्त दूर ही है तथा उसके विषय में अनेक भ्रामक धारणाएँ भी प्रचलित हैं, जिनका निरसन, आधुनिक दृष्टि से प्राचीन साहित्य के गंभीर अध्ययन तथा तात्त्विक शोध के आधार पर ही किया जा सकता है।

संदर्भ

१: भट्टो जी दीक्षित-शब्द कौस्तुभ-पृ. १२.

२. माधवाचार्य सर्व-दर्शन संग्रह- पृ. १३ सं. प्रो. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१९६४

३. कपिलदेव द्विवेदी-अर्थ विज्ञान और व्याकरण-दर्शन, पृ. ३५०-५१ हिन्दुस्तानी एकेडेमी-इलाहाबाद-१९५१

४. हरिशंकर जोशी, प्रतिभादर्शन, पृ. ४३ चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी-१९६४
५. तुलनीय है : 'चौसठ अद्वैतवादी शैवतन्त्र शिव दृष्टि-पृ० २६ व मालिनी विजय वार्तिक-१३५ तंत्रालोक-१-५ ४२ काश्मीर संस्कृत सीरीज-१९२१
६. तुलनीय है। भास्करी-Vol: III P. XLIX—LI Panday K. C. —Abhinava Gupta—An Historical and Philosophical Study P. 562. Chaukhamba, Varanasi. 1963
७. तंत्रालोक जयरथ जी की टीका,
८. हरिशंकर जोशी, प्रतिभादर्शन पृ० ३१७
९. तुलनीय है: कात्यायन प्रातिशाख्य-४-१६५ अथर्व प्रातिशाख्य १-१०३ व २-३२
१०. हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन पृ० ३१५
११. हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन पृ० ३१५
१२. हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन पृ० ३०२-३०५
१३. नागेश भट्ट-स्फोटवाद-पृ० १०२ (आडयार लाइब्रेरी सीरीज नं० ५५१)
१४. पाणिनि अष्टाध्यायी ६-१-१२३
१५. हरदत्त, पदमंजरी, काशिका टीका ६-१-१२३
१६. हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन पृ० ३१५
१७. यास्क, निरुक्त १-१-४
१८. हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन ३०५
१९. हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन ३०५
२०. कपिलदेव द्विवेदी अर्थ विज्ञान और व्याकरण-दर्शन पृ० ३५८
२१. K. C. panday, Abhinavagupta—An Historical and Philosophical Study P. 47
२२. K. C. Panday, Abhinava Gupta—An Historical and Philosophical Study P. 47.
२३. भर्तृहरि : वाक्यपदीय १-१
२४. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी १ २००-२०५ काश्मीर संस्कृत सीरीज १९३८
२५. K. C. Panday-Abhinava Gupta—An Historical and Philosophical study P. 48.
२६. K. C. Panday—Abhinava Gupta—An Historical and Philosophical Study P. 731-732.
२७. K. C. Panday—Abhinava Gupta—An Historical and Philosophical Study P.731-732
२८. भर्तृहरि वाक्यपदीय १-११
२९. कपिलदेव द्विवेदी-अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन पृ० ६६
३०. तुलनीय है :
(१) भर्तृहरि वाक्यपदीय
(२) 'स्वतंत्रः कर्ता' पाणिनि अष्टाध्यायी १-४-५४
(३) 'चितिः स्वतंत्राः विश्व सिद्धि हेतुः।' प्रत्यभिज्ञा हृदय। काश्मीर संस्कृत सीरीज
३१ K. C. Panday, Abhinava Gupta—An Historical and Philosophical Study P. 628.
३२. भर्तृहरि वाक्यपदीय—१-३
३३. K. C. Panday—Abhinava Gupta—An Historical and Philosophical Study P. 499
३४. तुलनीय है: परावाङ्मूल चक्रावस्था, पश्यन्ती नाभिसंस्थिता

हृद्यस्थां मध्यमाज्ञेया, वैखरी कण्ठदेशगा ॥

नागेश भट्ट—परमलघु मंजूषा– ।।

३५. K. C. Panday—Abhinava Gupta—An Historical and Philosophical Study P. 497

३६. K. C. Panday—Abhinava Gupta—An Historical and Philosophical Study P. 497

३७. विद्यानिवास मिश्र भारतीय भाषादर्शन पीठिका,

३८. तुलनीय है

सुश्रूषा श्रवणं चैव,
ग्रहणं, धारणं तया ।
ऊहापोहार्थ विज्ञानं,
तत्वज्ञानं च धी गुणाः ॥
महाभारत, वनपर्व–२-१६

३६. हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन पृ० ३३८-३३९.

११

शब्दार्थ-सम्बन्ध–अपोहवादी दृष्टिकोण

भारतीय जीवन का मूल उत्स वेद है। वेद में निहित बीज-बिन्दुओं से ही भारतीय संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, आचार-विचार एवं जीवन-दर्शन का विकास हुआ। वेदों की सम्यक् परीक्षा, व्याख्या और उनकी रक्षा के लिये ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद एवं षडंगों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष के विपुल साहित्य का सृजन हुआ। वेदों के ही तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों को लेकर विभिन्न दार्शनिक मत-मतान्तरों के रूप में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, अद्वैत आदि की उद्भावना हुई। उनकी उद्भावना की एक ही सामान्य भूमि थी और वह थी वेदों पर उनकी समग्र आस्था। वे सब शब्द-प्रामाण्य पर आधारित थे। शब्द-प्रमाण इनका एक जीवनभूत तत्त्व था। ज्ञान के एक साधन के रूप में इन्होंने प्रत्यक्ष और अनुमान से भी अधिक महत्त्व शब्द-प्रामाण्य को दिया क्योंकि शब्द-प्रमाण असंदिग्ध, अकाट्य तथा स्वतः-सिद्ध है, वह किसी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं है।[1] चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शनों का सन्दर्भ भी प्रकारान्तर से शब्द-प्रामाण्य ही है, यद्यपि यह संदर्भ अनास्था सापेक्ष है, निषेधपरक है।

शब्द-प्रामाण्य पर आधारित होने के कारण दर्शन ग्रन्थों में, साक्षात शब्दानुशासन होने के कारण व्याकरण ग्रन्थों में और शब्द तथा अर्थ का सहित भाव होने के कारण साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में शब्द को परिभाषित करने की आवश्यकता पड़ी। इस संदर्भ में एक आधार-भूत प्रश्न उठता है कि ज्ञान के साधन रूप में शब्द अथवा भाषा की भूमिका क्या है? शब्द प्रत्यय है क्या? निश्चय ही यह प्रश्न शब्द की परिभाषा से आवृत्त है। परम्परावादी तत्त्व-चिन्तक पतंजलि के शब्दों में उत्तर देना चाहेंगे, 'स्फोट' शब्दः[2] परिणामतः 'सिद्धे शब्दार्थ संबंधे'[3] इतना ही क्यों? पतंजलि के व्याख्याकार भर्तृहरि शैवागम-प्रभाव स्वरूप, शब्द को ब्रह्म के रूप में स्थापित कर संपूर्ण जगत् को इस शब्द-ब्रह्म का विवर्तमात्र बताएगे।[4] शब्द का अर्थ आकृति, व्यक्ति, जाति, जात्याकृति व्यक्ति, जाति-विशिष्ट व्यक्ति में से कुछ भी हो, दर्शन, व्याकरण और साहित्यशास्त्र के आचार्य इस मन्तव्य से सहमत प्रतीत होते हैं कि शब्द नित्य है, अर्थ नित्य है और उनका संबंध भी नित्य है।[5] शब्दार्थ सत् है। शब्द इन्द्रिय स्वरूप है। इन्द्रिय और प्रज्ञा के समान ही शब्द ज्ञान का साक्षात् एवं प्रत्यक्ष साधन है।[6] साक्षात् ज्ञान संवेदना होता है, विधि होता है। शब्द-ज्ञान भी विधि है। शब्द पदार्थ-प्रकाशक है वे इन्द्रियों के समान ही पदार्थ को स्पर्श करते हैं। वे पदार्थ-संवादी होते हैं।[7] यही शब्दों का हार्द है, अन्यथा वे निस्सत्त्व हैं।[8] शब्द और अर्थ में समवाय संबंध है। वे एक, तद्रूप और अपृथक् हैं।[9] शब्दों का अन्वय-व्यतिरेक पदार्थों का ही अन्वय-व्यतिरेक है। संसार नाम है। नाम न केवल

नैसर्गिक और पूर्वनियोजित हैं[10] अपितु एक ऐसे जैविक शक्ति-तत्त्व हैं जो हमारे संवेद्य को रूपायित करते हैं। ऋषियों द्वारा अनाम जगत् नाम रूप से व्याकृत किया गया,[11] संज्ञा-संज्ञी का संबंध नित्य है। निश्चय ही शब्द-अर्थ और उनके संबंधों की यह परिभाषा तथा प्रकृति सभी को स्वीकार्य नहीं होगी। बौद्ध दार्शनिकों ने शब्द की इस परंपरागत संकल्पना को समग्रतः नकारा है। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार शब्द अथवा नाम मूलतः अपोह है। शब्द ज्ञानबोध का प्रत्यक्ष नहीं,[12] अपितु अनुमान के समान एक परोक्ष साधन है।[13] नाम पदार्थ–बोध का परोक्षतः एक माध्यमिक साधन है जो वस्तु-संदर्भ सायुज्य पर आधारित है। नामों की प्रकृति तार्किक और निगमनात्मक होती है। नामों की प्रकृति के मूल में वर्तमान तर्क के तीन पक्ष हैं (१) इस पदार्थ का नाम 'घट' है। (२) जहाँ कहीं भी यह पदार्थ हो, इसका नाम 'घट' होगा। (३) यह नाम 'अघट' के लिये व्यवहृत नहीं होता। परिणामतः सभी नाम प्रतिषेधात्मक अथवा अपोहात्मक होते हैं। नाम और विकल्प एक ही भूमि को आवृत करते हैं क्योंकि विकल्पात्मक विचार की एक नाम-योग्य विचार के रूप में परिभाषा की गई है––एक ऐसे विचार के रूप में जो नाम के साथ एकीभूत हो सकता है। दिङ्नाग कहते हैं कि नाम विकल्पों से उत्पन्न होते हैं और इसके विपरीत विकल्प भी नाम से उत्पन्न हो सकते हैं।[14] इसलिए नाम के अभिप्रायः का निर्धारण वैसा ही है जैसाकि विकल्पों की आधारभूत प्रकृति का निर्धारण।

सामान्यतः बुद्ध ने अपने तत्त्वदर्शन के संबंध में अपने मन्तव्यों को विधि रूप में न रखकर उपनिषदों में मान्य 'नेति-नेति' की तरह वस्तुस्वरूप का निषेधपरक व्याख्यान करने का प्रयास किया है।[15] क्योंकि उन प्रश्नों का उत्तर न तो 'हाँ' है, न 'नहीं' न दोनों हैं, और न कोई भी नहीं। इनका विवेचन करने में बौद्ध दार्शनिकों के तर्क अपोहात्मक अर्थात् निषेधात्मक ही हैं। वैसे तो वैदिक ऋषियों की मेधा में चिन्तन की इस निषेधात्मक प्रकृति के लक्षण मिलते हैं।[16] परन्तु बुद्ध ने अपोह-चिन्तन को जो दार्शनिक आधार प्रदान किया था, उसे ही आगे उन्हीं के माध्यमिक सम्प्रदाय ने सामान्य रूप से मानव-प्रज्ञा तथा निरपवाद रूप से सभी विकल्पों तक विस्तृत कर दिया। माध्यमिक सम्प्रदाय के अनुसार मानव बुद्धि एक भ्रम से युक्त होती है क्योंकि इसके विकल्पों के अनुरूप कोई विषय नहीं होता। ये विकल्प ऐसे अंशों से युक्त होते हैं जो एक-दूसरे को निराकृत करते हैं। जैसाकि दिङ्नाग के भाष्यकार जिनेन्द्र-बुद्धि कहते हैं प्रज्ञा द्वारा रचित प्रत्येक वस्तु हमेशा युग्मों में ही रचित होती है। ये सभी यमज भ्राता होते हैं, जो प्रज्ञा के क्षेत्र में जन्म लेते हैं। ऐसे युग्मों के अंश अपनी सापेक्षता अथवा अपनी परिभाषाओं के परस्पर प्रतिनेषेधत्व के कारण एक-दूसरे को निराकृत करते हैं।[17] प्रज्ञा का विधान कभी भी साक्षात्; शुद्ध नहीं होता। वह स्वयं अपने अर्थ का, अनिवार्यतः किसी अन्य अर्थ के प्रतिषेध द्वारा ही विधान करती है। दिङ्नाग स्वयं कहते हैं कि शब्द अपना अर्थ विरोधी अर्थ के निषेध द्वारा ही अभिव्यक्त करते हैं।[18]

अपोह सिद्धान्त का उद्‌भव और विकास बौद्ध-दर्शन के व्यापक संदर्भ में ऐतिहासिक अनिवार्यता के रूप में हुआ। बौद्ध दार्शनिक बौद्ध-दर्शन की कतिपय स्थापित मान्यताओं एवं पारिभाषिक शब्दावली जैसे–अनात्मता, क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञान आदि की सहायता से अपोह सिद्धान्त का व्याख्यान करते हैं। वस्तुतः 'अपोह' शब्द बौद्ध मनीषा और उसकी चिंतन-

प्रकृति का उद्घाटक है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा जैसे किसी नित्य पदार्थ की सत्ता में विश्वास नहीं करते। प्रत्यक्षगोचर मानसवृत्तियों के पुंजमात्र से पृथक् आत्मा की कोई नित्य सत्ता नहीं। बाह्य जगत् सन् नहीं, असत् है। जगत् में किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं, वस्तुएं क्षणिक होती हैं। वे एक क्षण उत्पन्न होती हैं और दूसरे क्षण नष्ट हो जाती हैं। वे न भाव हैं और न अभाव।[१६] दोनों से इतर वे शून्य हैं। पदार्थ चित्त की ही अभिव्यक्ति हैं। चित्त द्वारा वस्तुओं का ग्रहण विज्ञान कहलाता है। विज्ञान ही एकमात्र सत् है। जगत् इस विज्ञान का ही एक रूप है। बाह्य जगत् में स्थित घट की कोई वास्तविक सत्ता नहीं, अपितु यह विज्ञान का ही एक रूप है। इन्द्रियार्थ-प्रतीति का मूल इन्द्रियार्थ एवं इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष सब कुछ बुद्धि में ही है। अतः जगत् में प्रतीत होने वाली सभी वस्तुएँ चित्त की ही प्रत्यय हैं। बाह्य वस्तुओं की प्रतीति वास्तविक नहीं, अपितु असत्, भ्रम और मिथ्या हैं।[२०] इसी की संज्ञा विकल्प है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह विकल्प न वस्तुपरक होता है और न व्यक्तिपरक। यह शुद्ध, सरल एवं पूर्ण रूप होता है।[२१] यह उसी प्रकार एक शुद्ध भ्रम है जैसे कोई व्यक्ति अपने दृष्टि-दोष के कारण दो चन्द्र आकृतियों को देखता है और उसे सत् मानकर भाषिक आचरण करता है।[२२] इस प्रकार जगत् में कोई पदार्थ सत् नहीं जो शब्द का अर्थ हो। स्वयं शब्दार्थ असत्, मिथ्या और भ्रम रूप होता है।[२३] शब्दार्थ सत् नहीं, सत् का प्रतिबिम्ब, तर्क और विकल्प होता है।[२४] शब्दार्थ के विकल्पों की रचना साक्षात् शब्द से होती है।[२५] परंतु शब्द और अर्थ में समवाय सम्बन्ध न होकर कार्य-कारण सम्बन्ध होता है। साथ ही शब्द न अर्थ का स्पर्श करते हैं और न ही प्रकाशित करते हैं। शब्द और अर्थ एक तथा तद्रूप भी नहीं होते।[२६] शब्द से इसीलिए किसी अर्थ की उपलब्धि नहीं होती, अनुपलब्धि होती है। शब्द किसी अर्थ का विधान नहीं करते, अर्थ का निषेध करते हैं[२७] और यह निषेध जितना विरूपों का होता है, उतना ही समरूपों का भी होता है।[२८] निषेधात्मकता ही शब्द का हार्द है अन्यथा वे निस्तत्व हैं।[२९] इसीलिए इनके अनुसार शब्द अपोह है, और अपोह का अर्थ है अतद्-निषेध, अन्य-व्यावृत्ति। कुछ व्याख्याकारों के अनुसार हीगल की द्वन्द्वात्मक विधि का भी आधारभूत अर्थ कुछ ऐसा ही है। हीगल कहते हैं कि निषेधात्मकता जगत् की आत्मा है, निषेध विश्व की प्रेरक शक्ति है।[३०]

बौद्ध दार्शनिक विज्ञानवाद एवं क्षणिकवाद के समर्थन में शब्दार्थ की भौतिक सत्ता का विरोध करते हैं फिर यह सत्ता चाहे शब्द के संकेतार्थ व्यक्ति की हो अथवा जाति की। अपोहवादी शब्दार्थ की वास्तविक सत्ता के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठाते हैं। भूत वस्तुओं की परस्पर अनाश्रित, पृथक् एवं पूर्ण स्वायत्त सत्ता होती है। वे अपनी स्थिति के लिये किसी दूसरे के अधीन नहीं होते। एक-दूसरे से पृथक् उनकी विशेष सत्ता होती है।[३१] यदि शब्दार्थ सत्त्व है तो शब्द विशेष सभी सत्त्व विशेष के लिये व्यवहृत नहीं हो सकता। शब्दों में अनन्तता आ जाएगी।[३२] यदि यह मान लिया जाए कि शब्द व्यक्ति विशेष के लिये प्रयुक्त न होकर उस वर्ग के सभी विशेषों के लिये प्रयुक्त होते हैं तो इस मान्यता से यह सिद्ध होगा कि शब्द का अर्थ सत् और वास्तविक सत्ता न होकर एक धारणा है।[३३] शब्दार्थ को सत् मानने में एक दूसरी कठिनाई यह है कि शब्द समस्त आयामों से युक्त भौतिक वस्तु के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आवृत्त नहीं करते जैसाकि उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की प्रतीति इन्द्रियों द्वारा प्रत्य-

क्षानुभूति में होती है।[३४] अग्नि शब्द से अग्नि की दाहकता, तेजस्विता और उसके शक्ति-सम्पन्न पूर्ण व्यक्तित्व का बोध नहीं होता। इसके अतिरिक्त सत्वादी मानते हैं कि शब्द और अर्थ एक तथा तद्रूप होते हैं। फलतः वाक्य के उद्देश्य और विधेय समानाधिकरणिक होते हैं। परन्तु यदि 'घट' शब्द का अर्थ घट् सत है तो भाषिक आचरण में 'घटमस्ति' के रूप में घट की विधेयकता के कथन का कोई औचित्य नहीं। इसी प्रकार सत् शब्दों के द्वारा घटाभाव की विधेयकता भी संभव नहीं। इससे अन्तर्विरोध की स्थिति उत्पन्न होती है।[३५] इसी प्रकार बाह्य जगत् में 'नील कमल' के दोनों पद समानाधिकरणिक हैं। कमल का नीलत्व उसमें बाहर नहीं होता। परन्तु भाषा में विशेषण-विशेष्य शब्द नियोजन के द्वारा यह वस्तुस्थिति व्यक्त नहीं हो पाती है। 'नील कमल' के समानाधिकरणत्व का प्रत्यय शब्द में नहीं, बुद्धि में होता है। इससे यही सिद्ध होता है कि शब्द सत् को प्रत्यक्षीकृत नहीं करते। शब्द सत् नहीं, विकल्प अथवा धारणा है।[३६] संसार की कोई दो वस्तुएँ तद्रूप नहीं होती। वे अपनी सत्ता से परस्पर भिन्न हैं। वे किसी इकाई के खण्ड नहीं। परन्तु भाषिक आचरण में उन पृथक् एवं असंबद्ध सत्त्वों को परस्पर संबद्ध कर दिया जाता है। 'वन' शब्द के अर्थ की परस्पर असम्बद्ध सत्त्वों के संघात के अतिरिक्त अपनी कोई वास्तविक सत्ता नहीं। इससे भी सिद्ध होता है कि शब्द धारणा है।[३७] शब्द और उसके अर्थ में तदनुरूपता नहीं होती। शब्दों में पदार्थबोध की क्षमता नहीं। पदार्थ क्षणभंगुर एवं क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। इस सतत परिवर्तनशील पदार्थ को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य शब्दों में नहीं, क्योंकि शब्द के अर्थ अर्थात् पदार्थ का जो रूप एक क्षण है, वह दूसरे क्षण नहीं।[३८] इसके अतिरिक्त भी, यदि गो शब्द 'गौ-ज्ञान' का कारण है और यह ज्ञानबोध बाह्यवस्तु की सत्ता पर आधारित है तो विभिन्न व्यक्तियों में सुख-दुख की अनुभूति-वैभिन्न्य का कारण शब्द नहीं हो सकता क्योंकि अनुभूति-वैभिन्न्य की अनन्ता के अनुरूप शब्द-रूपों की अनन्तता संभाव्य नहीं।[३९] शब्दार्थ की सत्वादी संकल्पना की कठिनाइयों के निरसन हेतु यदि यह मान लिया जाए कि शब्द अनियत अस्त्यर्थक होता है। अर्थात् शब्दार्थ सत् तो है, परन्तु नियत सत् नहीं, अनियत सत् जैसे स्वर्ग, नरक, गुण, दोष आदि शब्दों का अर्थ। परन्तु शब्दार्थ को अनियत सत् के रूप में स्वीकार कर लेने पर 'गो' तथा 'अश्व' शब्दों के अर्थ में अन्तर करना कठिन हो जाएगा।[४०]

विशेष में अनुगत अर्थात् एकाकार की प्रतीति का कारण नैयायिक तथा मीमांसक जाति को मानते हैं। वे यह मानते हैं कि जाति इन्द्रियों द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष है जो विशेष में स्थित एक वास्तविक सत्ता है। जाति का ही दूसरा नाम सामान्य है। सामान्य का लक्षण है— 'अनुवृत्ति-प्रत्यय-हेतुः सामान्यम्' अनुवृत्ति-प्रत्यय का कारण सामान्य है। सामान्य नित्य और अनेक में समवेत धर्म है 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यम्'।[४१] परन्तु अपोहवादी जाति की वास्तविक सत्ता को स्वीकार नहीं करते और न उसे अनुगत प्रतीति का हेतु ही मानते हैं। वे पदार्थ की भाँति जाति को भी सत् न मानकर भ्रम और विकल्प मात्र मानते हैं। उनके अनुसार विशेषों में कोई सामान्य एकत्व नहीं। वे एक साथ मिलकर एक सामान्य परिणाम उत्पन्न करते हैं। ये हमारी कल्पनाशक्ति को उद्दीप्त करते हैं और एक-एक ऐसे अभेद प्रतिभास की रचना करते हैं जो विकल्प विज्ञान बन जाता है यही विशेष और सामान्य के बीच एकत्व को प्रस्तुत करता है। विकल्पों की इस शक्ति का स्वभाव इस तथ्य में निहित है

कि वह वैयक्तिक रूपों के भेद को मिटा देता है। इस विशुद्ध आन्तरिक प्रतिभास को अज्ञानी मनुष्यों द्वारा एक बाह्य वस्तु समझ लिया जाता है। इसका इस प्रकार विस्तार कर दिया जाता है कि यह अनेक विभिन्न व्यक्तियों को आवृत्त करे, उन्हें बाह्य जगत् में प्रक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करे और उन्हें हेतुक प्रभावोत्पादकता से युक्त कर दे। वह सत् जो समान आकारों के आधार को व्यक्त करता है, विरुद्ध के प्रतिषेध के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इनसे परिणामों में एक ऐसा एकत्व उत्पन्न होता है जो ऐसे व्यक्तियों को पृथक् कर देता है जो उसी परिणाम को उत्पन्न नहीं करते। एक ही उद्दीपन उद्दीप्त करने वाली वस्तुएँ तब एक अनुभवातीत भ्रम का कारण बन जाती हैं और एक ऐसे व्यापक आकार की रचना करती हैं जिसका एक समान जैसा रूप होता है। इस प्रकार सामान्य एक आन्तरिक उत्पाद है जो भ्रामक रूप से एक बाह्य के रूप में प्रकट होता है।[४२]

अपोहवादी शब्दार्थ की जाति-संकल्पना के कट्टर विरोधी हैं। वे अनात्मवाद के समर्थन के लिये नित्य सत्तात्मक जाति का विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि वस्तुओं में कोई जाति नहीं होती है। अपनी प्रकृति से ही एक वस्तु संसार की अन्य वस्तुओं से भिन्न है। उनमें क्रिया-व्यापार की कुछ समानता हो सकती है परन्तु इस समानता के आधार पर उनमें जाति की स्थापना सिद्ध नहीं हो पाती है। समानता का अर्थ तद्रूपता नहीं है। एक ही प्रयोजन के लिये प्रयुक्त परस्पर भिन्न वस्तुओं में भी समानता स्थापित की जा सकती है। यह समानता प्रयोजन की समानता हो सकती है। जैसे, किसी रोग-विशेष के निवारणार्थ विभिन्न औषधियों का प्रयोग होता है। उनमें रोग-निवारण की समान क्षमता है। परन्तु रोग-निवारण की क्षमता के आधार पर उन औषधियों को समान अथवा तद्रूप सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त विभिन्न औषधियों में रोग-निवारण की क्षमता तो है परन्तु उस क्षमता के प्रतिफलन में पर्याप्त अन्तर है। उनमें कोई ऐसी जाति नहीं जो समान रूप से रोग को दूर करने में सक्षम हो। एक औषधि अधिक प्रभावोत्पादक और त्वरित फलदायी होती है, दूसरी अपेक्षाकृत कम। यदि उनमें जाति एक है तो उस एक जाति से युक्त विभिन्न औषधियों में उस एक जाति की प्रभावशीलता भी एक-सी होनी चाहिए। परन्तु उनके प्रतिफलन की भिन्नता उन्हें परस्पर भिन्न एवं पृथक् सिद्ध करती है।[४३]

जगत् के स्वतंत्र सत्तात्मक पदार्थ अपनी स्थिति के लिये पृथक् देश को ग्रहण करते हैं। घर से दंड पृथक् द्रव्य है क्योंकि उसका स्थिति-साधक देश घर से पृथक् है। परन्तु जाति के विषय में ऐसा नहीं कह सकते। जाति के स्वतंत्र पदार्थ होने से उसकी अनुभूति पृथक् होनी चाहिए, परन्तु उसका ग्रहण व्यक्तियों में ही होता है, व्यक्तियों से पृथक् अन्यत्र कहीं नहीं।

सामान्य अपने आश्रयभूत व्यक्ति से पृथक् होता है। व्यक्ति की सत्ता के लिये उसका पूर्वभाव आवश्यक माना जाता है। परन्तु व्यक्ति से पृथक जाति कभी दृष्टिगोचर नहीं होती। जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह आकृति, आयाम और गुण से युक्त व्यक्ति ही। जाति आकृति, आयाम और गुण से निरपेक्ष होती है। आकृति आयाम और गुण से आवृत्त व्यक्ति द्वारा आकृति आयाम गुण-निरपेक्ष जाति का प्रत्यय संभव नहीं। आपाततः वे सर्वथा भिन्न हैं।[४४]

ऐसा माना जाता है कि जाति एक है और व्यक्ति विशेष के विभिन्न अंगों में उस एक जाति की सत्ता है। 'गाय' शब्द में दो अक्षर हैं—'गा' और 'य' ये दोनों अक्षर समवेत रूप से गोत्व जाति को धारण करते हैं। जब 'गा' और 'य' शब्द का क्रमशः उच्चारण होता है तो अक्षरों के क्रमोन्मेष के साथ उनमें आश्रित जाति का भी क्रमोन्मेष होता है और अंतिम अक्षर उच्चारण के साथ जाति का पूर्व प्रत्यय होता है परन्तु यदि जाति एक और नित्य है तो उसका क्रमिक प्रत्यय समीचीन नहीं।[४५]

कुमारिल भट्ट कहते हैं कि अपोह प्रकारान्तर से जाति की ही संज्ञा है, इसमें कोई नई बातें नहीं है।[४६] 'गो' का अर्थ 'अगो निषेध' है, परन्तु इस निषेध में इसका गौ अर्थ संकेतित है। अन्य-आवृत्ति के पश्चात् शब्द का जो नियत अर्थशेष रह जाता है, वह जाति ही है। जाति के विना विशेष का ज्ञान संभव नहीं।[४७] यह और बात है कि जाति को सत् माना जाए अथवा विकल्प मात्र, परन्तु प्रश्न यह है कि जाति की संज्ञा है और शब्द का अर्थ यही जाति है, न कि अन्य-व्यावृत्ति।[४८] अपोहवादी शांतरक्षित इसका यह उत्तर देते हैं कि यदि जाति को वास्तविक सत्ता न मानकर केवल विकल्प माना जाए, तो यह उन्हें अग्राह्य नहीं। भूत वस्तु मानस जाति का प्रक्षेपण है। जाति सत् नहीं, भ्रम, मिथ्या और विकल्प है। हमारी जाति-संकलपना जातिवादियों की जाति-संकल्पना से भिन्न है। जो जाति को भ्रम और मिथ्या न मानकर सत् मानते हैं और जिन्हें जाति की विकलपात्मक संकलपना ग्राह्य नहीं।[४६] कुमारिल यह प्रश्न उठाते हैं कि यदि जाति सत् नहीं और शब्द का अर्थ अन्य-आवृत्ति है तो फिर 'गौ' तथा 'श्वेत गौ' समानार्थी हो जाएँगे, क्योंकि दोनों शब्द 'अगौ' का निषेध करते हैं।[५०] शांत-रक्षित इसका यह उत्तर देते हैं कि निषेध तथा अविद्यमानता तद्रूप नहीं। जैसाकि हमारे आलोचक समझते हैं कि दोनों स्थितियों में पर्याप्त अन्तर है। यदि उन्हें तद्रूप कहा जा सकता है तो अतद्रूप कहने में भी कोई अनौचित्य नहीं।[५१]

अपोह का विरोध करते हुए कुमारिल यह कहते हैं कि जाति की प्रत्यक्षानुभूति व्यक्ति में होती है। जहाँ व्यक्ति प्रत्यक्ष हैं, वह किसी वर्ग से संबद्ध है। जहाँ वह अविद्यमान है, यहाँ किसी वर्ग से संबद्ध नहीं परन्तु निषेध इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं। उसका प्रत्यय केवल अनुमान अथवा शब्द से ही संभव है। परन्तु अनुमान और शब्द की गति तभी तक है जब वे किसी पदार्थ के संवादी हों। यदि शब्द किसी पदार्थ का संवादी नहीं तो वह निरर्थक है।[५२] शांतरक्षित के अनुसार अनुमान और शब्द विलक्षण निषेध के संवादी होते हैं। 'अधूम्राभाव' और 'अअग्न्यभाव' में संगति है, अतः अनुमान संभाव्य है। शब्द विलक्षण विशेष के संवादी इस अर्थ में हैं कि ये विशेष अविद्यमान विशेषों तथा नित्य पदार्थ से भिन्न हैं।[५३]

अपोह सिद्धान्त के विरोध में कहा जा सकता है कि अपोह एक में दूसरे की अविद्यमानता है। 'अ' 'व' 'स' तीन अक्षर हैं। 'अ' का भिन्नत्व 'व' 'स' और 'स' का भिन्नत्व 'अ' 'व' में निहित है। उनकी यह भिन्नता उसमें स्थित जाति के समान नियत नहीं है तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उसमें परस्पर भिन्नता है। यह तभी सिद्ध किया जा सकता है जब उनमें कुछ ऐसा नियत भाव हो, जिसका अन्य में अभाव हो। दूसरे शब्दों में निषेध किसी भाव का होता है, अभाव का नहीं। जब भिन्नत्व कोई भाव नहीं, तब फिर उसके निषेध का कोई औचित्य नहीं। 'गौ' का अर्थ 'अगो निषेध' नहीं है। 'अगोनिषेध'-ज्ञान के लिये 'गौ' का

ज्ञान आवश्यक है। अतः निषेध से पहले अन्वय का पूर्वानुमान करना पड़ेगा।[५४] शांतरक्षित यह उत्तर देते हैं कि यह तो जाति-समर्थक भी मानते हैं कि 'गोत्व' अश्व में नहीं पाया जाता क्योंकि अश्व की प्रकृति में 'गोत्व' धारण करने की क्षमता नहीं है। 'अ' 'ब' 'स' परस्पर भिन्न हैं, परन्तु उनमें ही गोत्व धारण की क्षमता है, क, ख, ग, में नहीं क्योंकि गोत्व समुदाय-विशिष्ट के विशेष में ही व्यक्त होता है। अतः जाति की सत्ता स्वीकार किये बिना ही यह कहा जा सकता है कि सभी विशेष गौ हैं। इस प्रकार अतद् निषेध स्वयं सिद्ध हो जाता है।[५५] पदार्थों की स्वयं प्रकृति में परस्पर भिन्नता निहित है। लोगों ने अपनी सुविधानुसार उन पदार्थों के लिये यादृच्छिक रूप से शब्दों का निर्माण कर लिया है जिन शब्दों द्वारा पदार्थ-बोध होता है। अतः पदार्थ-बोध के लिये उन शब्दों के ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं। जहाँ अन्य पदार्थों के लिये वे शब्द प्रयुक्त नहीं होते वहाँ स्वतः भिन्नता-बोध हो जाता है। जिन पदार्थों के लिये 'गौ' शब्द अव्यहृत है, 'अगौ' है। 'अगौ' ज्ञान के लिये 'गोत्वज्ञान' आवश्यक नहीं।[५६]

इसी प्रकार एक आपत्ति और की जा सकती है कि अपोह एक अभाव है और विलक्षण विशेष एक भाव। इन दोनों की संगति संभव नहीं। ये परस्पर संयुक्त नहीं किए जा सकते। अभाव भाव का विशेषण नहीं हो सकता। विशेषण विशेष्य के अतिरिक्त उनमें अन्य कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं। 'गौ' का अर्थ 'अगौ निषेध', निषेध द्वारा विशेषित ज्ञान है। यह ज्ञान यदि निषेध द्वारा विशेषित है तो फिर 'गौ' शब्द के उच्चारण के साथ 'अगौ' का ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि विशेषण का ज्ञान अनिवार्यतः विशेष्य ज्ञान का पूर्ववर्ती होता है। परन्तु यह ज्ञान अनुभव द्वारा सिद्ध नहीं होता। अतः निषेध शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं हो सकता।[५७] इस आपत्ति का निवारण करते हुए शांतरक्षित उत्तर देते हैं कि वस्तुतः पदार्थ निषेध द्वारा विशेषित नहीं होता। शब्द पदार्थ का स्पर्श नहीं करते। शब्दों का अर्थ केवल मानस पदार्थ होता है, भूत पदार्थ नहीं। उनका भूत पदार्थ अर्थ प्रकारान्तर से ही होता है। मानस पदार्थ को निषेध द्वारा विशेषित करने में कोई अनौचित्य नहीं। इसके अतिरिक्त निषेध पदार्थ से बाहर नहीं होता है। स्वयं पदार्थ की प्रकृति में निषेध निहित रहता है। अतः यहाँ विशेषण और विशेष्य एक और तद्रूप हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं।[५८]

न्याय वार्तिककार उद्योतकर ने अपोह के विरुद्ध तर्क करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि यदि शब्द का अर्थ निषेध है तो फिर 'सर्व' शब्द का निषेध क्या होगा? क्योंकि सर्व के बाहर ऐसा कुछ नहीं जिसका निषेध हो सके। सब कुछ सर्व शब्द से आवृत्त है। इसके अतिरिक्त 'गौ' का अर्थ अपोह सिद्धान्त के अनुसार 'अगौ' भिन्नता है, फिर 'अगौ' धारणा उत्पन्न कैसे होती है जिसका निषेध 'गौ' शब्द द्वारा किया जाता है। क्या 'अगौ' स्वयं गौ नहीं है अथवा यह सचमुच 'अगौ' ही है। यदि यह 'गौ' है तो इसके अर्थ से कोई विरोध नहीं और यदि 'अगौ' है तब फिर यह कहना हास्यास्पद होगा कि गौ का अर्थ अगौ-निषेध है। इसके अतिरिक्त क्या सभी स्थितियों में निषेध की प्रकृति समान होती है अथवा भिन्न-भिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न। पहली स्थिति में निषेध-जाति बन जाएगी और दूसरी स्थिति में पदार्थ के अनुरूप निषेध की संख्या अनन्त हो जाएगी जिसकी बोधगम्यता संभव नहीं। अतः अन्वयार्थक शब्दों का अर्थ कभी निषेध नहीं हो सकता।[५९] इसका उत्तर शांतरक्षित यह देते हैं कि

मनुष्य भाषा का प्रयोग किसी संदर्भ में ही करता है जो प्रयोजन-सापेक्ष होता है, 'सभी मनुष्य यहाँ से चले गये' प्रयोग में सभी और यहाँ दोनों शब्द सन्दर्भ-सापेक्ष हैं। सभी का प्रयोजन केवल उन मनुष्यों से है जो इस वाक्य का अभिप्रेत है और जो किसी स्थान विशेष से उठकर चले गये, न कि संसार के सभी मनुष्यों से है जो संसार छोड़कर चले गये। इस प्रकार का अर्थ कोई पागल ही लगा सकता है।[६०]

अतः सर्व का प्रयोग संदर्भ-सापेक्ष है और इसका भी निषेध संभव है इसमें कोई संदेह नहीं। फिर हम यह मानते हैं कि शब्द का पहले कोई अर्थ होता है और निषेध उस अर्थ द्वारा केवल संकेतित होता है। शब्द द्वारा पहले निषेध और तत्पश्चात् अन्वय का विधान कभी नहीं होता। शब्द का अर्थ विकल्प होता है। यह न सत् है, न असत्। तद्रूपता अथवा अतद्रूपता, का प्रश्न वहाँ उठता है जहाँ पदार्थ की कोई सत्ता हो। परन्तु जब वे अविद्यमान हैं तब फिर 'अगौ' और 'अगौ निषेध' में तद्रूपता का प्रश्न उठाना निरर्थक है इसी प्रकार भिन्न स्थितियों में निषेध की प्रकृति का प्रश्न भी सार्थक नहीं। क्योंकि अविद्यमान सत्त्वों में निषेध की भिन्नता अथवा अभिन्नता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। आपाततः किसी सत्त्व की कोई सत्ता ही नहीं जो शब्द का अर्थ हो। शब्द-प्रयोग और उसका अर्थ सब कुछ भ्रम, मिथ्या एवं विकल्प है। बाह्य जगत् में वस्तु की कोई सत्ता नहीं। हमारी बुद्धि स्वयं वस्तु-बिम्बों की योजना करती है और फिर उन्हें बाह्य-जगत् पर आरोपित करती है। हमारा शब्द-ज्ञान मिथ्या होता है और यथार्थतः शब्द का कोई संकेतार्थ नहीं होता।[६१]

जाति की वास्तविक सत्ता की बाधक आपत्तियों का उल्लेख उदयनाचार्य ने किरणावली की अपनी प्रसिद्ध कारिका में निम्नलिखित रूप से किया है :

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक-संग्रहः॥

जहाँ व्यक्ति का एकत्व है, वहाँ जाति की सत्ता संभव नहीं। आकाश सर्वत्र एक है। अतः आकाशत्व जाति नहीं हो सकती। तद्रूप व्यक्तियों में भी जाति की सत्ता नहीं रहती। जहाँ भिन्न-भिन्न शब्द एक ही व्यक्ति के वाचक होते हैं, वहाँ भिन्न-भिन्न जातियाँ नहीं होतीं। 'घट' तथा 'कलश' दो भिन्न शब्द एक ही व्यक्ति के वाचक हैं। अतः व्यक्ति तद्रूपता के कारण दो भिन्न शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति 'घटत्व' तथा 'कलशत्व' की दो भिन्न जातियाँ नहीं हो सकतीं। कुछ विशिष्ट स्थितियों में जाति की सत्ता मानने में संकरदोष आ जाता है, जिससे जाति-संकल्पना में बाधा उत्पन्न होती है। जहाँ एक सामान्य के कुछ व्यक्तियों को दूसरे सामान्य में दूसरे सामान्य के कुछ व्यक्तियों की गणना पहले सामान्य में हो, वहाँ जाति की सत्ता सिद्ध नहीं हो पाती। 'भूतत्व' और 'मूर्त्तत्व' दो जातियाँ हैं। भूत पाँच हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। मूर्त्त भी पाँच हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन। यहाँ चार व्यक्ति दोनों जातियों में सम्मिलित हैं। अतः 'भूतत्व' की दो पृथक् जातियों की स्थापना में कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त जहाँ जाति की कल्पना करने पर व्यक्ति के स्वरूप की हानि होती है, वहाँ भी जाति की सत्ता सिद्ध नहीं हो पाती। विशेष संख्या में बहुत होता है तथापि विशेषत्व जाति नहीं होती। विशेष सामान्य से विपरीत कल्पना है।

अतः किसी भी प्रकार जाति की सत्ता सिद्ध नहीं हो पाती है। जाति सत् नहीं, विकल्प है। परिणामतः हमारा भाषिक ज्ञान भी सत् नहीं, विकल्प है क्योंकि यह अपनी सार्थकता के लिये विकल्प रूप जाति की सहायता लेता है। शब्द पदार्थ-संवादी नहीं। वह प्रकारांतर से ही पदार्थ-संवादी है। स्वप्न का पदार्थ-ज्ञान पदार्थ-संवादी होता है किन्तु न तो यह पदार्थ और न पदार्थ ज्ञान ही सत् है। शब्दों की पदार्थ-संवादकता की भी यही प्रकृति है। जैसाकि स्वयं विकल्प की प्रकृति होती है। जाति-विकल्प भी निषेधात्मक होता है। एक जाति का ज्ञान अन्य जातियों की व्यावृत्ति में निहित है। विशेष में जाति का प्रत्यय सत् नहीं, भ्रम है। एक विशेष अन्य विशेषों के तद्रूप नहीं। उसकी सत्ता अन्य विशेषों की व्यावृत्ति में है। शब्द को अनिवार्यतः यह प्रदर्शित करना पड़ता है कि एक विशेष की ऐसी क्या सम्पदा है, जो उसे अन्य विशेषों से व्यावृत्त कर उसकी सत्ता को स्थापित करती है। यही स्थिति विशेष में व्यक्त जाति की सत्ता की भी है। अतः जाति-आस्था एक भ्रम और केवल अज्ञानियों की कल्पना है। पंडित अशोक जातिवादियों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि जो व्यक्ति पाँच अंगुलियों से पृथक् जाति रूप (अंगुलित्व) छटे पदार्थ की सत्ता को मानता है:' उसे अपने सिर पर सींग की भी सत्ता माननी चाहिए—

इहासु पंचस्ववभासनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमंगुरीषु।
साधारणं षष्ठमिहेक्षते यः शृंगं शिरस्यात्मन ईक्षते सः॥

अपोह सिद्धांत का प्रवर्त्तन मध्यकालीन न्याय विद्या के जनक दिङ्नाग ने किया। उनके 'प्रमाण सम्मुचय' के छह परिच्छेदों में से पाँचवां परिच्छेद अपोह परीक्षा का है जिसमें कुल बावन श्लोक हैं। अपोह-संकल्पना के प्रवर्तक दिङ्नाग पूर्ण प्रतिषेध का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। शब्द का विरुद्ध के प्रतिषेध के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं हो सकता। वे शब्द द्वारा विरुद्ध का प्रतिषेध करने के साथ अपने अर्थ का विधान करने के तर्क को आग्रहपूर्वक अस्वीकार कर देते हैं। दिङ्नाग ने अपने प्रबल तर्कों के प्रहार से शब्दार्थ की पारस्परिक संकल्पना और न्याय विद्या को पूर्णतः निस्तेज कर दिया। परन्तु उद्योतकर और कुमारिल भट्ट ने अपनी दुर्धर्ष मेधा की शक्ति से दिङ्नाग के प्रहारों से न केवल न्यायविद्या की रक्षा की अपितु उसे पुनर्जीवित भी किया। उद्योतकर और कुमारिल भट्ट ने शब्द की प्रतिषेधात्मक संकल्पना की कटु आलोचना की। उस पर सभी दिशाओं से भीषण प्रहार किये और उसे निःशेष करने की कोई भी युक्ति उठा नहीं रखी। अपोहवादियों के लिये उनके आक्रमणों का उत्तर देना कठिन हो गया। परिणामतः दिङ्नाग के व्याख्याकार जिनेन्द्र बुद्धि दिङ्नाग की रक्षा के लिये प्रत्याक्रमण की भूमिका को छोड़कर बचाव पक्ष के वकील का काम करने लगते हैं और अपोह के अन्य शिल्पकार शांतरक्षित तथा रत्नकीर्ति अपोह का रूपान्तरण कर देते हैं। जिनेन्द्र बुद्धि कहते हैं कि हमारे विपक्षी शब्दों के अपोहात्मक अर्थात् निषेधात्मक अर्थ के यथार्थ स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ है और वे हमारे ऊपर एक ऐसा सिद्धांत आरोपित करते हैं जो कभी भी हमारा नहीं था। वे दिङ्नाग की पूर्ण प्रतिषेधात्मक अपोह की प्रतिज्ञा की व्याख्या करते हैं और कहते हैं कि शब्द का स्वयं अपना अर्थ निषेध में निहित होता है। विधि और निषेध, अन्वय और व्यतिरेक, उपलब्धि और अनुपलब्धि का अर्थ एक और अपृथक्करणीय

होता है। विधि और निषेध का प्रत्यय संकालिक रूप से ठीक उसी प्रकार होता है जैसे दंड और दण्डी का। जिनेन्द्रबुद्धि कहते हैं कि बिना किसी निहित अनुलब्धि के शुद्ध विधि निरर्थक है। यह कोई निश्चित फल प्रदान नहीं करती। इसी प्रकार हम शुद्ध अनुपलब्धि पर भी अपने को आधारित नहीं कर सकते। तदनुरूप अन्वय के बिना कोई व्यतिरेक नहीं होता और व्यतिरेक के बिना अन्वय भी नहीं हो सकता। ऐसा सोचा भी जा सकता कि निहित अन्वय के बिना भी व्यतिरेक हो सकता है। शब्द प्रतिषेध के द्वारा ही स्वयं अपने अर्थ को प्रकट करते हैं।[६३] यह वक्तव्य लात्स की मान्यता के अत्यन्त निकट पहुँच जाता है जब लात्स यह कहते हैं कि किसी विषय की विधायक अभिव्यक्ति और प्रत्येक अन्वय का निषेधात्मक परिहार दोनों इतने घनिष्ट रूप से संबद्ध होते हैं कि विधि मात्र अर्थ को व्यक्त करने के लिये ऐसी अभिव्यक्तियों का आश्रय ले सकते हैं जो केवल प्रतिषेधात्मक होती है।[६४] आधुनिक भाषा वैज्ञानिक भाषा की स्वनिम और रूपिम इकाइयों को परिभाषित करने में अनिवार्यतः इसी विधि का प्रयोग उचित समझते हैं। होकेट कहते हैं स्वनिम को 'यह क्या है' के रूप में परिभाषित करना उतना उपयुक्त नहीं, जितना कि 'यह क्या नहीं है' के रूप में परिभाषित करना। अर्थात् भाषा विशेष के अन्तर्गत उसके पार्थक्य की स्थिति क्या है ? इसी प्रकार रूपिम की स्थिति उस भाषा की अन्य रूपिमों से भिन्नता में निहित है। दोनों में से किसी भी स्थिति में उत्तर विध्यर्थक नहीं है।[६५]

अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'तत्त्वसंग्रह' के 'शब्दार्थ परीक्षा' प्रकरण में शांतरक्षित ने अपोह-संकल्पना का संस्कार किया। शांतरक्षित के अनुसार अपोह दो प्रकार का होता है।[६६] विधि और निषेधः पर्युदास और प्रसज्यप्रतिषेध। प्रसज्यप्रतिषेध का अर्थ है पूर्ण निषेध। 'गौ' शब्द का यह अर्थ है कि 'गौ' 'अगौ' नहीं है। इस प्रकार गौ का इससे अधिक कोई अर्थ नहीं। इसके विपरीत पर्युदास विरूद्ध की विधि से युक्त होता है। यह बुद्धयात्मक और अर्थात्मक द्विविध होता है। निषेध का बुद्ध्यात्मक प्रकार वह बुद्धि-प्रतिभास होता है, जिसका हमें प्रत्यक्षात्मक निश्चय में ज्ञान होता है, जिसका एक ही और वही रूप अनेक वस्तुओं में व्याप्त होता है। ये अपने में किसी सामान्य सत् के बिना भी एक आधार पर इनके एक मध्यवर्ती अनुभव से एक विकल्पात्मक ज्ञान होता है। निषेध का अर्थात्मक प्रकार विशुद्ध सत् की उस स्थिति को व्यक्त करता है, जिससे प्रत्येक विजातीय व्यावृत्त होता है। इसके अन्तर्गत अपोह स्वलक्षण के लिये भी परोक्ष रूप से व्यवहृत हो सकता है। क्योंकि यह स्वलक्षण अन्य से व्यावृत होता है। इसमें विरुद्ध के प्रतिषेध की विशेषता भी उपस्थित होती है जो अभिप्रेत होती है।[६७] इस अन्य-व्यावृत्ति के तीन आधार हैं (१) 'गौ' का विज्ञान अश्वादिक विज्ञान से भिन्न है। (२) यह एक ऐसी वस्तु पर आधारित है जो अन्य-व्यावृत्त है। शांतरक्षित यह सूचित करना चाहते हैं कि अपोह परोक्षतया स्वलक्षण के लिये व्यवहृत होता है,[६८] शब्द प्रथम प्रकार के अपोह अर्थात् पर्युदास को अभिव्यक्त करता है। क्योंकि शब्द वाह्यार्थ के साथ समीकृत आकार को उत्पन्न करता है।[६९] यह आकार अपोहात्मक होता है। अन्ततः शांतरक्षित कहते हैं कि हमने इस बात को कभी स्वीकार नहीं किया कि किसी शब्द का अर्थ निषेध मात्र होता है। शब्द प्रत्यक्षतः स्वलक्षण है और परोक्षतः अन्य-आवृत्ति।[७०] स्पष्ट है कि शांतरक्षित दिङ्नाग की अपोह-विषयक शुद्ध एवं पूर्ण निषेधात्मक प्रतिज्ञा को भंग कर देते हैं।

शांतक्षित द्वारा शब्द के प्रस्तावित द्विविध कार्य-फलन के विरुद्ध भी आलोचक आपत्तियाँ उठाते हैं। भामह कहते हैं कि शब्द द्वारा अन्वय-व्यतिरेक का दुहरा काम हमारे अनुभव के विपरीत है। जब हम शब्द उच्चारण करते हैं तो किसी का अन्वय-व्यतिरेक नहीं करते। और फिर निषेध यदि शब्द का प्रथम उत्पाद है तो 'गौ' शब्द के उच्चारण का उत्पाद 'अगौ' होगा। यह भी अनुभव-सिद्ध नहीं।[७१] अपोहवादी इसका उत्तर यह देते हैं कि शब्द का पहला उत्पाद अन्वय तत्पश्चात् व्यतिरेक है। 'गौ' शब्द का अर्थ गौ तो है ही, साथ ही इस अर्थ-बोध की प्रकृति में 'अगौ' निषेध का ज्ञान निहित है। एक वस्तु का ज्ञान उसे दूसरी वस्तुओं से पृथक् कर देने में ही निहित है। अतः शब्द द्विविध कार्य संपादन नहीं करते। अन्य-व्यावृत्ति शब्द का अर्थ नहीं, शब्द के अर्थ से प्रक्षिप्त बोध है।[७२]

अपोहसिद्धांत के विरुद्ध कुछ तकनीकी आपत्तियाँ भी उठाई गई हैं। यदि शब्द का अर्थ अन्य-व्यावृत्ति है तो फिर भाषा में विशेषण और संज्ञापदों की क्या सार्थकता है? क्योंकि विशेषणों के द्वारा विशेषित होने के लिये कुछ होगा ही नहीं। यदि शब्द निषेध है तो उसका कोई लिंग-वचन भी नहीं हो सकता क्योंकि लिंग-वचन भाव का ही होता है, अभाव का नहीं। इसके अतिरिक्त स्वयं निषेध शब्द का निषेध क्या होगा इन सब समस्याओं के संतोषजनक समाधान के लिये किसी भाव पदार्थ को संकेतार्थ के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा।[७३] परन्तु बौद्ध दार्शनिकों की तत्वान्वेषी दृष्टि ने इन प्रश्नों को अनुत्तरित नहीं छोड़ा। विशेषण संज्ञापदों से संयुक्त होकर एक इकाई का निर्माण करते हैं। निषेध इस पूरी इकाई का होता है, केवल संज्ञापदों का नहीं। इसी प्रकार शब्दों का लिंग-वचन उनके संकेतार्थ पर आश्रित नहीं होता है। ये स्वयं शब्दों की अपनी सम्पदा है। अतः विशेषण और संज्ञापदों की सार्थकता को सिद्ध करने के लिये किसी भाव पदार्थ को शब्द का संकेतार्थ मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती है।[७४]

रत्नकीर्ति ने 'अपोहसिद्धि' में अपोह को एक नयी परिभाषा दी है। उनके अपोह का अर्थ विशिष्टापोह है और शब्द का अर्थ है 'अन्य-व्यावृत्त विशिष्ट विधि' शांतरक्षित के अनुसार शब्द का पहले एक नियत अर्थ होता है। उसके नियतार्थ में अन्य-व्यावृत्ति संकेतित रहती है। रत्नकीर्ति कहते हैं कि शब्द न तो पूर्ण अन्वय है और न पूर्ण निषेध।[७५] शब्दों के द्वारा न तो पहले अन्वय विधान होता है तत्पश्चात् अतद्निवृत्ति और पहले अतद्-निवृत्ति तत्पश्चात् अन्वय-विधान शब्द का अर्थ एक ही साथ अन्वय-व्यतिरेक दोनों होता है। शब्द का अन्वय-व्यतिरेक संश्लिष्ट और युगपत् है। 'गौ' शब्द का अर्थ एक ही समय 'गौ' तथा 'अगौ-निषेध' दोनों है। यदि अन्वय-व्यतिरेक युगपत् न हो तो 'गौ' शब्द के उच्चारण द्वारा अश्व का ग्रहण होगा। यदि ऐसा नहीं होता है तो केवल इसलिए कि 'गौ' शब्द के उच्चारण से एक ही साथ गौ का भी बोध होता है और यह निषेध-बोध भी कि गौ अश्व नहीं है।[७६] रत्न-कीर्ति की इस व्याख्या के भी विरुद्ध प्रश्न यह उठता है कि एक ही समय किसी एक स्थान पर अन्वय-व्यतिरेक की संगति संभव नहीं क्योंकि दोनों की प्रकृति परस्पर पराङ्मुखी है। दोनों एक साथ, एक ही समय किसी एक ज्ञान के आश्रित नहीं रह सकते। रत्नकीर्ति इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर देते हैं। जब घट से रहित किसी स्थान का बोध होता है तो वह घटाभाव से विशेषित एक नियत स्थान का होता है। देश भाव है और घटाभाव उसका

विशेषरण। घटाभाव से विशेषित भाव देश में भाव और अभाव का बोध युगपत् होता है। यही स्थिति शब्दार्थ-बोध की भी है। शब्दार्थ में अन्वय-व्यतिरेक की संश्लिष्ट सत्ता है। ये शब्दार्थ के खण्ड नहीं जो एक-दूसरे के द्वारा उपलक्षित होते हैं। ये एक, समवेत और युगपत् हैं।[७७]

अपोह ने दिङ्‌नाग से लेकर रत्नकीर्ति तक एक लंबी यात्रा तय की है। इस यात्रा के तीन पड़ाव हैं। इस लंबी यात्रा में बौद्ध-नैयायिकों ने शब्दार्थ-संकलपना की बहस में कभी अपोह का तिरस्कार नहीं किया परन्तु अपोह की आत्मा निषेध की प्रकृति का परिष्कार अवश्य होता रहा। परिणामतः बौद्ध नैयायिकों का सारा समुदाय यद्यपि समस्त विकल्पों की अपोहात्मक प्रकृति को पूर्ण तथा स्वीकार करता है, तथापि ज्ञान के समग्रतः असत् स्वरूप पर आपत्ति करता है और अपोहात्मक विकल्पों के पीछे स्वलक्षरण की एक अपोहात्मक सत्ता को स्वीकार करता है। अपोह की यह अंतिम परिणति है।

भारतीय न्याय-दर्शन में अपोह सिद्धांत का उदय बौद्ध धर्म के ही समान एक अभूतपूर्व घटना थी। अपोह सिद्धांत ने भारतीय न्यायविद्या को नये अर्थ और नये आयाम दिये। उसने जाति की भौतिक संकलपना को पूर्णतः ध्वस्त कर दिया और न्याय-विद्या के परम्परावादी आचार्यों को शब्दार्थ में संशोधन के लिये विवश कर दिया। उसने परवर्ती नैयायिकों को निषेधात्मक परिभाषाओं की विधि दी जो ऐसी दशाओं तक में विरुद्ध परिभाषा की विधि-प्रयोग का लोमसंवरण नहीं कर पाते हैं जहाँ तार्किक स्पष्टता के लिये यह सर्वथा व्यर्थ है। परन्तु बौद्ध धर्म के समान अपोह को भी अपने उदय के साथ ही प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा और उसका अंत वही हुआ जो बौद्ध धर्म का। यह शायद इसीलिए कि भारतीय मनीषा ने अनास्था और निषेध को जीवन की नियति के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया।

सन्दर्भ

१. महाभाष्य, पस्पशाह्निक; वाक्यपदीय, काण्ड कारिका ३०-४३; श्लोकवार्तिक (गंगानाथ झा) खण्ड ६, कारिका ५३
२. महाभाष्य, पस्पशाह्निक
३. वही
४. वाक्यपदीय, काण्ड १, कारिका १, १२०
५. वाक्यपदीय, काण्ड १, कारिका २३
६. वाक्यपदीय, काण्ड ३, कारिका १०; श्लोकवार्तिक, खण्ड ६, कारिका ९८-९९
७. वाक्यपदीय, काण्ड १, कारिका ५०, तथा काण्ड २ कारिका ३२
८. श्लोकवार्तिक, खण्ड ६, कारिका २५।
९. वाक्यपदीय, काण्ड २, कारिका ३१, ३६९
१०. महाभाष्य १, १, १ तथा २, १, १
११. छान्दोग्य उपनिषद्, डॉ० कपिलदेव द्विवेदी द्वारा उद्धृत, अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृष्ठ–१३६
१२. दिङ्‌नाग, धीरेन्द्र शर्मा द्वारा उद्धृत, The differentiation theory of Meaning in India Logic पृष्ठ–१५

१३. श्लोकवार्तिक, खण्ड ६, कारिका १५
१४. धीरेन्द्र शर्मा द्वारा उद्धृत, वही, पृष्ठ–१५
१५. न्यायावतारवार्तिक वृत्ति (दलसुख मालवणिया) प्रस्तावना पृष्ठ १५
१६. नासदीय सूक्त, ऋग्वेद १०, १२९
१७. शेरबात्स्की द्वारा उद्धृत, बौद्धन्याय, खण्ड १, पृष्ठ ५७४
१८. शेरबात्स्की द्वारा उद्धृत, बौद्धन्याय, खण्ड १, पृष्ठ ५५२
१९. तत्त्व-संग्रह (गंगानाथ झा) ३९२-३९४
२०. तत्त्व-संग्रह ४४४-४६
२१. Satkari Mookerjee, the Buddhist Philosophy Universal flux पृष्ठ–११२
२२. तत्त्वसंग्रह १२११
२३. प्रमाणवार्तिक भाष्य (राहुल सांकृत्यायन) परिच्छेद ३, कारिका १७०
२४. तत्त्वसंग्रह, १२१२; अपोहसिद्धि (रत्नकीर्ति निबन्धावलि, अनन्तलाल ठाकुर) पृष्ठ ६१
२५. तत्त्वसंग्रह (विनयतोष भट्टाचार्य) भूमिका
२६. तत्त्वसंग्रह, ८६९-७०
२७. तत्त्वसंग्रह १११८-११२१
२८. Satkari Mookerjee the Buddhist Philosophy of Universal flux, पृष्ठ ११३
२९. वही, ११७
३०. शेरबात्स्की, बौद्धन्याय, खण्ड, पृष्ठ ५७१
३१. तत्त्व-संग्रह ८७३-७४
३२. तत्त्व-संग्रह (विनयतोष भट्टाचार्य) भूमिका
३३. Satkari Mookerjee the Buddhist Philosophy of Universal flux. पृष्ठ १०९
३४. तत्त्व-संग्रह, ८३९
३५. अपोहसिद्धि, पृष्ठ ५६
३६. Satkari Mookerjee, the Buddhist Philosophy of Universal flux पृष्ठ ११८
३७. वही, पृष्ठ ११९
३८. तत्त्व-संग्रह (वियतोष भट्टाचार्य) भूमिका
३९. वही, भूमिका
४०. तत्त्वसंग्रह, ८९३, ८९४
४१. विश्वनाथ, न्यायसिद्धांत मुक्तावली, पृष्ठ ४४
४२. जिनेन्द्रबुद्धि, शेरबात्स्की द्वारा अनुदित, बौद्धन्याय, खण्ड १ पृष्ठ ५५४-५६५ से संकलित
४३. तत्त्वसंग्रह, ७२३-७२६
४४. तत्त्वसंग्रह ७३९
४५. तत्त्वसंग्रह ७४३
४६. श्लोकवार्तिक, खण्ड १४, कारिका १,२
४७. श्लोकवार्तिक, खण्ड १४, कारिका ३, १०
४८. श्लोकवार्तिक, खण्ड १४, कारिका ३८-३९
४९. तत्त्व-संग्रह, १०२२-१०२५
५०. श्लोकवार्तिक, खण्ड १४, कारिका ४२-४६
५१. तत्त्वसंग्रह, १०३०-३२
५२. श्लोकवार्तिक, खण्ड १४, कारिका ७३-७५
५३. तत्त्वसंग्रह, १०५२-५६

५४. श्लोकवार्तिक खण्ड १४, कारिका ७७, ७८
५५. तत्त्वसंग्रह १०५८, १०६०
५६. तत्त्वसंग्रह १०६३, १०६५
५७. श्लोकवार्तिक, खण्ड १४, कारिका ८६, ८९
५८. तत्त्वसंग्रह, १०६६, १०७५
५९. तत्त्वसंग्रह, (विनयतोष भट्टाचार्य) की प्रस्तावना में संगृहीत, पृष्ठ ३९
६०. तत्त्वसंग्रह, ११८५-११८८
६१. तत्वसंग्रह, ११९२-१२१२
६२. बलदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत, भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५७९
६३. शेरबात्स्की द्वारा अनूदित, बौद्धन्याय, खण्ड पृष्ठ ५५४-५६५ से संकलित
६४. शेरबात्स्की, बौद्धन्याय, खण्ड १, पृष्ठ ५६६
६५. A Course in Modern Linguistics पृष्ठ १३४
६६. तत्वसंग्रह १०१०-१०१५
६७. तत्वसंग्रह १००९
६८. तत्वसंग्रह १०१०
६९. तत्वसंग्रह १०११
७०. तत्वसंग्रह, १०१९-१०२०
७१. तत्वसंग्रह (विनयतोष भट्टाचार्य) की प्रस्तावना से संगृहीत, पृष्ठ ३८
७२. तत्वसंग्रह १०१९-१०२१
७३. श्लोकवार्तिक, खण्ड १४, कारिका ११५-११६
७४. तत्वसंग्रह, ११२२-११४१
७५. अपोहसिद्धि (रत्नकीर्ति निबन्धावलि) पृष्ठ ५४
७६. वही, पृष्ठ ५४
७७. वही, पृष्ठ ५५

□ □ □

१२

पाणिनीय विश्लेषण-पद्धति के आधार

पाणिनि भारतीय व्याकरण-परम्परा के आदि आचार्य नहीं हैं, वे इस परम्परा के उत्कर्ष शिखर हैं। इसलिए जहाँ एक ओर उनको एक समृद्ध भाषा-केन्द्रित-चिंतन से प्रेरणा मिली, वहीं दूसरी ओर उनके सामने एक कठिनाई भी आयी; प्रचलित पद्धतियों को पूरी तरह अस्वीकार न करते हुए, अधिक संगत और स्वयंपूर्ण पद्धति कैसे अपनायी जाय। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा चलाये पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण तो उन्होंने किया, पर उनकी परिभाषा के लिए नये आधार उन्हें खड़े करने पड़े। ये आधार परिच्छिन्न तो हैं, पर कभी तो स्पष्ट रूप से व्याख्यात हैं, कभी पारिशेष्य के द्वारा बोधनीय हैं और कभी समग्र व्याकरण के विन्यास में ही गम्य हैं। उदाहरण के लिए पद की परिभाषा ली जा सकती है : "सुसुप्तिन्तं पदम्": 'सुप्' और 'तिङ्'प्रत्ययों में अन्त होने वाला रूप पद होता है। यह शुद्ध संरचना पर आधृत एक परिभाषा है, अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्", प्रत्यय-भिन्न, धातु-भिन्न अर्थयुक्त इकाई को प्रातिपदिक संज्ञा से परिभाषित करने वाली यह परिभाषा पारिशेष्य पर आधृत है और इसी प्रकार वाक्य की परिभाषा वाक्य सीमान्तसूचक सूत्रों के द्वारा गम्य होती है। ऐसा लगता है कि पाणिनि के मन में किसी भी व्याकरण शास्त्र में प्रयुज्यमान इकाई को परिभाषित करने की तीन कसौटियां प्रमुख रूप से थीं—

1. इकाइयों को द्वितात्मक (Binary) विभाजन के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए जिससे केवल सीमित क्षेत्र वाली इकाई की परिभाषा आवश्यक हो, उससे इतर अपने आप पारिशेष्य से परिभाषित हो जाय। उदाहरण के तौर पर प्रत्यय के लक्षण को लिया जा सकता है। प्रत्यय की परिभाषा 'परश्च' है, इसका अर्थ यह है कि दूसरे पर अवलम्बित रूप प्रत्यय है। प्रत्यय की इस परिभाषा से अपने आप प्रत्ययेतर अनाश्रित रूप भी परिभाषित हो गया। इसी प्रकार अव्यय-प्रातिपदिकों की परिभाषा देने से अव्ययेतर विकारी प्रातिपदिक पारिशेष्य से परिभाषित होते हैं और सर्वनाम-विकारी-प्रातिपदिकों की सूची देने से सर्वनामेतर विकारी-प्रातिपदिक परिभाषित किये गये हैं। इस द्वितात्मक विभाजन का रूप-विचार के स्तर पर एक वृक्ष पाणिनीय सिद्धान्तों के अनुसार यों बनाया जा सकता है:—
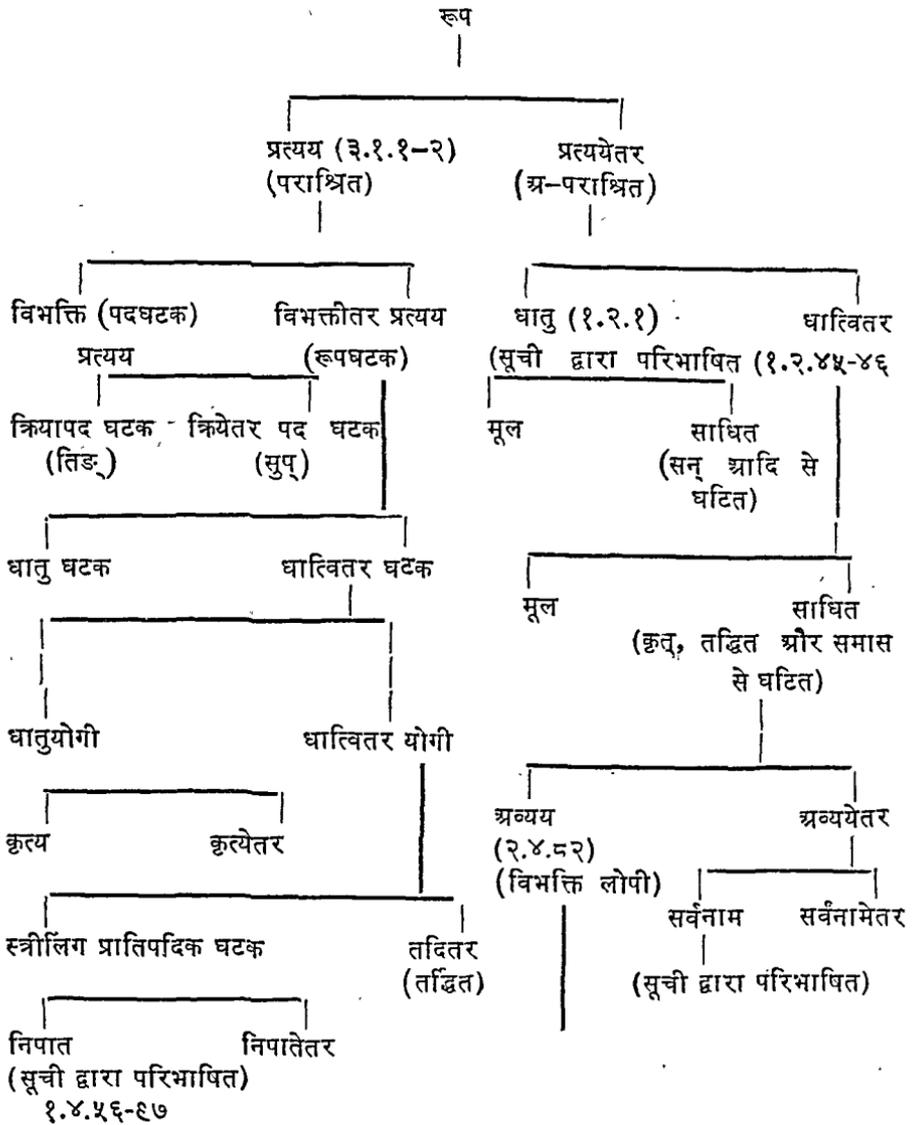
1. पाणिनि की दूसरी कसौटी थी कि परिभाषाएं भाषिक परिवेश को ही आधार बनाकर की जाय। एक तरह से यह सिद्धान्त ज़ेलिंग हैरिस के वितरण सिद्धान्त से भी अधिक विकसित और समावेशक है (ज़ेलिंग हैरिस ने भाषा के विश्लेषण की सीमा बाँधते हुए यह कहा है कि भाषा के उपादानों के नियमित व्यवहार का वर्णन ही इस विश्लेषण का चरम उद्देश्य है और यह नियमन उन भाषिक उपादानों के परस्पर वितरणात्मक सम्बन्धों को लेकर ही होता है, कौन उपादान किस दूसरे उपादान के साथ आता है, आगे आता है या बाद में जुड़कर आता है, इस सबका विचार करके ही नियमन किया जाता है), क्योंकि यह भाषा के सम्पूर्ण क्षेत्रगत परिवेश को ध्यान में रखता है, परिवेश केवल रूपगत ही नहीं

होता, अर्थगत भी होता है (यह अवश्य है कि अर्थ भाषाई अर्थ है, भाषाग्रहण का सन्दर्भभूत बाह्य अर्थ नहीं है, जैसाकि अष्टाध्यायी के प्रसिद्ध सूत्र "प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् (अ १.२.५६) में निहित सिद्धान्त से स्पष्ट है। पाणिनि ने इस सूत्र में भाषा से बाहर के अर्थ को भाषेतर लोकव्यवहार से प्रमाणित मानकर भाषा के नियमन या अनुशासन के अन्तर्गत इसे रखने की उपयोगिता नहीं समझी। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि बीसवीं सदी के प्रारम्भिक संघटनावादी भाषा-शास्त्रियों की तरह वे अर्थ को विश्लेषण की परिधि से बाहर रखना चाहते थे, बल्कि ठीक उलटे, शब्दों के जिन अर्थों में प्रयोग वर्गीकृत किये जा सकते हैं उन्होंने उनको वर्गीकृत करने का भी यत्न किया है, जैसे गत्यर्थक धातु, बुध्यर्थक धातु आदि का उल्लेख करके उन्होंने अर्थ की समान-धर्मता के आधार पर शब्दों का राशीकरण जगह-जगह किया है। यह जरूर है कि उन्होंने भाषा-व्यवहार को ही भाषा-विश्लेषण में प्रमाण माना है। उन्होंने साथ ही साथ अर्थात्मक, पदबन्धात्मक, रूपात्मक और वर्णात्मक सभी प्रकार के परिवेशों की समग्रता को सामने रखते हुए ही अपनी कोटियों की परिभाषा की है और उन कोटियों की भाषागत प्रक्रिया का नियमन सूत्र-बद्ध किया है, जैसे "सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम्" (अ० ३.१.१८) इस सूत्र में 'सुख' आदि रूपों के आगे 'क्यङ्' प्रत्यय जुड़कर जो साधित धातु बनती है वह अपने कर्त्ता के संवेदन व्यापार की वाचक होती है। एक ओर सुखादि का परिवेश देकर रूपात्मक स्तर की बात है दूसरी ओर कर्त्ता की बात कह कर व्याकरणीय अर्थ की बात और संवेदन के द्वारा कोशीय अर्थकोटि की बात। इस प्रकार तीन-तीन भिन्न प्रकार के नियन्त्रक परिवेश एकसाथ समाविष्ट किये गये हैं। स्तरों का स्पष्ट बोध प्रस्तुत करते हुए भी पाणिनि स्तरों को आत्यन्तिक नहीं मानते। इसी अर्थ में उनका व्याकरण स्तरात्मक व्याकरण (Stratificational Grammer) की कोटि में नहीं आता और प्रक्रिया-प्रस्तार के रूप में नियमों को क्रम-बद्ध रूप से प्रस्तुत करके भी ऊहन (Generation) के साथ-साथ कोटि-विभाजन का भी उद्देश्य सामने रखने के कारण उसे शुद्ध रूप से ऊहात्मक (Generative) व्याकरण भी नहीं कहा जा सकता। भाषा-संरचना की समग्रता उनके ध्यान में है और वही उनके लिए अन्तिम प्रमाण है। भाषा के वर्णन के लिए भाषायी उपादान ही पर्याप्त हैं। इस सिद्धान्त का निर्वाह पाणिनि ने बड़ी निष्ठा के साथ किया है।

3. पाणिनि के वर्णनात्मक व्याकरण का प्रारम्भ वाक्य को उक्ति (Utterance) की अनुभाव्य इकाई मानकर किया गया है और पूरा व्याकरण वाक्यगत सम्बन्धों के प्रत्यायन (Representation) के रूप में बांधा गया है। इस व्याकरण का उत्तरार्ध (छठे से आठवें अध्याय तक) वाक्यार्थ के वाक्य-शब्द के रूप में परिणमन की प्रक्रिया का प्रस्तार करता है। इस प्रकार वाक्य की धारणा से प्रारंभ करके और वाक्य की श्रुतिगोचर प्रतीति में पर्यवसान करके वृत्त पूरा कर दिया गया है। प्रत्येक विधिवाक्य सापेक्ष है, "समर्थ पदविधिः" का सिद्धान्त पूरे व्याकरण पर हावी है। श्रुतिगोचर वाक्य पाणिनि के ही शब्दों में शब्द संज्ञा है। आज की भाषा-शास्त्रीय शब्दावली के साइन (Sign) के समीप, बुद्धिगोचर वाच्य (शब्देतर) अर्थ-संज्ञा (सिग्निफाइड Signified), है, दोनों एक दूसरे में ओत-प्रोत हैं, न अर्थरहित वाक्य सम्भव है, न वाक्य के श्रव्य-रूप के बिना अर्थ की ही अवस्थिति सम्भव

है; इस प्रकार व्याकरण का उद्देश्य दोनों का अन्तरवलम्बन दिखलाना है, विश्लेपरण की सुविधा की दृष्टि से भले ही उन्हें दो कोटियों में रखा गया हो। पारिणनि ने वाक्य के प्रकारों के उल्लेख किये हैं, पर उनकी परिभाषा सीधे शब्दों में न देकर जिन–जिन रूपात्मक विवर्त्तों से उनकी अभिव्यक्ति होती है, उनका वर्णन प्रस्तुत किया गया है, अष्टाध्यायी में इस प्रकार निम्नलिखित वाक्य-प्रकार उप-वर्णित किये गये हैं :

	प्रकार	सन्दर्भ	प्रत्यायक रूप	नियन्त्रक परिस्थिति विशेष, यदि कोई हो तो
१.	विधि वाक्य	३.३.१६१–१६२	लिङ् या लोट् लकार की क्रिया	
२.	अनुज्ञैषरणा वाक्य (अनुमति लेना)	८.१.४३	समापिका क्रिया अनुदात्त नहीं होगी	यदि 'ननु' अव्यय वाक्य में प्रयुक्त हो
३.	अतिसर्ग वाक्य (मनचाही करने की आज्ञा लेना)	३.३.१६३ ३.३.१६४–६५	लोट् लकार की क्रिया और कृत्य प्रत्यय लिङ् लकार की क्रिया	एक मुहूर्त्त के बाद होने वाले व्यापार के सन्दर्भ में या 'रूप' के प्रयोग के साथ।
४.	काम प्रवेदन वाक्य (अपना उद्देश्य प्रकट करना)	३.३.१५३	लिङ् लकार की क्रिया	
५.	प्रार्थना वाक्य	३.३.१६१	लिङ् लकार की क्रिया	
६.	निमन्त्रण वाक्य विशेष कार्य के लिए (न्यौंतना)	३.३.१६१	लिङ् लकार की क्रिया	
७.	प्रैष वाक्य (आदेश वाक्य)	३.३.१६३–६५	१. लोट् लकार की क्रिया या कृत्य २. लिङ् लकार ३. लोट् लकार	
		८.२.१०४	समापिका क्रिया का स्वरित स्वर प्लुत	एक मुहुर्त्त के बाद होने वाले व्यापार के संदर्भ में 'रूप' के प्रयोग के साथ
८.	अधीष्ट वाक्य (आदरार्थक)	३.३.१६१-१६२ ३.३.१६५	लिङ्/लोट् लकार केवल लोट् लकार	 'रूप' यदि साथ हो
९.	आमन्त्रण वाक्य अनेक विकल्प उपस्थित करना)	३.१.१६१-१६२	लिङ्/लोट् लकार	
१०.	आशिष् वाक्य (शुभकामना सूचक)	३.४.११६	लिङ् लकार आर्धधातुक धातु रूप के साथ	

११.	विनियोग वाक्य (अनेक कार्यों के लिए एकसाथ आदेश)	८.१.६१	वाक्य का पहला सुबन्त पद अनुदात्त	यदि 'अह' के साथ हो
१२,	दूराह्वान वाक्य (दूर से पुकारना)	८.२.८४-८५	वाक्य का अन्तिम स्वर उदात्त और प्लुत	
१३.	प्रश्न वाक्य (सीधा प्रश्न)	८.२.१०० ८.२.१०५	वाक्य का अन्तिम स्वर अनुदात्त और प्लुत या वाक्यांत का स्वरित प्लुत	
१४.	प्रत्यारंभ वाक्य (हाँ-उत्तर की अपेक्षा रखने वाला प्रश्न)	८,१.३१	समापिका क्रिया उदात्त स्वर युक्त	
१५.	पृष्ट प्रति वचन वाक्य (प्रश्न का उत्तर)	८.२.९३ ३.२.१२०-१२१	समापिका क्रिया उदात्त और प्लुत लट् लकार	यदि भूतकाल द्योतित हो और 'ननु'साथ हो।
१६.	प्रतिश्रवण वाक्य (वाया)	८.२.९९	वाक्यान्त स्वर उदात्त और प्लुत	
१७.	सम्प्रश्न वाक्य (प्रश्न के द्वारा समर्थन)	३.३.१६१-१६२	लिङ्/लोट् लकार	
१८.	प्रत्याभिवादन वाक्य (अभिवादन का उत्तर)	८.२.८३	वाक्यांत स्वर उदात्त और प्लुत	
१९.	परीप्सा वाक्य (जल्दी-जल्दी बोलना)	८.१.४२ ३.४.५२-५३	समापिका क्रिया अनुदात्त न हो वाक्य के रूपादेश के रूप में 'अम्' प्रत्यय(णमुल्) ?	
२०.	प्रहास वाक्य (मजाक उड़ाना)	८.१.४६ १.४.१०६	क्रियापद अनुदात्त नहीं, पुरुष प्रत्यय	यदि 'एहि' और 'मन्ये' के साथ हो
२१.	चित्रीकरण वाक्य विस्मय बोधक)	३.३.१५०	लिङ् लृट्	यदि 'यदि' न हो
२२.	आख्यान वाक्य घटना-विवरण	८.२.१०४	समापिका क्रिया का स्वरित स्वर प्लुत	
२३.	अभ्यादान वाक्य (वार्तालाप का प्रारम्भ)	८.२.८७	ऐसे वाक्य में प्रयुक्त ओम्उदात्त और प्लुत	
२४.	अमर्ष वाक्य (क्षोभ व्यंजक)	३.३.१४५-१४६	लृट्/लृट् लकार लिङ् लकार	'किम्' के साथ 'यत्' या 'जातु' के साथ

इनके अलावा पूजावाचक, क्षियावाचक (अनादरवाचक), सम्मतिवाचक (स्वीकृति वाचक), कोपवाचक, असूयावाचक, कुत्सावाचक, भर्त्सनावाचक (डाँट फटकार), विचार्यमाण वाक्य (स्मरण वाचक), गर्हावाचक (निन्दा) वाक्यों के भी उल्लेख हैं और **संभावना** की विविध वृत्तियों, सामान्य संभावना, अनवक्लृप्ति (असंभव स्थिति), क्रियातिपत्ति(शर्त), आशंसा (आशा करना), हेतु-हेतुमद्भाव (कार्यकारण सम्बन्ध) का भी विधान है। इनके अलावा इच्छार्थक, समुच्चयार्थक, क्रियासमभिहार (बार-बार कोई कार्य करना), क्रिया-प्रबन्ध (क्रिया की निरन्तरता), हेतुमान् (प्रेरणार्थक) वाक्यों के उपलक्षण भी दिये गये हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पाणिनि का व्याकरण वाक्य पर आधारित है, केवल पद-व्याकरण नहीं है। क्योंकि पाणिनि ने पद की सत्ता वाक्य से ही मानी है। इस प्रकार वाक्य-प्रकारों के उल्लेख रूप-प्रक्रिया के प्रस्तार के साथ या वाक्यगत काकु एवं स्वराघात के नियमन के प्रस्तार के साथ किये गये हैं। पर वाक्य-सम्बन्धों का उपन्यास संज्ञा-परिभाषा के अनन्तर वर्णन के प्रारम्भ में ही किया गया है और दो प्रकार के सम्बन्ध दो प्रकार के पदों के बीच स्थापित किये गये हैं, सुबन्त और तिङन्त पद (जिन्हें दूसरे वैयाकरण 'नामपद' और 'क्रियापद' या 'आख्यात' कहते हैं) के बीच घटित होने वाला सम्बन्ध है। सुबन्त और दूसरे सुबन्त के बीच घटित होने वाला सम्बन्ध कारकेतर या शेष सम्बन्ध है। कारक सम्बन्धों का भी क्रम इस प्रकार रखा गया है कि उत्तरोत्तर सन्निकृष्टतर सम्बन्ध का ख्यापन हो।
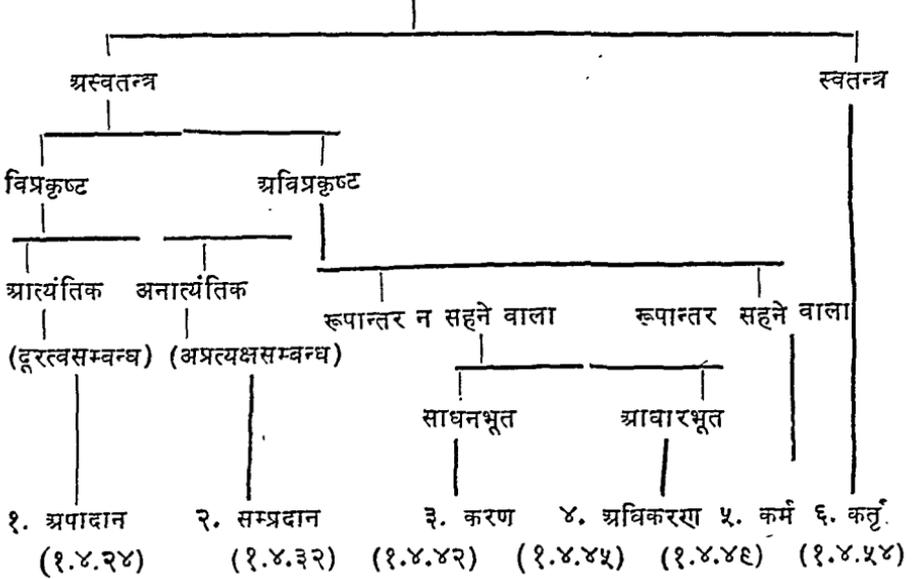
इन वाक्य सम्बन्धों का प्रत्यायन विभक्ति प्रत्ययों और साधक प्रत्ययों द्वारा क्रमशः कराया गया है। इन सम्बन्धों के अलावा आदेश (Sbstitution) सिद्धान्त को ध्यान में रखकर कुछ बीज वाक्य रचे गये हैं जिनको परिवर्तनीय तत्त्व + ध्रुव तत्त्व (Variable+Constant) क्ष=अ+ब, (x×a+b) के योग के रूप में रखकर उनके स्थान पर भाषा में प्राप्त दूसरे विकल्प, परिवर्तनीय तत्त्व×अन्य प्रत्यय (तद्धित) का ऊहन (Generation)

दिखलाया गया है, जैसे तद् अधीते, तद् वेद में तद् के स्थान पर 'वेदम्' करके ऐसा पढ़ें, 'वेदम् अधीते वेदं वेद' तो इसके स्थान पर तद् (परिवर्तनीय)+अपरिवर्तनीय तद्धित प्रत्यय 'इक' आदेश भी विकल्प के रूप में मौजूद है। 'तद्' के स्थान पर 'वेद', 'पुराण', 'इतिहास' कुछ भी रखें,—'इक' अपरिवर्तनीय रहेगा और प्रत्येक में दो प्रकार की संरचना सम्भव होगी।

वेदमधीते वेदं वेद— वैदिकः
पुराणमधीते पुराणं वेद— पौराणिकः
इतिहासमधीते इतिहासं वेद— ऐतिहासिकः

इस प्रकार क्ष, अ+व ~ क्ष. स (क्ष परिवर्त्य, अ और स दो निश्चित प्रकार के प्रत्यय, व स्वतंत्र पद है।) पाणिनि ने यह अवश्य किया है कि पहले सुवन्त पद रचना ली है, जिसके अन्तर्गत समास-संरचना भी आ जाती है। इसके बाद धातुयोगी प्रत्ययों को, 'कृत्य', 'शेषकृत्' और 'तिङ्' इस क्रम से रखा है, इसके अनन्तर सभी प्रत्यय और सबसे अन्त में तद्धित प्रत्यय रखे हैं। यह इसलिए किया गया है कि सुबन्त पद से साधित धातु बनती है, अतः सुबन्त प्रक्रिया के बाद साधित धातु प्रक्रिया का आना संगत है। साधक प्रत्ययों में सबसे पहले कृत् है, क्योंकि कृदन्त रचना के बाद सभी प्रत्यय जुड़ने का क्रम संगत है। सभी प्रत्यय तद्धित के पूर्व हैं, क्योंकि पुल्लिग हो, स्त्री लिंग हो, या नपुंसकलिंग हो, सभी प्रकार के प्रातिपदिकों से तद्धित प्रत्यय जुड़ते हैं। इस प्रकार क्रम-विन्यास पाणिनीय व्याकरण में बहुत अधिक सार्थक है। सुवन्त और तिङन्त पद की रचना के वृत्त इस प्रकार रखे गये हैं कि एक बार नियमों का चक्कर पूरा करके पुनः दूसरे चक्कर में प्रक्रियाधीन रूप डाला जा सके, जैसे:—

सुबन्तपद→ प्रातिपदिक+सुप्
प्रातिपदिक→ मूल/साधित
साधित प्रातिपदिक→धातु+कृत्/प्रातिपदिक+स्त्री तद्धित/प्रातिपदिक1+ प्रातिपदिक2
धातु→ मूल/साधित
साधित धातु→ धातु+सनादि प्रत्यय/प्रातिपदिक+नामधातुसाधक प्रत्यय

इस क्रम में कृदन्त रूप प्रातिपदिक बनकर नये नियमचक्र में डाला जाता है और तद्धितान्त रूप भी प्रातिपदिक बनकर नये नियमचक्र में डाला जा सकता है। इसी तरह

तिङन्त पद→ धातु+तिङ्
धातु → मूल/साधित
साधित धातु→ धातु+सनादि प्रत्यय/प्रातिपदिक+नाम धातु प्रत्यय

पाणिनीय विश्लेषण की विशेषता ही यह है कि वह भाषा के तत्त्वों का जहां विखण्डन प्रस्तुत करता है वहीं साथ-साथ उनका संश्लेष भी प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह व्याकरण भाषा की रचना की परख तो करता ही है, उस रचना के प्रसार की संभावनाएं भी बढ़ाता है। इस तरह यह भाषा के सर्जनात्मक उद्देश्य की ही वस्तुतः पूर्ति करता है।

पाणिनीय व्याकरण के विन्यास में अन्तर्निहित उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों को समझ लेने पर इस व्याकरण की प्रक्रिया आसान हो जाती है और पाणिनि-प्रयुक्त बीजगणितात्मक

उपायों की सार्थकता भी समझ में आ जाती है, जो उपाय संक्षिप्त होने के कारण अस्पष्ट नहीं हो पाते। उदाहरण के लिए पाणिनि ने स्वर न कहकर 'अच्' नाम दिया और व्यंजन न कहकर 'हल्' नाम दिया। इससे दो प्रयोजन सिद्ध हुए, एक तो यदि उन्हें 'अ' से भिन्न स्वरों का निर्देश करना है तो 'अच्' के स्थान पर 'इच्' कह देंगे, अच् एक राशि (सेट) है, इच् उसकी उपराशि (सब् सेट्) है। क्योंकि 'अच्' का अर्थ है, अ इ उ ऋ लृ ए ओ (च्)। इसमें से 'अ' हटा दिया जाय, अपने आप इच् अवशिष्ट रह जाता है। स्वर संज्ञा के उपयोग से इस प्रकार की सुविधा नहीं हो सकती थी। दूसरे, स्वर की ध्वनि-विज्ञानीय परिभाषा देने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इन उपायों के अवलम्बन से भले ही व्याकरण की भाषा कुछ दीक्षागम्य हो गयी है, पर व्याकरण स्वयं ऐसी गणितात्मक परिशुद्धता को प्राप्त कर सका है, जो किसी भी भाषाविद् के लिए आज भी एक असाध्य आदर्श है।

□ □ □

१३

प्राचीन भारत में ध्वनिविज्ञान

ध्वनिविज्ञान की वैज्ञानिक आधारशिला रखने का श्रेय भारत को ही है। इसे अनेक पश्चिमी भाषाविज्ञानविदों ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।[1] पश्चिम में ध्वनिविज्ञान के क्षेत्र में विशेष प्रगति १९ वीं सदी से हुई है और उसकी पृष्ठभूमि में प्राचीन भारत में ध्वनि-विज्ञान की प्रगति की व्यवस्थित जानकारी का बहुत बड़ा हाथ था।[2] इस ध्वनिविज्ञान की प्रारम्भिक जानकारी हमारी संस्कृति के एक प्रकार से आदिकाल वैदिक काल में निश्चित रूप से थी। इसका अर्थ यह हुआ कि ध्वनि के क्षेत्र में अपने देश में अध्ययन-विश्लेषण की परम्परा काफी प्राचीन है।

प्रस्तुत लेख में प्राचीन भारतीय ध्वनिवैज्ञानिक अध्ययन को कालक्रमानुसार देना संभव न होगा, क्योंकि कालक्रमता की दृष्टि से हमारे प्राचीन वाङ्मय को लेकर काफी विवाद है।

वैदिक वाङ्मय में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् मुख्य हैं। इन सभी में ध्वनीय अध्ययन-विश्लेषण के संकेत-यत्र तत्र द्रष्टव्य हैं—कहने की आवश्यकता नहीं कि इनका मुख्य विषय कुछ और है, अतः इन ग्रन्थों से ध्वनि के विस्तृत विवेचन की आशा नहीं की जा सकती।

संहिताओं में ऋग्वेद प्राचीनतम और समृद्धतम है। इसमें इन्द्र के शत्रुओं को मृध्र-वाचः (भ्रष्ट-उच्चारण करने वाला) कहा गया है : दनो विश इन्द्र, मृध्र-वाचः (१-१७४-२), जिसका आशय यह है कि उच्चारण की ओर लोगों का पूरी तरह ध्यान था। आगे चलकर उच्चारण के जिस आस्य-प्रयत्न का उल्लेख मिलता है, उसके संकेत भी यहाँ मिलने लगते हैं (१-१६६-११, ५-१८-४ आदि)। दीर्घतमस् औचथ्य वाक् के मूल घटक अक्षर को मानते हैं:

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम, त्रैष्टुभेजन वाकम्
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदा, अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः (१-१६३-२४)

ब्राह्मण ग्रन्थों में गोपथ ब्राह्मण इस दृष्टि से उल्लेख्य है। उसमें 'कः स्वरः' 'कति वर्णाः' 'कत्यक्षरः,' 'किं' स्थानानुप्रदानकरणं'' (१-२४) प्रयोगों से स्पष्ट है कि वर्ण, अक्षर, स्वर, स्थान, अनुप्रदान (प्रयत्नविशेष), रूप आदि का प्रयोग होने लगा था, अर्थात् ध्वनियों के अध्ययन में गहराई आती जा रही थी। ऐतरेय (१२-१३) आदि अन्य ब्राह्मणों में भी इस बात के प्रमाण हैं। ठीक उच्चारण पर इतना बल दिया जाने लगा था कि पूर्वी क्षेत्र के छात्र ठीक उच्चारण तथा ठीक भाषा सीखने कुरु–पांचाल क्षेत्र में आते थे।[3]

आरण्यकों में आते-आते ध्वनियों का अध्ययन इतने विस्तृत रूप में होने लगा था कि विभिन्न आचार्यों में ध्वनियों को लेकर मतभेद का उल्लेख होने लगा था। इस दृष्टि से

ऐतरेय आरण्यक का एक प्रसंग (३-२-१) काफी रोचक है। उसमें आता है कि ह्रास्व मांडूकेय के अनुसार 'ऊष्म' प्राण हैं, 'स्पर्श' अस्थि हैं, 'स्वर' मज्जा हैं तथा 'अंतःस्थ' मांस-लोहित हैं। शाकल्य के अनुसार 'स्पर्श' अस्थि हैं, 'स्वर' मज्जा तथा ऊष्म शरीर के जोड़ हैं। कौंठख्य 'अक्षर' को दिन, 'ऊष्म' को रात तथा 'सन्धि' को रात-दिन की सन्धि मानते हैं। इस प्रसंग में सायण ने 'अक्षर' को 'स्वर' का पर्याय तथा 'ऊष्म' को 'व्यंजन' का पर्याय माना है। कौंठख्य ने ही 'अक्षर' को अस्थि, 'ऊष्म' को मज्जा तथा 'सन्धि' को शरीर के जोड़ भी कहा है।[४] इन सबसे एक निष्कर्ष और निकलता है। उस समय अध्ययन केवल ध्वनिवैज्ञानिक (phonetic) स्तर पर ही नहीं था, वह ध्वनि-प्रक्रिया (phonology) के स्तर पर पहुंच चुका था। वहीं यह भी कहा गया है कि स्वर-रहित व्यंजन बीजरहित वीर्य के समान है।

उपनिषदों में भी ध्वनि-अध्ययन से सम्बद्ध सामग्री यत्र-तत्र मिल जाती है। छांदोग्य उपनिषद् (२-२२-३, ५) में स्पर्श, ऊष्मन्, अंतस्थ, स्वर, घोषवत् का उल्लेख तथा तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में उच्चारण–शिक्षा के संकेत आदि इसके प्रमाण हैं।

यास्क, पाणिनि, पतंजलि आदि आचार्यों में ध्वनि का अध्ययन समवेततः तीन रूपों में है : उच्चारण तथा वर्गीकरण आदि में शुद्ध ध्वनिवैज्ञानिक (Phonetic), संधि आदि रूप में रूपध्वनिग्रामिक (morphophonetic) तथा ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्तियों और उदाहरणों के रूप में ऐतिहासिक (historical phonology)।

किन्तु उपर्युक्त सारे अथवा इस प्रकार के अन्य उल्लेख मात्र उल्लेख हैं, व्यवस्थित अध्ययन नहीं। भारत में ध्वनि के व्यवस्थित अध्ययन के लिए दो प्रकार की पुस्तकों का प्रणयन हुआ। एक 'शिक्षा' कहे जाते हैं तथा दूसरे 'प्रातिशाख्य'। आगे इन दोनों ही पर विस्तार से विचार किया जा रहा है।

शिक्षा ग्रंथ

वेदों के व्यवस्थित अध्ययन के लिए वेदांगों का विकास हुआ था। वेदांग छः थे। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष। शिक्षा का संबंध शुद्ध उच्चारण से था। वेदों के उच्चारण में अशुद्धि न होने देने के लिए शिक्षा ग्रंथों की आवश्यकता का अनुभव हुआ था और परिणामस्वरूप इनकी रचना की गई थी। शिक्षा-ग्रन्थ कुल कितने थे, यह कहना तो कठिन है किन्तु आजकल लगभग ८० शिक्षा-ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें से कुछ हैं : अमरेश शिक्षा, काल शिक्षा, मनस्स्वार शिक्षा, लोमशी शिक्षा, प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा, मांडूक्य शिक्षा, कोहली शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा, नारदीय शिक्षा, अमोघानंदिनी शिक्षा, लध्वमोघानंदिनी शिक्षा, माध्यन्दिन शिक्षा, लघु माध्यन्दिन शिक्षा, शैशिरीय शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, गौतमी शिक्षा, केशवी शिक्षा, केशवी पद्यात्मिका शिक्षा, स्वरांकुश शिक्षा, स्वर भक्तिलक्षणशिक्षा, स्वराष्टक शिक्षा, षोडशश्लोकी शिक्षा, मल्लशर्मा शिक्षा, मनस्स्वार शिक्षा, क्रम संधान शिक्षा, क्रमकारिका शिक्षा, गहलक् शिक्षा, आदिशील शिक्षा, कालनिर्णय शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, भारद्वाज शिक्षा, शौनकीया शिक्षा, वासिष्ठी शिक्षा, वसिष्ठ शिक्षा, मांडवी शिक्षा, अवसान निर्णय शिक्षा, पाणिनीय शिक्षा, पारिशिक्षा, सर्वसम्मत शिक्षा, व्यास-शिक्षा, चारायणीय शिक्षा, श्रमान शिक्षा, विलंस्यम् शिक्षा, आरण्य शिक्षा, पदकारिकारत्न-माला शिक्षा, सिद्धांत शिक्षा, स्वरव्यंजन शिक्षा, कण्व शिक्षा, बोधायन शिक्षा, हारीत शिक्षा,

वाल्मीकि शिक्षा, गालव शिक्षा तथा वर्णोच्चार शिक्षा आदि। इनमें से कई शिक्षा ग्रन्थों के एकाधिक नाम भी मिलते हैं। जैसे लोमश शिक्षा, लोमशी शिक्षा, लोमशीय शिक्षा, वर्ण-रत्नदीपिका, वर्णरत्न, प्रदीपिका, गोतमीया शिक्षा, गौतमी शिक्षा, मांडव्य शिक्षा, मांडवी शिक्षा आदि।

शिक्षा ग्रन्थों का प्रारम्भ उस समय हुआ होगा जब वैदिक संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं रह गई होगी तथा ठीक वेद-पाठ करने में लोगों को कठिनाई होने लगी होगी। ऐसा अनेक संस्कृत ग्रन्थों में आता है कि वेदों का अशुद्ध पाठ करने वाला अधोगति को प्राप्त होता है। इन्द्र-शत्रु की कथा प्रसिद्ध है। उसको बचाने के लिए ही शिक्षा (और प्रातिशाख्य) ग्रन्थ लिखे गये। एक अनुश्रुति के अनुसार प्राचीनतम शिक्षा के लेखक बाभ्रव्य थे। महा-भारत के शांति पर्व (३४२–१०४) में गालवकृत एक प्राचीन शिक्षा-ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। धन्वन्तरि के एक शिष्य का नाम पांचाल बाभ्रव्य गालव मिलता है। इस आधार पर कुछ लोग गालव शिक्षा को ही वह प्राचीन शिक्षा मानते हैं। किन्तु यह शिक्षा वस्तुतः उतनी प्राचीन नहीं है। इसी प्रकार कुछ लोग पाणिनि-शिक्षा को ही मूल मानते हैं।

ऐसी मान्यता है कि शिक्षा ग्रंथ प्रारम्भ में लिखे गये तथा प्रातिशाख्य उसके बाद। इस मान्यता के कई आधार हैं। एक मुख्य आधार तो यह है कि शिक्षा ग्रन्थ मूलतः उच्चारण या ध्वनिविज्ञान विषयक सैद्धांतिक ग्रन्थ (General Phonetics) हैं तथा प्रातिशाख्य प्रायोगिक ग्रंथ (Applied Phonetics) हैं, और सिद्धान्तों के विकास के बाद ही उनका प्रयोग होता है। अतः शिक्षा ग्रंथ पूर्ववर्ती हैं तथा प्रातिशाख्य परवर्ती। दूसरे, सर्वसम्मत शिक्षा (४९) में एक श्लोक आता है :

> शिक्षा च प्रातिशाख्यं च विरुध्येते परस्परम्
> शिक्षैव दुर्बलेत्याहुः सिंहस्यैव मृगी यथा।

अर्थात् यदि किसी विषय में शिक्षा तथा प्रातिशाख्य में विरोध हो तो शिक्षा कम प्रामाणिक मानी जानी चाहिए। इस आधार पर भी कुछ लोगों का कहना है कि शिक्षा ग्रन्थ पुराने हैं, इसीलिए प्रातिशाख्य, जो अपेक्षाकृत अधिक विकसित भाषा-चिंतन का प्रतिनिधित्व करते हैं, अधिक प्रामाणिक माने गये। तीसरे, कुछ प्रातिशाख्यों में शिक्षा ग्रंथों का उल्लेख है। ऐसे ही शैली, पारिभाषिक शब्दावली या उद्धृत नामों के आधार पर भी इस प्रकार के निष्कर्ष निकाले गये हैं।

इन आधारों पर क्रमशः विचार किया जा सकता है। जहां तक सिद्धान्त और प्रयोग का सम्बन्ध है सिद्धान्तों के आधार पर प्रयोग किये जाते हैं और प्रयोगों से सिद्धान्त विकसित होते हैं। हर क्षेत्र में यही होता है। अतः यह तो हो सकता है कि एक-दो शिक्षा ग्रन्थ पहले लिखे गये हों और फिर उनके आधार पर कुछ प्रातिशाख्यों की रचना हुई हो। किन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता कि सारे के सारे प्राप्त शिक्षा ग्रंथ पहले लिख लिये गए और फिर प्रातिशाख्यों की रचना हुई। दूसरे तर्क की व्याख्या एकाधिक प्रकार से हो सकती है। मैं इस बात से बहुत सहमत नहीं हूँ कि उक्त श्लोक से इस बात का समर्थन होता है कि शिक्षा ग्रन्थ पुराने हैं। प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध विशिष्ट शाखाओं से अपेक्षाकृत अधिक है, अतः वेदों के उच्चारण सम्बन्धी विवादों में प्रातिशाख्यों का अधिक प्रामाणिक माना जाना

स्वाभाविक है। जहां तक पारिभाषिक शब्दों, शैली या उद्धृत नामों का प्रश्न है, शिक्षा ग्रंथों के पाठ इतने विकृत हैं, उनमें इतने प्रक्षिप्तांश एवं परिवर्तन हैं कि उनके आधार पर कोई भी निष्कर्ष निकालना बहुत वैज्ञानिक नहीं है। वस्तुतः आज जो शिक्षाएँ उपलब्ध हैं, भाषा और शैली दोनों ही दृष्टियों से वे न तो बहुत प्राचीन हैं और न किसी एक काल की हैं। ऐसी स्थिति में वर्मनीया ऐलेन का शिक्षा ग्रंथों को ८०० ई० पू० से ५०० ई० पू० के बीच का मानना बहुत उपयुक्त नहीं लगता। किसी बहुत प्रौढ़ आधार के अभाव में बहुत निश्चित बात तो नहीं कही जा सकती किन्तु पूरी स्थिति पर विचार करने पर मैं निम्नांकित निष्कर्षों पर पहुंचा हूं। वेदांगों में शिक्षा का नाम आता है, प्रातिशाख्यों का नहीं। साथ ही वैदिक साहित्य में (उदाहरण के लिए तैत्तिरीय आरण्यक में आता है : ओं शिक्षां व्याख्यास्यामः) शिक्षा का उल्लेख है, प्रातिशाख्यों का नहीं, अतः शिक्षा ग्रंथों की परम्परा निश्चित रूप से प्रातिशाख्यों से पुरानी है। स्पष्ट ही वेदांगो, जो छः हैं, वस्तुतः विषय या शास्त्र हैं, कोई एक-दो या अधिक निश्चित ग्रंथ नहीं हैं। आगे चलकर इन विषयों में ग्रंथों की रचना हुई। कहने का आशय यह है कि शिक्षा वेदांग का मूलतः एक विषय या शास्त्र है : ध्वनियों के उच्चारण की शिक्षा या ध्वनियों के उच्चारण का शास्त्र। ऋक्प्राति-शाख्य की विष्णुमित्र व्याख्या में आता है : शिक्षा स्वरवर्णोपदेशकं शास्त्रम्। यह शिक्षा प्रारंभ में केवल अध्यापन द्वारा दी जाती थी किन्तु आगे चलकर इसके लिए कुछ ग्रन्थ भी लिखे गये और वे ही प्रारंभिक या प्राचीन शिक्षा ग्रंथ थे, किन्तु आज जो शिक्षा ग्रंथ हैं वे पुराने ग्रंथ नहीं हैं। संभव है जो शिक्षा ग्रंथ आज उपलब्ध हैं उनमें कुछ पुराने शिक्षा ग्रथों पर आधृत या उनके परिवर्तित रूप हों। यों आज प्राप्त शिक्षाओं में बहुत से लोग पाणिनि शक्षा को सबसे पुरानी मानते हैं। इससे भी आजकल प्राप्त शिक्षा ग्रंथों की परंपरा ५वीं सदी ई० पू० से पहले की नहीं सिद्ध होती। वास्तव में यह शिक्षा पाणिनि द्वारा लिखित (एक टीका शिक्षा-प्रकाश के अनुसार पाणिनि शिक्षा उनके छोटे भाई पिंगल द्वारा लिखी गई थी। पाणिनि के मतानुकूल होने से यह पाणिनि शिक्षा कहलायी) शिक्षा का कदाचित् परिवर्तित परिवर्धित रूप है। वस्तुतः आज प्राप्त सारी शिक्षाएं प्रातिशाख्यों के बाद की हैं।

पूरी स्थिति पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि 'शिक्षा' शब्द तथा शिक्षा ग्रंथों का विकास पांच चरणों में हुआ माना जा सकता है। पहले चरण में 'शिक्षा' शब्द एक सामान्य शब्द के रूप में प्रयुक्त होता रहा होगा, और तब वेदपाठियों आदि की उच्चारण-शिक्षा के लिए 'ध्वनि शिक्षा' या 'वेदशिक्षा' जैसा कोई शब्द प्रयोग में रहा होगा जिसमें 'शिक्षा' एक सहशब्द रहा होगा। दूसरे चरण में शिक्षा पर बल बढ़ जाने के कारण इसके साथ के शब्द का लोप हो गया होगा और पाठशालाओं आदि में उच्चारण विषयक सामान्य शिक्षा के [लिए इसका प्रयोग होने लगा होगा। तैत्तिरीय उपनिषद् (१.२) में तथा अन्यत्र प्राप्त कुछ प्रयोगों से इस बात के संकेत मिलते हैं। तीसरे चरण में 'शिक्षा' शब्द सामान्य ध्वनिविज्ञान का पर्याय हो गया। पारस्कर गृहसूत्र की भूमिका में राम-कृष्ण ने शिक्षा को मूलागम अर्थात् आधारभूत शास्त्र इसी अर्थ में कदाचित् कहा है। इस काल में आकर ही कदाचित् वे शिक्षा ग्रंथ लिखे गये जो प्रातिशाख्यों के लेखन में सिद्धान्त ग्रंथ सिद्ध हुए तथा जो अब प्राप्त नहीं हैं—कम से कम अपने मूल रूप में। और आगे चलकर इन शिक्षा-ग्रंथों के सिद्धान्तों के आधार पर बल

प्रातिशाख्यों की रचना हुई तो सिद्धान्तों के प्रयोग में आने पर उनमें और भी विकास होने लगा और तब चौथे चरण में सैद्धान्तिक दृष्टि से कुछ अविक विकसित शिक्षा-ग्रंथों की रचना हुई। आज उपलब्ध शिक्षा ग्रंथों में कुछ इसी परम्परा के हैं। यह बात बल देने की है कि चौथे चरण में रचित ये शिक्षा ग्रंथ सैद्धान्तिक दृष्टि से कई बातों में पूर्वरचित शिक्षा ग्रंथों एवं प्रातिशाख्यों से आगे थे। इनमें प्रातिशाख्यों में विकसित सिद्धान्तों का भी आधार लिया गया है। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में एक स्थान पर कहा गया है कि शिक्षा के आवार प्रातिशा य हैं। इनमें ऐसी काफी बातें मिलती हैं जो पूर्वरचित शिक्षा ग्रन्थों में कदाचित् नहीं थीं और इसीलिए प्रायोगिक ध्वनिविज्ञान के प्रातिशाख्य-ग्रंथोंमें भी उनका प्रयोग प्रायः नहीं हो पाया। पांचवें चरण में कुछ परवर्ती शिक्षा ग्रन्थों की रचना हुई जो सैद्धांतिक तथा प्रायोगिक दोनों के मिश्रण थे। इस तरह वे शिक्षा और प्रातिशाख्य ग्रंथों के बीच में थे। स्वभावतः इनकी प्रायोगिक बातें प्रायः विशिष्ट वेदों या वेदशाखाओं से सम्बद्ध थीं अतः ये शिक्षा ग्रंथ पूर्ववर्ती शिक्षा ग्रंथों की तरह वेदों से असंबद्ध न होकर विशिष्ट-विशिष्ट वेदों से सम्बद्ध हो गए। इसी परम्परा में कदाचित् कुछ पूर्ववर्ती शिक्षा ग्रंथ भी आगे चलकर कुछ परिवर्तन-परिवर्धन करके विशिष्ट वेदों या वेदशाखाओं से सम्बन्वित कर दिये गये। स्पष्ट ही इस काल में शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों में सैद्धांतिक तथा प्रायोगिक का मूल अन्तर नहीं रह पाया और इसी परम्परा में कुछ प्रातिशाख्यों को भी शिक्षा-ग्रंथ कहा गया। 'अथ आचार्यो भगवान् शौनकः शिक्षा-शास्त्रम् कृतवान्' में विष्णुमित्र ने ऋक्प्रातिशाख्य को शौनक द्वारा रचित शिक्षा शास्त्र कहा है। आज उपलब्ध शिक्षा ग्रन्थों में कुछ, वेदों या वेदशाखाओं से सम्बन्वित हैं। उदाहरणार्थ—

ऋग्वेद—स्वर-व्यंजन शिक्षा, शमान शिक्षा। पाणिनि शिक्षा ऐसे तो किसी विशिष्ट वेद या वेदशाखा से सम्बद्ध नहीं है किंतु उसका एक पाठ ऋग्वेद से सम्बद्ध है। जैसाकि ऊपर मैं संकेत कर चुका हूं, पाणिनि शिक्षा का यह पाठ बाद में उस समय परिवर्तन-परिवर्धन से बना होगा जब कुछ शिक्षा ग्रंथ वेदों या वेदशाखाओं से सम्बद्ध बन रहे थे।

सामवेद—लोमशी शिक्षा, गौतमी शिक्षा, नारदीय शिक्षा।

यजुर्वेद— (क) **कृष्ण**-हारीत शिक्षा, सर्वसम्मत शिक्षा, वाल्मीकि शिक्षा वसिष्ठ शिक्षा, आरण्य शिक्षा, कौहलीय शिक्षा, बोधायन शिक्षा, चारायण शिक्षा, आपिशलि शिक्षा, कालनिर्णय शिक्षा, भारद्वाज शिक्षा, व्यास शिक्षा, पारिशिक्षा, सिद्धान्त शिक्षा, शम्भु शिक्षा। पाणिनि शिक्षा का एक पाठ भी यजुर्वेद की कृष्णशाखा से सम्बद्ध है।

(ख) **शुक्ल**—याज्ञवल्क्य शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, मांडवी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा, केशवी शिक्षा, अमोघा-नंदिनी शिक्षा, माध्यन्दिनी शिक्षा।

अथर्ववेद—मांडूकी।

प्राप्त शिक्षा ग्रंथों को मोटे रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक तो वे हैं जिनमें सैद्धान्तिक सामग्री है, दूसरे वे हैं जिनमें ऐसी सामग्री प्रायः नहीं या कम है। कुछ में तो केवल विशिष्ट प्रकार के शब्दों की सूचियां ही हैं। उदाहरण के लिए पूरी मांडवी शिक्षा में

यजुर्वेद में ओष्ठ्य वर्णों (प, फ, व, भ, म, ड) के शब्दों की सूची है। भारद्वाज शिक्षा, सिद्धान्त शिक्षा तथा शमान शिक्षा आदि में भी विभिन्न प्रकार की सूचियां हैं। यों प्राति-शाख्यों में भी यह बात मिलती है। उदाहरण के लिए ऋक् प्रातिशाख्य के कुछ अध्याय भी प्रायः सूची ही हैं। जहां तक सैद्धान्तिक सामग्री का प्रश्न है शिक्षा ग्रंथों में उच्चारण-स्थान, करण, प्रयत्न : आभ्यंतर और वाह्य तथा उनके भेदोपभेद: अल्पप्राण-महाप्राण, घोष-अघोष, मौखिक-आनुनासिक, स्वर-व्यंजन तथा उनके भेदोपभेद: संयुक्त स्वर, संयुक्त व्यंजन (दो के तथा तीन के), मात्रा तथा उसके भेद (स्वर, मात्रा, व्यंजन मात्रा, ह्रस्व स्वर, दीर्घ स्वर, गुरु स्वर), अवग्रह, विवृति, विराम तथा उसके भेद, संधि तथा उसके नियम एवं भेद, स्वराघात तथा उसके भेदोपभेद, अक्षर (अक्षर तथा अक्षर-विभाजन आदि), ध्वनि, आगम, स्वर भक्ति तथा उसके भेद, वर्तनी से अलग उच्चारण, स्वराघात के अनुसार ह्रस्व-संकेत तथा उच्चारण के गुण-दोष आदि विषयक प्रचुर सामग्री है। प्राचीन ग्रंथों के अनुसार शिक्षा-ग्रंथों का विषये **वर्ण** (स्वर, व्यंजन) **स्वर** (स्वराघात) **मात्रा, बल** (महाप्राण-अल्पप्राण) के लिए प्रयुक्त प्रयत्न, सायण ने इसे मुंह में करण तथा उच्चारण-स्थान द्वारा उच्चारण-वायु के पथ में लग गए अवरोध की मात्रा कहा है) **साम** (लय, लहजा या Tempo, सामवेद का श्रुति मधुर वेद पाठ भी कदाचित् यही है), तथा **संतान** (संधि) का विवेचन है। अनेक पश्चिमी विद्वानों ने इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि आधुनिक पश्चिमी भाषाविज्ञान में ध्वनिविज्ञान-विषयक उन्नति के मूल में काफी बड़ी सीमा तक भारतीय शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रंथों का हाथ है। किंतु इसके साथ ही यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि आज जो शिक्षा ग्रंथ प्राप्त हैं उनके पाठ विभिन्न प्रकार के प्रक्षेपों एव परिवर्तनों आदि के कारण बहुत अधिक भ्रष्ट हैं, इसी कारण उनसे आज उतना अधिक लाभ नहीं उठाया जा सकता जितना उनके मूल रूप में होने पर उठाया जा सकता था।

प्रातिशाख्य ग्रंथ—ऊपर वेदांगों की चर्चा की जा चुकी है। प्रातिशाख्य भी विषय—वस्तु की दृष्टि से शिक्षा तथा व्याकरण का कार्य करते हैं, अतः कुछ लोग इन्हें शिक्षा तथा व्याकरण वेदांगों के अन्तर्गत ही मानते हैं। 'शिक्षा-वेदांग के जो ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं वे विविध दृष्टियों से विचार करने पर बहुत प्राचीन नहीं प्रतीत होते, अपितु बहुत करके प्रातिशाख्यों पर ही आधारित हैं। उदाहरणार्थ 'प्रातिशाख्य-प्रदीप' शिक्षा का नाम लिया जा सकता है, जो शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य पर आधारित है। अतः बहुत से लोग शिक्षा को अलग वेदांग न मान कर शिक्षा-प्रातिशाख्य को छः में एक वेदांग मानते हैं।[५] कुछ लोग इसे वेदों का प्राचीन प्रातिपद-व्याख्या की पद्धति से लिखा व्याकरण मानते हैं। यों, 'प्रातिशाख्य' नाम वेदांग के नामों का वर्णन करने वाले प्रसिद्ध श्लोक[६] में नहीं है। अतः कदाचित् वेदांग से इनका विशेष सम्बन्ध नहीं है।[७]

यास्क के 'सब चरणों के पार्षद'[८] कथन की व्याख्या में अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों ने 'पार्षद' का अर्थ 'प्रातिशाख्य' किया है।[९] कुछ भाष्यकारों ने 'ऋक्प्रातिशाख्य' को 'पार्षद' कहा भी है। इससे भी उपर्युक्त व्याख्या की पुष्टि होती है। 'पार्षद्' का अर्थ है : 'पर्षद् का'। अर्थात् जिसका किसी 'परिषद्' से सम्बन्ध हो। यास्क ने इन 'पार्षदों' का सम्बन्ध 'सब चरणों' से बताया है। काशिकाकार तथा जगद्धर के अनुसार 'चरण' का

अर्थ, वेद की किसी एक शाखा से सम्बद्ध अध्येताओं का समूह है।[१०] अतः चरण' एक शाखा से सम्बद्ध अध्ययन-अध्यापन कराने वाली संस्था के लिए प्रयुक्त प्रतीत होता है तथा प्रत्येक चरण में विविध आवश्यकताओं के अनुसार अनेक 'परिषदें' हुआ करती थीं। इन्हीं का उच्चारण 'पर्षद्' हो गया था। आज की शब्दावली में हम इन्हें 'विद्वत्सभा' कह सकते हैं। इन परिषदों में विचार-विमर्श से सम्बद्ध कोई ग्रंथ तैयार होता था, उसे 'पार्षद' कहा जाता था।[११] 'प्रातिशाख्य' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ भी कुछ ऐसा ही है : प्रत्येक शाखा में होने वाला।[१२] यास्क के 'चरण' के स्थान में इस शब्द में 'शाखा' का प्रयोग हुआ लगता है।

विद्वानों के अनुसार 'प्रातिशाख्य' का अर्थ है प्रति या एक-एक शाखा का। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चारों वेदों की जितनी भी शाखाएं थीं, उतने ही प्रातिशाख्य थे। विण्टर्नित्स, मैक्सम्यूलर और व्हिटनी आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों के मत भी इससे भिन्न नहीं हैं।[१३] इस समय चारों वेदों की लगभग ११० शाखाओं[१४] के नाम विदित हैं, किन्तु प्राप्त प्रातिशाख्यों की संख्या १५ से अधिक नहीं है। साथ ही हमारे पास इस बात के लिये भी कोई प्रमाण नहीं है कि कभी इतने अधिक प्रातिशाख्य थे। इन्हीं बातों के कारण डा० सिद्धेश्वर वर्मा[१५] आदि विद्वानों का कहना है कि इस प्रकार की व्युत्पत्ति ठीक नहीं मानी जा सकती। किन्तु तथ्य यह है कि पुस्तकों का या सम्बद्ध प्रमाणों का न मिलना मात्र ही उपर्युक्त व्याख्या को काटने के लिये पर्याप्त नहीं है। यह भी सम्भावित है कि अनेक प्राचीन भारतीय ग्रन्थों, या ग्रन्थांशों की भांति ये भी नष्ट हो गये हों।

'प्रातिशाख्य' शब्द उपर्युक्त अर्थ में अधिक प्रचलित रहा है,[१६] किन्तु इसे पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं माना जा सकता। मुझे लगता है कि डा० सिद्धेश्वर वर्मा तथा डा० सूर्यकांत आदि विद्वानों ने माधव के उपर्युक्त उद्धरण का जो अर्थ निकाला है कदाचित वह ठीक नहीं है। यहाँ 'प्रति' का अर्थ 'एक-एक' न होकर 'प्रत्येक' है। इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार प्रातिशाख्य का अर्थ हुआ 'वह जिसका सम्बन्ध एक वेद की प्रत्येक शाखा से हो।' दूसरे शब्दों में, प्रातिशाख्य वह है 'जो प्रत्येक या सभी शाखाओं से सम्बद्ध हो।' गोपालयज्वन् ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अपने वैदिकाभरण नामक भाष्य[१७] में प्रातिशाख्य के इस अर्थ की ओर संकेत किया है। अनंतभट्ट ने कात्यायन-कृत वाजसनेयी प्रातिशाख्य का भाष्य लिखते समय भूमिका में इस प्रश्न को उठाया है और वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं।[१८] उनके अनुसार कात्यायन के वाजसनेयी प्रातिशाख्य का सम्बन्ध एक शाखा से न होकर शुक्ल यजुर्वेद की पन्द्रह शाखाओं से है। दुर्ग के निरुक्त के भाष्य[१९] तथा उवट[२०] आदि के संकेतों से भी इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि अब तक जितने भी प्रातिशाख्य प्राप्त हैं वे सम्बद्ध वेद की सभी शाखाओं की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं। पूरी स्थिति पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि जब प्रातिशाख्य बने उस समय वे सम्बद्ध वेद की सभी शाखाओं का प्रतिनिधित्व करते थे, किन्तु प्रातिशाख्यों के बनने के बाद भी शाखाएं और उपशाखाएं विकसित होती रहीं। अतएव कुछ ऐसी शाखाओं का मिलना भी असम्भव नहीं है जिन पर उनके वेद के सम्बंध

में लिखित प्रातिशाख्य की सभी बातें लागू न हों। ऐसी स्थिति में आज अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद-विशेष की सभी या बहुत सी शाखाओं से होता है।

प्रातिशाख्य के वर्ण्य-विषय को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें प्रमुखतः व्याकरण ग्रन्थ[२१] कहते हैं और कुछ लोग ऐसा कहना बिल्कुल भ्रामक[२२] मानते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग प्रातिशाख्यों का आधार व्याकारण मानते हैं और कुछ लोग शिक्षा ग्रन्थ। कुछ लोग दोनों को ही। तत्वतः दोनों ही प्रकार के ग्रन्थों के आधार पर लिखे गये हैं और इनमें व्याकरण और ध्वनि-विज्ञान दोनो ही की बातें हैं। यों वे प्रमुखतः ध्वनि से ही सम्बन्धित हैं। सभी बातों पर विचार करने पर अनुमान लगता है कि ज्यों-ज्यों आर्य दूर दूर तक फैलते गये तथा उनकी भाषा विकसित हो कर वैदिक संस्कृत से दूर हटती गई, वे वैदिक संहिताओं का पूर्व प्रचलित ढंग से शुद्ध पाठ करने में अपने को असमर्थ पाने लगे। किन्तु धार्मिक दृष्टि से यह असमर्थता पाप जैसी थी, इसीलिए विद्वानों ने इस बात की आवश्यकता का अनुभव किया कि कुछ ऐसे नियम बना लिये जांय जिनके आधार पर लोग शुद्ध पाठ कर सकें। प्रातिशाख्य कदाचित् इसी के परिणाम थे।

प्रातिशाख्यों के समय के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। समवेततः विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन और महत्वपूर्ण प्रातिशाख्यों का काल ५०० ई. पू. और १५० ई० पू. के बीच में है। इनमें ऋग्वेद प्रातिशाख्य सम्भवतः सबसे पुराना है[२३] और ऋक्तन्त्र सबसे बाद का।

कुछ लोगों[२४] का यह भी विचार है कि आज जो प्रातिशाख्यों का उपलब्ध रूप है वह मूल रूप नहीं है। यदि इसे माना जाद तो मूल प्रातिशाख्यों का काल कुछ सदी और पीछे चला जाएगा।

'प्रातिशाख्य' शब्द के अर्थ पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् इस मत के रहे हैं कि एक प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद की किसी एक शाखा से है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रातिशाख्यों की संख्या १०० से भी ऊपर रही होगी। किन्तु जैसाकि ऊपर कहा गया है कि एक प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद विशेष की प्रायः एक से अधिक शाखाओं से रहा है। ऐसी स्थिति में यह प्रायः निश्चित है कि प्रातिशाख्यों की संख्या बहुत अधिक न रही होगी। इस समय केवल निम्नांकित प्रातिशाख्य ही प्रमुखतः उपलब्ध हैं[२५]।

(१) ऋग्वेद प्रातिशाख्य (ऋग्वेद का) शौनक
(२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (कृष्ण यजुर्वेद का)–
(३) वाजसनेयी प्रातिशाख्य (शुक्ल यजुर्वेद का)–कात्यायन
(४) सामवेद प्रातिशाख्य (सामवेद का) पुष्पपि (या वररुचि)
(५) अथर्ववेद प्रातिशाख्य (अथर्ववेद का)–[२६]—

पुराने ग्रंथों से कुछ अन्य प्रातिशाख्यों के नामों का भी पता चलता है यद्यपि वे उपलब्ध नहीं हैं, अतः उनके सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है।[२७]

उपर्युक्त सभी ग्रंथों के नामों में 'प्रातिशाख्य' शब्द आया है, किन्तु कुछ ग्रंथ ऐसे भी मिले हैं जिनके नाम में 'प्रातिशाख्य' शब्द नहीं है यद्यपि विषय की दृष्टि से वे भी प्रातिशाख्य हैं। इनमें प्रमुख केवल दो[२८] हैं—

१. ऋक्तन्त्र (सामवेद का)—औदव्रजि
२. चतुरध्यायिका (अथर्ववेद की)–कौत्स(या शौनक)

इन विभिन्न प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध उनसे सम्बद्ध वेदों की किन–किन शाखाओं से है, यह प्रश्न विवादास्पद है और विद्वानों द्वारा विरोधी मत प्रकट किये भी गये हैं।[२९]

ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से प्रातिशाख्यों में प्रमुखतः बोलने की प्रक्रिया, उच्चारण-स्थान, उच्चारणावयव, अक्षर और उसका आधार, ध्वनियों का वर्गीकरण, वर्गीकरण के विभिन्न आधार (स्थान, प्राणत्व, घोषत्व आदि), मात्रा-काल, स्वराघात, स्वरसन्धि, स्वरभक्ति, व्यंजनसन्धि, व्यंजनद्वित्व, ध्वनि-परिवर्तन (आगम, लोप तथा विकार आदि), वैदिक ऋचाओं के पढ़ने का ढंग तथा पढ़ते समय उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के अनुसार हस्त-संचालन आदि का विवेचन मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक दृष्टि से ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत जो जो बातें आती हैं प्रायः सभी न्यूनाधिक रूप में प्रातिशाख्यों में आ चुकी हैं। आज से लगभग अढ़ाई हज़ार वर्ष पहले इन सारी बातों का इतना सुन्दर विवेचन देखकर आश्चर्य होता है। यह वह समय था जब विश्व के और किसी भी देश में इस दिशा में कुछ विशेष हुआ ही नहीं था। सच पूछा जाय तो यूरोप और अमरीका में १९वीं सदी में और उसके बाद ध्वनि के अध्ययन के क्षेत्र में जो उन्नति हुई है उसके पीछे भारत के इन पुराने कार्यों का बहुत बड़ा हाथ है। जब इनमें से कुछ के अनुवाद पाश्चात्य विद्वानों के सामने आये तो उनके लिए इस दिशा में आगे सोचने-समझने और बढ़ने का अवकाश दिखाई पड़ा। मैक्डॉनेल, ब्लूम्फील्ड, येस्पर्सन, जोन्स तथा फर्थ आदि अनेक विद्वानों ने इसे स्वीकार किया है। यहाँ तक कि रागात्मक तत्त्व (Prosodic features) जैसी इस सदी की उपलब्धियों के सूत्र भी इनमें मिले हैं। फर्थ अथर्ववेद-प्रातिशाख्य के सम्बन्ध में लिखते हुए यहां तक कहते हैं कि यह ध्वनि-विज्ञान की बहुत-सी आधुनिक पुस्तकों से कहीं अच्छा है।[३०]

इस प्रकार प्रातिशाख्यों के काल तक भारत में ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन बहुत आगे बढ़ चुका था, इसमें कोई भी सन्देह नहीं। साथ ही ऐसा भी अनुमान है कि आधुनिक भाषा-विज्ञान की तरह उस काल में भी ध्वनि-शास्त्रियों के कई सम्प्रदाय (स्कूल) थे जो अनेक सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दृष्टियों से आपस में मतभेद रखते थे। यहाँ तक कि उनके पारिभाषिक शब्दों में भी (आज ही की तरह) अन्तर था। उदाहरणार्थ अनुनासिक के लिए ऋग्वेद-प्रातिशाख्य 'रक्त' का प्रयोग करता है तो वाजसनेयी-प्रातिशाख्य 'उत्तम' का। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 'अक्षर' का प्रयोग स्वर के लिए भी हुआ है। इसी प्रकार वाजसनेयी-प्रातिशाख्य अघोष को 'जित्,' घोष को 'धि' और महाप्राण को 'सोष्मन्' कहता है। इस प्रकार की विभिन्नताएं इस क्षेत्र में उस काल के चिन्तन की अनेक स्वतन्त्र-परम्पराओं को प्रकट करती हैं जो अपने-आप में ध्वनि-अध्ययन के समुचित रूप से विकसित एवं बहु-चर्चित होने का प्रमाण है।

ध्वनि-विवेचन की दृष्टि से प्रातिशाख्यों में ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य तथा अथर्ववेद-प्रातिशाख्य अधिक अच्छे हैं।

प्रातिशाख्यों पर प्राचीन और अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने अनेक रूपों में कार्य किया है जिनमें ऋग्वेद-प्रातिशाख्य पर उवट, मैक्समूलर, रेगनियर, पशुपति शास्त्री तथा मंगलदेव शास्त्री ने, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर गार्ग्य, सोम, महेश, ह्विटनी, राजेन्द्रलाल मित्र, वी० वी० शर्मा, रंगाचार्य तथा आर० एस० शास्त्री ने, शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य पर उवट, अनंत भट्ट, रामचन्द्र बालकृष्ण, वेबर तथा वी० वी शर्मा, अथर्ववेद-प्रातिशाख्य पर सायण, रॉथ, ह्विटनी, लैनमैन, लिंडनाड, सूर्यकान्त शास्त्री तथा वी० बी० वी० शास्त्री और ऋक्तन्त्र व्याकरण पर बर्नेल और सूर्यकान्त शास्त्री प्रमुख रूप से उल्लेख्य हैं। उवट और सायण आदि पुराने विद्वानों के कार्य भाष्य रूप में हैं और आधुनिक विद्वानों के कार्य संपादन, अनुवाद तथा तुलनात्मक अध्ययन आदि रूपों में।

शिक्षा-ग्रन्थों और प्रातिशाख्यों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि दोनों में कौन-से प्राचीनतर हैं। इस क्षेत्र में काम करने वाले अनेक विद्वानों[31] का मत लगभग यही है कि शिक्षा-ग्रंथ प्राचीन हैं। साथ ही लोगों का यह भी अनुमान है कि शिक्षा-ग्रंथों के आधार पर ही प्रातिशाख्य बने; पर यथार्थता यह है कि प्रातिशाख्य और शिक्षा-ग्रन्थ आज जिस रूप में उपलब्ध हैं उनके आधार पर इस प्रकार के निष्कर्ष निकालना बहुत वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। इनका पाठ इतना भ्रष्ट है और इनमें इतने अधिक परिवर्तन-परिवर्धन हुए हैं कि कहीं तो इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि शिक्षा के कुछ अंशों में आधार प्रातिशाख्य हैं[32] और कहीं इस प्रकार के प्रमाण मिलते हैं कि प्रातिशाख्य के आधार शिक्षा-ग्रंथ हैं।[33] दूसरे शब्दों में, आज के उपलब्ध शिक्षा और प्रातिशाख्य ग्रंथों में मुक्त रूप से आदान-प्रदान हुए हैं, और कहीं-कहीं इसी कारण उनमें अन्तर भी बहुत कम या प्रायः नहीं के बराबर है। यों यदि शिक्षा को 'सामान्य' ध्वनि-विज्ञान (General phonetics) और प्रातिशाख्य को 'प्रायोगिक ध्वनि-विज्ञान' (Applied phonetics) माना जाय, जैसाकि उचित भी है, तो यह अनुमान लगाना असंगत न होगा कि सिद्धांत किसी न किसी रूप में आधार है और प्रयोग का स्थान काल की दृष्टि से बाद का है। संभव है पाठ-विज्ञान के आधार पर सभी शिक्षा और प्रातिशाख्य ग्रन्थों के अपेक्षाकृत शुद्ध संस्करण सामने आने पर इस प्रश्न पर कुछ और प्रकाश पड़ सके।

संदर्भ

1. ...The expressions of ancient phonetic thought in the west have little to re-pay our attention or deserve our respect, whereas Indian Sources as ancient and even more ancient are infinitely more rewarding–W. S. Allen, Phonetics in Ancient India, 1953, London, p. 2.
2. एम. बी. एमेन्यू: 'भारत और भाषाविज्ञान'; भोलानाथ तिवारी आदि द्वारा सं. 'भारतीय भाषाशास्त्र की भूमिका', पृ. 465.

3. A.A. Macdonall. 'A History of Sanskrit Literature, Delhi, 1962p. 175
4. इस पूरे अंक का कीथ का अनुवाद जिसके आधार पर सिद्धेश्वर वर्मा (The phonetic observations of Indian Grammarian, Delhi, 1961, p. 3) ने इस प्रसंग का उल्लेख किया है, वहुत ठीक नहीं हैं। द्रष्टव्य है ऐतरेय आरण्यक के आनन्द आश्रम संस्करण के पृ. 241-43.
५. द्र. भारद्वाज-शिक्षा, १९३८ ई०, पूना, भूमिका, पृष्ठ १।
६. शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दसां चयः।
ज्योतिषामयनं चैव वेदांगनिषरेव तु ॥
७. द्र, गोवेन. 'दी हिस्ट्री आफ् इण्डियन् लिट्रेचर', न्यूयार्क, पृष्ठ १५०।
८. द्र० निरुक्त १/१७: पद प्रकृतीनि सर्व-चरणानां पार्षदानि।
९. दुर्ग-टीका १/१७: पार्षदानि = स्व-चरण-पर्षद्येव यैः प्रतिशाखा-नियममेव पदावग्रह-प्रगृह्या-प्रग्रह्या क्रमसंहिता-स्वर-लक्षणमुच्यते, तानीमानिप्रातिशाख्यानीत्यर्थः। तथा जहांगीरदार, एन इण्ट्रोडक्शन टू दी कम्पेरेटिव फिलालोजी आफ इण्डो-आर्यन लैङ्ग्वेजेज्, पृष्ठ १५५, और डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा, फोनेटिक आब्जर्वेशंस्........... । पृष्ठ २१, एवं माण्डूकी शिक्षा (प्रथम संस्करण), भूमिका, पृष्ठ ७।
१०. द्र० काशिका २/४/३: चरण-शब्दः शाखा-निमित्तकः पुरुषेषु वर्तते। तथा जगद्धर, मालती-माधवम्, निर्णय सागर-सं० १९२६ ई०, प्रस्तावना, पृष्ठ ६१। चरण शब्दः शाखा-विशेषाध्ययन-परैकतापन्न-जन-संघ-वाची।
११. विशेषार्थ द्र० मैक्सम्यूलर, ए हिस्ट्री ऑफ ऐंरयण्ट संस्कृत लिट्रेचर, चौखम्बा, १९६८ ई०, पृष्ठ ११०-७ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल। पाणिनि-कालीन भारतवर्ष, चौखम्बा, २२०६ वि, पृष्ठ २८७-२९४, शिवनारायण शास्त्री, 'निरुक्त के पांच अध्याय', नेशनल-पब्लिशिंग हाउस, १९७२ पृष्ठ १४३-५।
१२. सिद्धान्त कौमुदी, सम्पादक-गाडगील, वम्बई, १९०४ ई० पृ० २४९: प्रतिशाखं भवं = प्रातिशख्यम्।
१३. द्र० हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर, भाग I, कलकत्ता, १९२४ पृष्ठ २८४, हिस्ट्री आफ ऐरयण्ट संस्कृत लिट्रेचर, लन्दन, १८६० ई० पृ० III। जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, वॉ० ७, पृष्ठ ३४२, ५८०।
१४. ऋग्वेद की २७, यजुर्वेद की ४१, सामवेद की १७, अथर्ववेद की ९। इनके अतिरिक्त लगभग १६ शाखायें ऐसी हैं, जिनको निश्चित रूप से किसी एक वेद के साथ सम्बद्ध कर पाना कठिन है।
१५. द्र० फोनेटिक आब्जर्वेशंस, पृष्ठ १२।
१६. द्र० आप्टे 'संस्कृत इंगलिश कोष,प्रथम संस्करण तथा 'हिन्दी-शब्द-सागर', प्रथम संस्करण, आदि में प्रातिशाख्य शब्द।
१७. द्र० वैदिकाभरण, ४/११ (हस्तलिखित प्रति)।
१८. द्र० वाजसनेयी प्रातिशाख्य; सं० वेंकटराम शर्मा, मद्रास, १९/३४, पृ० २।
१९. निरुक्त १/१७ पर दुर्ग वृत्ति।
२०. ऋग्वेद-प्रातिशाख्य ७/३३/५४।
२१. वैदिकाभरण तथा अथर्ववेद-प्रातिशाख्य में यह वात स्पष्ट रुप से कही है।
२२. गोल्डष्टकर, पाणिनि-हिज प्लेस इन संस्कृत लिट्रेचर, १९१४, पृष्ठ १९५-७।
२३. वूहर्स ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य को प्राचीनतम माना है, यद्यपि अव यह मत मान्य नहीं है।
२४. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, वेल्वलकर, पूना १९१५, पृष्ठ ४।
२५. सभी प्रातिशाख्यों के लेखकों के नाम ज्ञात नहीं है। जिसके ज्ञात हैं सामने दे दिये गये हैं। कुछ के आगे दो नोम दिये गये हैं। कोष्ठक के वाहर के नामों को लेखक अधिक प्रामाणिक मानता है।

२६. इसके दो रूप उपलब्ध हैं। एक श्री विद्यार्थी द्वारा, दूसरा डा० सूर्य कांत शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है। ह्विटनी ने 'चतुरध्यायिका' को ही अथर्ववेद प्रातिशाख्य के नाम से १८६२ ई० में प्रकाशित किया था।

२७. आश्वलायन प्राति०, चारायणीय प्राति०, सात्यमुग्रि प्राति० गौतमप्राति, तथा वास्कल प्राति०।

२८. अन्यों में सामतन्त्र, अक्षरतन्त्र, लघुऋक्तन्त्र, निदानसूत्र, पंचविज्ञानसूत्र, प्रतिज्ञासूत्र तथा भाषिकसूत्र आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

२९. ऋग्वेद प्रातिशाख्य का सम्बन्ध कुछ लोग केवल 'शाकल' शाखा से मानते हैं, और कुछ लोग शाकल तथा वाष्कल दोनों से। इसी प्रकार कुछ लोग वाजसनेयी प्रातिशाख्य का सम्बन्ध मात्र माध्यन्दिनी शाखा से मानते हैं, पर अनन्तभट्ट आदि कुछ लोग पन्द्रह शाखाओं से मानते हैं।

३०. Archivum Linguisticum, वाल्यूम १, पृष्ठ १०८

३१. एलेन, फोनेटिक्स इन एन्शेंट इण्डिया, पृष्ठ ५, सिद्धेश्वर वर्मा, द फोनेटिक आब्ज, पृष्ठ २१, मनमोहन घोष, पाणिनीय शिक्षा, पृष्ठ ३९ (भूमिका) दीक्षित तथा अय्यर, भारद्वाज शिक्षा, पृष्ठ। (भूमिका) भगवद्दत्त, माडूकी शिक्षा, पृष्ठ १२ (भूमिका)।

३२. व्यास शिक्षा 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' का संक्षिप्त संस्करण सा है।

३३. कात्यायन प्रातिशाख्य में कुछ बातें याज्ञवल्क्य शिक्षा से ली गई हैं।

□□□

१४
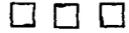
वाक्य तथा वाक्यार्थ सम्बन्धी भारतीय मत

१.१. भारत में भाषा-चिन्तन के क्षेत्र में वैयाकरणों के अतिरिक्त पूर्व-मीमांसकों तथा नैयायिकों का भी बड़ा योगदान रहा है। किन्तु वैयाकरणों से भिन्न अन्य व्यक्तियों का विवेचन वाक्य की रचना के नियम खोजने पर नहीं किन्तु वाक्य के द्वारा अर्थाभिव्यक्ति की प्रक्रिया पर केन्द्रित है। तात्त्विक रूप से नैयायिक तथा मीमांसक व्याकरण-सम्प्रदाय से सहमत हैं, अर्थात् जहाँ तक पदनिष्पत्ति अथवा वाक्य-निष्पत्ति का प्रश्न है, वे व्याकरण का सहारा लेते हैं। किंतु वाक्यगत अर्थ-संरचना के बारे में तथा वाक्यार्थ प्रतिपादन की शैली के बारे में इनमें परस्पर मतभेद हैं।[1]

१.२. वैयाकरण वाक्य में प्रयोग—योग्य शब्द-रूप को 'पद' नाम देते हैं, यह या तो 'सुबन्त' होता है या 'तिङन्त' (अर्थात् संज्ञा के समकक्ष शब्द और क्रिया-रूप के समकक्ष शब्द) यह ध्यान देने योग्य है कि अव्ययों पर भी व्याकरण 'सुप्' प्रत्यय लगाकर उसका लोप कर देता है जिससे वे सुबन्त होकर वाक्य में प्रयोग-योग्य 'पद' बन जाते हैं।

१.३. नैयायिक किसी भी अर्थ-संकेतक भाषायी अंश को 'पद' नाम देते हैं। 'अर्थ' से तात्पर्य शब्द-कोशीय अर्थ तथा व्याकरणिक प्रकार्य दोनों से है। आधुनिक भाषाविज्ञान में जो 'मॉर्फ' (Morph) या रूप कहलाता है, न्यायशास्त्र में उसे ही 'पद' कहा गया है। नैयायिकों की दृष्टि में पद-समुच्चय —'पद-समभिव्याहार'—ही वाक्य है। पदों में परस्पर अन्वय विशेष-आकांक्षा, योग्यता, सन्निधिनामक तीन तत्त्वों या लक्षणों के आधार पर निर्धारित किया जाता है। क्रियापद की कर्ता से आकांक्षा होती है, अतः अन्वय होता है। 'पानी और सींचना'-दोनों में योग्यता-सम्बन्ध है, अतः अन्वय होता है। 'आग' और 'सींचना' दोनों में योग्यता-सम्बन्ध सम्भव नहीं है, अतः अन्वय नहीं हो सकता है। वाक्य में पदों का एक विशेष त्वरा या गति के साथ उच्चारण किया जाय तभी अन्वय होता है। एक पद का उच्चारण कर रुक जायें, फिर कुछ देर बाद दूसरे पद का उच्चारण करें तो पदों में अन्वय सम्भव नहीं होता है। इसे ही 'सन्निधि' कहते हैं।

वाक्य में स्थित प्रथम विभक्ति वाला पद—जोकि उद्देश्य होता है—वाक्यार्थ में विशेष्य या प्रकारी होगा, वाक्य के शेष सभी अंश उसके विशेषण या प्रकार होंगे। प्रत्येक पद तथा प्रत्येक अर्थखण्ड का सम्बन्ध पहचानते हुए पदों के परस्पर अन्वय के आधार पर अर्थखण्डों के परस्पर सम्बन्ध तत्त्वों को पहचानना ही 'वाक्यार्थ' समझना है। इसे ही 'शाब्द-बोध-प्रक्रिया' नाम भी दिया जाता है। यह एक प्रकार का 'अनुमान' ही है।

आधुनिक गणितीय सिद्धान्त में जिसे सम्बन्ध तत्त्व (Relation) कहते हैं, उसी पर आधारित है नैयायिक मतानुसार वाक्यार्थ-बोध प्रक्रिया। इसके मूलभूत सिद्धान्त को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है:—

(१) वाक्य गत प्रत्येक शब्द के प्रकृति और प्रत्यय—दोनों पदों को पृथक् कर उनके अर्थ का विवेचन करना है।

(२) प्रकृति और प्रत्यय के जो अर्थ होंगे उनका परस्पर 'सम्बन्ध' होगा और प्रत्यय के अर्थ का सम्बन्ध आगे की प्रकृति के अर्थ के साथ होगा। इसे निम्न प्रकार से दिखा सकते हैं:—

वाक्य = शब्द + शब्द

= (प्रकृति + प्रत्यय) + (प्रकृति + प्रत्यय)

[(अर्थ + सम्बन्ध) + (अर्थ + सम्बन्ध) + (अर्थ + सम्बन्ध) + (अर्थ + सम्बन्ध)]

(३) इस प्रकार के सम्बन्ध-स्थापन को 'अन्वय' नाम दिया जाता है। वाक्य में जो शब्द प्रथमाविभक्त्यन्त हो, अर्थात् कर्म, करण आदि अन्य कारकों से युक्त नहीं हो, वही 'मुख्य' विशेष्य माना जाता है, शेष शब्दों का अन्वय उस विशेष्य के साथ माना जाता है। जैसे **'राम किताब पढ़ता है'**—इसमें 'राम' विशेष्य होगा, अन्य सभी शब्दों का सम्बन्ध उसके साथ होगा।

(४) यदि दो शब्द 'समानाधिकरण' हों—अर्थात् एक ही अर्थ का संकेत देने वाले हों और एक ही विभक्ति वाले हों—उनमें 'अभेद-सम्बन्ध' होगा—जैसे 'नीला कमल'। अन्य स्थानों में भेद-सम्बन्ध होगा।

(५) 'भेद-सम्बन्ध' अनेक प्रकार का होता है। सम्बन्ध दो अर्थ या वस्तुओं का होता है। वास्तव में वस्तुगत किसी धर्म का ही सम्बन्ध होता है। यह वस्तुगत धर्म 'सम्बन्ध' की दृष्टि से निश्चित किया जाता है। जिनका 'सम्बन्ध' होता है उन्हें 'सम्बन्धी' कहते हैं।

जैसे—'भूतल पर घड़ा है' इस वाक्य में

भूतल = वस्तु, घड़ा = वस्तु

पर = अधिकरणत्व (घड़ा = आधेय)

अर्थात् 'पर'—यह संकेत दे रहा है कि भूतल 'अधिकरण' है और घड़ा 'आधेय'।

'अधिकरणता' भूतल का धर्म है

'आधेयता' घड़े का धर्म है।

अधिकरणता— भूतल में वर्तमान है

आधेयता—घड़े में वर्तमान है।

अतः भूतलवर्ती अधिकरणता + घटवर्ती आधेयता

(६) स्वयं सम्बन्ध किसी वस्तु में किस सम्बन्ध से रहता है, यह प्रश्न होगा। किसी वस्तु में सम्बन्ध **स्वरूप संबंध** से स्थित रहता है।

(७) भिन्न वस्तुओं में स्थित दो धर्म परस्पर **निरूप्य-निरूपक संबंध** में रहते हैं। 'निरूपण' माने स्पष्ट करना, अन्य वस्तुगत धर्म को स्पष्ट करने वाला किसी वस्तु का धर्म 'निरूपक' होगा और उसके द्वारा स्पष्ट किया जाने वाला धर्म 'निरूप्य'। जैसे—घट में जो

'आधेयता' नामक धर्म है वह भूतल-गत अधिकरणता के द्वारा 'निरूप्य' है। 'निरूप्य' को ही 'निरूपित' भी कह सकते हैं—भूतलवर्ती अधिकरणत्व 'निरूपक' है।

घटवर्ती आधेयता 'निरूप्य' या 'निरूपित' है। वाक्य का अर्थ हुआ—

भूतल पर घड़ा—'भूतलवर्ती' अधिकरणत्व के द्वारा निरूपित आधेयता घटवर्ती।

(८) एक और सम्बन्ध होता है **आश्रयता संबंध**। धर्म और धर्मी का आश्रय-संबंध होता है। जैसे अधिकरणत्व का भूतल के साथ आश्रय-संबंध है। भूतलवर्ती अधिकरणत्व को— 'भूतलाश्रिताधिकरणत्व' कह सकते हैं।

(९) एक ही वस्तु में दो धर्म हों तो उन धर्मों का परस्पर संबंध होता है।

जैसे घट में 'घटत्व' है, 'आधेयता' भी है।

इन में जो सम्बन्ध होता है उसे **अवच्छेद्य-अवच्छेदक भाव संबंध** कहते हैं। अवच्छेदक अवच्छेद करके, अलग करके स्पष्ट करने वाला। आधेयतानामक धर्म तो किसी भी वस्तु में हो सकता है, यहां वह 'घट' में है।

अर्थात् घट में स्थित 'घटत्व' के द्वारा 'आधेयता' अन्य वस्तुगत आधेयता से पृथक् की जाती है। अतः 'घटत्व' अवच्छेदक है और घटगत आधेयता 'अवच्छेद्य' है। 'अवच्छेद्य' को 'अवच्छिन्न' भी कह सकते हैं।

इस प्रकार अर्थ यह हुआ—

'भूतल पर घड़ा' = भूतलत्वावच्छिन्न अधिकरणत्व से निरूपित घटत्वावच्छिन्न घटवर्ती आधेयता।

इसे उलट कर यों कह सकते हैं—

'घटत्व अवच्छिन्न आधेयता निरूपक भूतलावच्छिन्न अधिकरणता'

(१०) जिस वस्तु का अभाव बताया जाय उस वस्तु को अभाव का प्रतियोगी कहते हैं। अतः वस्तु तथा उसके अभाव में **प्रतियोगिता संबंध** होता है।

(११) वाक्य में अर्थ संकेतित होते हैं, उनमें सम्बन्ध की दृष्टि से निम्नलिखित धर्म होंगे:—

१. एक अर्थ 'विशेष्य' हो तो दूसरा अर्थ 'प्रकार' होगा। विशेष्यत्व : प्रकारत्व

२. एक अर्थ 'विषय' हो तो दूसरा अर्थ 'विषयी' होगा। यह केवल ज्ञान के प्रसंग में होता है। 'भूतल पर घड़ा' यह ज्ञान हमें हुआ। तो इस ज्ञान का विषय है 'भूतलवर्ती घट।' अतः घट में 'विषयत्व' नामक धर्म है और ज्ञान 'विषयी' हुआ—ज्ञान में 'विषयित्व'

विषयत्व : विषयित्व

३. विशेष्य और उसके प्रकार (विशेषण) में 'संसर्ग' (सम्बन्ध) होता है

विशेष्य में 'विशेष्यता' है, संसर्ग में संसर्गता है,

विशेष्यता : संसर्गता

४. प्रकार (विशेषण) बनने वाले में 'प्रकारता' है और 'संसर्ग' में संसर्गता है।

प्रकारता : संसर्गता

५. 'विशेष्यत्व : प्रकारत्व' के समान 'प्रकारित्व : प्रकारत्व' बनेगा

'संसर्गत्व तथा विशेष्यत्व'
संसर्गत्व तथा प्रकारता' | के समान
संसर्गत्व : संसर्गित्व

६. 'नीला कमल' में 'नील' प्रकार है।

'कमल' विशेष्य, 'नीला कमल'—ऐसा ज्ञान हुआ, तो नीलवर्ती प्रकारता का तथा कमलवर्ती विशेष्यता का ज्ञान हुआ।

ज्ञान विषयी है और उसका विषय है—**नीलवर्ती प्रकारता निरूपित कमलवर्ती विशेष्यता।** 'कमलवर्ती विशेष्यता' की दृष्टि से ज्ञानवर्ती 'विशेष्यिता' भी होती है। अतः

विशेष्यता : विशेष्यिता

७. पहले ही 'अच्छेद्यत्व और अवच्छेदकत्व' का तथा 'आधेयत्व और अधिकरणत्व' का उल्लेख कर चुके हैं।

८. किसी वस्तु का जब अभाव बताया जाता है तब उस वस्तु के अभाव का प्रतियोगी माना जाता है। यह **प्रतियोगिता** नामक सम्बन्ध है। जिस स्थान या काल में अभाव हो वह अभाव का अनुयोगी माना जाता है। यह **अनुयोगिता संबंध** है।

९. ये सभी सापेक्ष धर्म हैं। इनमें परस्पर जो सम्बन्ध होगा वह 'निरूप्य-निरूपक' सम्बन्ध होगा।

अवच्छेद्य–अवच्छेदक संवंध　　प्रकारत्व : विशेष्यत्व
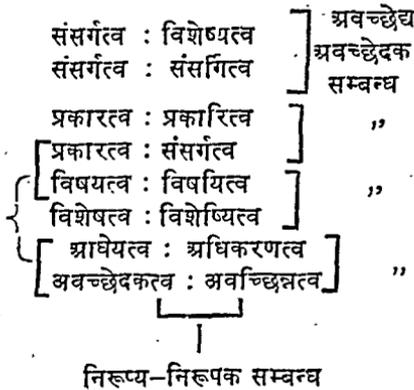
एक ही वस्तु में स्थित अनेक धर्मों का परस्पर जो संवंध होता है वह 'अवच्छेद्य-अवच्छेदक' है। भिन्न वस्तुओं में स्थित धर्मों का जो सम्बन्ध है वह निरूप्य–निरूपक है।

'भूतल पर घड़ा'	इस वाक्य से अनेक अर्थों का वोध इस प्रकार होता है :—	
भूतल–अधिकरण	घड़ा–आधेय	ज्ञान–विषय : विषयी
,, प्रकार	,, प्रकारी	
,, प्रकार	,, विशेष्य	
,, संसर्ग	,, संसर्गी	

भूतलवर्ती भूतलत्व अवच्छेदक है और भूतलवर्ती अधिकरणत्व आदि धर्म 'अवच्छेद्य' अथवा 'अवच्छिन्न' है। घटवर्ती घटत्व 'अवच्छेदक' है और घटवर्ती आधेयत्व आदि 'अवच्छेद्य' या अवच्छिन्न है।

१.६ नैयायिकों की वाक्यार्थ करने की प्रक्रिया का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया। इसमें वाक्यगत अर्थ को वस्तु-जगत् का रूप माना गया है। शब्द से अर्थ की व्यक्ति, जाति तथा आकृति तीनों का बोध इसमें माना जाता है, याने 'गाय' कहने पर—'गाय' व्यक्ति, (वक्ता जिसका उल्लेख करना चाहता है उस व्यक्ति का), गोत्व जाति (सभी गाय व्यक्तियों में निहित अनुगत सामान्य धर्म) तथा गो-आकृति (जाति तथा व्यक्ति का सम्बन्ध)-तीनों का बोध होता है। अतः वाक्यगत विभिन्न पदों से संकेतित पदार्थों में विविध प्रकार का सम्बन्ध रहता है, जिसका बोध वाक्यगत अन्वय के द्वारा संकेतित होता है।

२.१ मीमांसाशास्त्र में भी वाक्य-विश्लेषण की अपनी पद्धति है। 'वाक्य' पर केन्द्रित शास्त्र होने के कारण मीमांसा को वाक्य-शास्त्र नाम दिया गया है। इसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :

२.२ मीमांसाशास्त्र ने व्याकरण-सम्प्रदाय के सिद्धान्त को मान लिया है। अर्थात् सुबन्त तिङन्त पदों से वाक्य की रचना होती है। वाक्य में क्रियारूप (तिङन्त) प्रधान अंश होता है और वाक्यगत अन्य शब्दों का क्रिया रूप के साथ अन्वय होता है।

२.३ विभिन्न कारक, क्रिया के साथ अन्य वाक्यांशों के विद्यमान, सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं।

२.४ शब्दों का अर्थ जाति-रूप है, व्यक्ति का बोध 'अर्थापत्ति प्रमाण' द्वारा होता है। याने, बिना व्यक्ति के जाति नहीं होती, अतः जाति के साथ नियमित रूप से व्यक्ति भी आता है।

२.५ वाक्य में प्रधान है क्रियांश। किंतु वैयाकरण धातु के द्वारा संकेतित 'व्यापार' को सर्वविशेष मानते हैं। जबकि मीमांसक इससे भिन्न विचार रखते हैं। वे धातु पर लगे प्रत्यय में दो तत्त्व मानते हैं, एक 'आख्या तत्त्व' जोकि सभी क्रियारूप साधक प्रत्ययों में समान रूप से विद्यमान रहता है, दूसरा तत्त्व है उस विशेष प्रत्यय का। 'आख्यात' का सामान्य अर्थ है व्यापार। वाक्य वही है जो कुछ विधान करे, अर्थात् जो 'ऐसा करो,' 'वह जाये' इत्यादि प्रकार से 'कार्य' का निष्पादन करने वाला हो। यह कार्य ही वाक्य का मुख्यांश है। अतः यह कार्य करना है, ऐसी जो भावना है वही वाक्य का मुख्यांश है। क्या कार्य है, किस प्रकार से करना है, किस साधन से करना है—इन तीन अंशों की प्राप्ति वाक्य के अन्यांशों से होती है।

२.६ यहाँ पर मीमांसकों में ही कुछ मतभेद है। उपर्युक्त अनुच्छेद में यह कहा गया है कि केवल कार्यपर वाक्य ही अर्थवान् होते हैं। जबकि एक दूसरा मत है जो यह मानता है कि केवल कार्यपर वाक्य ही नहीं, किंतु सिद्धपर वाक्य भी अर्थवान् हो सकते हैं, उदाहरण के लिए—'काशी में गंगा बहती है, यह वाक्य है, जिससे श्रोता में ऐसी कोई भावना उत्पन्न नहीं होती कि उसे कुछ करना है। इसे सिद्ध-अर्थ-बोधक या सिद्ध पर

वाक्य कहते हैं। इन मतों के प्रवर्तकों के नाम से इन्हें प्राभाकरमत और भाट्टमत कहा जाता है।

२.७ 'इतरान्विते शक्तिः' इस मीमांसा-सूत्र की दो प्रकार से व्याख्या की गई है। कुछ लोों ने–'इतर' शब्द से तात्पर्य 'कार्यत्व' माना। कार्यत्व से अन्वित अर्थ में ही वाक्यगत पदों की शक्ति है। कार्यपर वाक्य मत की जो बात ऊपर कही गई है, वह इसी का सार है। किन्तु अन्य लोगों ने इसकी यह व्याख्या की है।

'इतर' से तात्पर्य है 'अन्य पदार्थ,' उसके साथ के संसर्ग से विशिष्ट अर्थ में पदों की शक्ति है। जैसे 'पुस्तक ले आओ' यह एक विधायक वाक्य है। इसमें अर्थबोध निम्न प्रकार से होगा :—

पुस्तक=समवाय सम्बन्ध से युक्त पुस्तक।

(पुस्तक पर स्थित) शून्य प्रत्यय=(कर्मकारक)=आधेयत्व संबंध से युक्त कर्मत्व।

ले आ=(धातु) निरूपकता संबंध से युक्त लाने की क्रिया। ओ=(प्रत्यय) अनुकूलता संबंध से युक्त कार्य या व्यापार। वाक्यार्थ=समवाय संबंध द्वारा पुस्तकत्व से युक्त पुस्तक में आधेयता संबंध द्वारा स्थित कर्मत्व

उस कर्मत्व को निरूपित करने वाला जो 'ले आना' है, उसके अनुकूल व्यापार, व्यक्तिनिष्ठ है।

इसी को अन्विताभिधानवाद नाम दिया गया है।

इसके विपरीत 'अभिहितान्वयवाद' है जिसके अनुसार प्रत्येक पद का अर्थ पहले जान लिया जाता है, उसके बाद अन्यान्य अर्थों का परस्पर संबंध स्थापित किया जाता है। जैसे

'पुस्तक ले आओ'

पदों का अर्थ पुस्तक=पुस्तक नाम की वस्तु

(पुस्तक+)(शून्य प्रत्यय)=कर्मत्व

ले आ (धातु)=ले आने (एक प्रदेश के संसर्ग से हटाकर अन्य देश के संसर्ग में करने का काम)

(–ओ)=व्यापार

(तुम)=कर्ता=व्यापार का आश्रय

पदों के अर्थों का अन्वय :—

पुस्तक नाम की वस्तु+पुस्तकत्व से युक्त है

कर्मत्व+पुस्तकत्व से युक्त पुस्तक में स्थित है।

ले आना+पुस्तकत्व से युक्त पुस्तक में कर्मत्व है।

इसको निरूपित करने वाला धात्वर्थफल है।

+ओ+पुस्तकत्व से युक्त पुस्तक में कर्मत्व को निरूपित करने वाले धात्वर्थफल–'लाने' के अनुकूल व्यापार है।

तुम+पुस्तकत्व से युक्त पुस्तकवर्ती कर्मत्व के निरूपक लाने के अनुकूल व्यापार (सामने के) व्यक्ति में स्थित है। अर्थात् 'तुम' शब्द सामने स्थित व्यक्ति के लिए कार्यप्रेरक भावना बनाता है।

नैयायिक अन्वय को वाक्यगत 'आकांक्षा का परिणाम मानते हैं। मीमांसक वाक्य के एक विशेष अर्थ के रूप में अन्वय को मानते हैं। इस अन्वय को पहचानने में 'तात्पर्य' नामक वृत्ति सहायक होती है। तात्पर्य के ज्ञान के बिना वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। याने पद तथा पदार्थ के संबंध में अभिधाशक्ति और लक्षणाशक्ति-(एवं व्यंजना शक्ति) के अतिरिक्त एक अन्य तात्पर्यवृत्ति को वाक्य के स्तर पर स्वीकार किया गया है। नैयायिक इस तात्पर्य ज्ञान को केवल लक्षणा शक्ति को समझने अथवा श्लेषयुक्त शब्दों का अर्थ निश्चित करने में सहायक मानते हैं। 'तात्पर्य' का अर्थ है तत्प्रतीति-इच्छा-याने वक्ता के मन में श्रोता की जिस प्रकार की प्रतीति या बोध की इच्छा है—वही तात्पर्य है। वक्ता के मन की यह इच्छा कि सुनने वाला अमुक शब्द का अर्थ यह ले,यही तात्पर्य है। इस तात्पर्य का संकेत अनेक कारणों से प्राप्त होता है। जैसे 'संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल आदि।

४. वेदान्त दर्शन ने भी 'तात्पर्य वृत्ति' को स्वीकार किया है और तात्पर्यग्राहक संकेत के रूप में कुछ और लक्षणों का निर्देश दिया है, जो इस प्रकार है:—उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्व, अर्थवाद, उपपत्ति। आधुनिक भाषाविज्ञान में भाषण-व्यवहार अथवा 'स्पीच' में प्रयुक्त होने वाली भाषा में अनेक ऐसे संकेतों का उल्लेख दिया जाता है जिनकी तुलना इस तात्पर्यवृत्ति के साथ कर सकते हैं। Topic Comment और अनुतान की विशेषताएँ इत्यादि के द्वारा 'तात्पर्य' का ही बोध होता है।

५.१ वैयाकरणों ने 'तात्पर्य' को स्वीकार नहीं किया है। वाक्यार्थ का निरूपण करने में वैयाकरण नैयायिक तथा मीमांसक—दोनों से मतभेद रखते हैं। इसका किंचित् विस्तृत विवेचन करेंगे।

५.२ वाक्य से अर्थ का बोध किस प्रकार होता है? इस विषय का विवेचन व्याकरण-शास्त्र में विस्तार से किया गया है। आधुनिक भाषा-विज्ञान में जिसे 'अर्थ-संरचना' नाम दिया गया है, और जो भाषागत अन्य दो संरचनाओं—स्वन-संरचना तथा व्याकरण-सरचना के साथ संयुक्त रहती है, उसी के समान विवेचन प्राचीन व्याकरण शास्त्र के अर्थ-विवेचन में प्राप्त होता है।

५.३ भाषा का जिस प्रकार संस्कृत में शब्द नाम है, उसी प्रकार उसका दूसरा नाम स्फोट है। वह 'शब्द' इसलिए कि 'शब्दन क्रिया' अथवा उच्चारण-क्रिया से निष्पन्न होता है। वह 'स्फोट' इसलिए कि उससे अर्थ स्फुटित-प्रकाशित या प्रकट होता है (स्फुटित अर्थो यस्मादिति स्फोट:) 'शब्द' का इस प्रसंग में व्यापक अर्थ लिया गया है। यहां 'शब्द' अंग्रेजी के 'वर्ड' का पर्यायवाची नहीं है, किन्तु भाषा की 'स्वनात्मक संरचना' की ओर संकेत देने वाला शब्द है। सारांश यह है कि

'भाषा = शब्द = स्फोट' —एक ही वस्तु के ये तीन नाम हैं, तीन कारणों से।

५.४ "वाक्य से अर्थबोध होता है"—यह अनुभव-सिद्ध है। वाक्य' अखंड रूप में ही अर्थबोधक होता है। याने सुनने वाला वाक्य के खंड करके, उसके विभिन्न पदों—प्रकृति और प्रत्ययों-का विखंडन करके फिर अर्थ समझ लेता है,ऐसा अनुभवसिद्ध नहीं है। सामान्य अशिक्षित व्यक्ति भी, जिन्हें यह पता नहीं कि वाक्य या शब्द किसे कहते हैं, क्रिया या संज्ञा

किसे कहते हैं—वाक्य सुनकर अर्थ समझता है। यह इसलिए होता है कि विशिष्ट शब्द-श्रृंखला (वाक्य) का विशिष्ट अर्थ से सम्बन्ध अनादिकाल से होता जा रहा है और अनुभव से दूसरों का भाषा-व्यवहार सुन-सुन कर हम इस संबंध को समझ लेते हैं। यह 'अखंडवाक्य-स्फोट' कहलाता है।

५.५ 'अखंडवाक्य स्फोट' के बारे में दो प्रकार के विचार हैं। 'वाक्य' से जब ऐसा अर्थ-बोध होता है तब क्या उसमें 'वर्णों का क्रम' ध्यान में रहता है या नहीं? इसके दो उत्तर हैं। 'वर्ण' से तात्पर्य है—स्वनों के उच्चारणक्रम में कुछ विशिष्ट लक्षणों के आधार पर निश्चित वर्ण पहचानना, फिर यह पहचानना कि उन वर्णों की आनुपूर्वी क्या है—यह वर्ण-क्रम का बोध है। एकमत है—ऐसे वर्णक्रम का ज्ञान होने पर ही वाक्यार्थ का बोध होता है। दूसरा मत है—वर्णक्रम का बोध आवश्यक नहीं। केवल विविध स्वनों के उच्चारण को सुनने मात्र से श्रोता, बगैर यह ध्यान दिये भी कि कौन-सा वर्ण पहले है, कौन-सा बाध में, अर्थ ग्रहण कर लेता है।

पहले मत को वर्णानतिरिक्त मत कहा जाता है और दूसरे को वर्णातिरिक्त मत। इस प्रकार (१) वर्णातिरिक्त अखंडवाक्य स्फोट (२) वर्णानतिरिक्त अखंडवाक्य स्फोट—माने जाते हैं। जिस प्रकार 'वर्ण' के अवयव नहीं माने जाते उसी प्रकार पदों के अवयव ('वर्ण') नहीं माने जा सकते और 'वाक्य' में भी उसके अवयव (पद) नहीं माने जा सकते। तात्पर्य यह कि यदि अकेला 'पद' का ध्यान आये, तो 'पद' का ध्यान किया जाता है, किन्तु वाक्य में पद का विवेक करने के पश्चात् ही अर्थ समझ में आता है—ऐसी बात नहीं। तुलनीय है :

पदे न वर्ण विद्यान्ते, वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ (वा. प. १.७३)

एक दूसरा मत है, वाक्य से सखंडरूप से अर्थबोध होता है। याने, वाक्य में क्रियापद कौन है? उसका कर्ता कौन है? कर्म क्या है? करण क्या है? किसके लिए क्रिया हो रही है? कहां क्रिया हो रही है? कब क्रिया हो रही है? —इन प्रश्नों के साथ ही इनके उत्तर को पाने के द्वारा श्रोता वाक्य का अर्थ समझ लेता है। वाक्य के खण्डों की परस्पर आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि से अन्वय समझकर, फिर वाक्यार्थ समझ लिया जाता है। यही 'सखंडवाक्यस्फोट' मत कहलाता है।

५.७ वाक्यगत पदों में अर्थ-बोधनकता होती है। वाक्यार्थ ज्ञान के पूर्व, पदार्थ ज्ञान होना चाहिए। पद के अर्थ-ज्ञान के बिना वाक्य का अर्थ-ज्ञान नहीं हो सकता। कारक चिह्नों से युक्त शब्दों तथा क्रिया-रूपों को 'पद' नाम दिया गया है (सुबन्त और तिङन्त ही 'पद हैं, अव्यय भी 'सुबन्त' माने गये हैं और कभी उपसर्ग भी, किन्तु अव्ययों पर लगा प्रत्यय लुप्त हो जाता है। इस प्रकार वह भी वाक्य में प्रयोग-योग्य 'पद' नाम पा जाता है।)

५.८ क्योंकि पदों में वर्ण रहते हैं, अत प्रश्न उठता है कि क्या पदगत वर्णों का ज्ञान पाने के पश्चात् ही अर्थबोध होता है या विना वर्णज्ञान के पद से अर्थबोध हो सकता है? अखण्ड पद-स्फोट मत यह मानता है कि पदगत सभी वर्णों से, एक-साथ ही समुदित रूप में अर्थबोध होता है, इसमें वर्णों का पृथक् ज्ञान अपेक्षित नहीं है।

५.९ सखंड स्फोट मत यह मानता है कि पदगत वर्णों का क्रमोच्चारण होने पर ही अर्थ व्यक्त होता है, 'सुखी, 'दु:खी' इत्यादि शब्दों में 'ई' वर्ण का पृथगर्थ जानने पर ही 'सुख' और 'दु:ख' से इनका भिन्नत्व-विशेषणत्व का पता लगता है। यह अर्थ अनादि व्यवहार सिद्ध तथा व्याकरण शास्त्र से संकेतित, दो प्रकार का होता है। इनका अर्थबोध पदगत वर्णों का विखंडन करने से ही संभव है।

५.१० पद वाक्य का 'अन्तरंग अवयव' तथा वर्ण वाक्य का 'बहिरंग अवयव माना जाता है। क्योंकि पद सीधे (साक्षात्) वाक्य का घटक है वर्ण निष्पत्ति द्वारा वाक्यावयव है।

५.११ 'वर्ण' के द्वारा अर्थबोध भी स्वीकृत है क्योंकि वाक्य या पद 'वर्णसमूह' हैं। वाक्य या पद अर्थवान् हैं, इसका तात्पर्य है, वाक्य या पद में घटित वर्णसमूह अर्थवान् है। साथ ही प्रकृति या प्रत्यय के रूप में व्याकरण के द्वारा जो 'वर्ण' विहित किये जाते हैं उनका भी अर्थ होता है।

'लड़का' और 'लड़की' आदि में 'आ' या 'ई' का शब्दान्त में होना किसी विशेष अर्थ का बोधक है। यहाँ 'आ' वर्ण तथा 'ई' वर्ण को, संज्ञा शब्दान्त के स्थान में रहने पर पुल्लिग और स्त्री- लिंग का सूचक माना जाता है। अत: 'वर्णस्फोट' माना जाता है।

५.१२ इस प्रकार वर्णस्फोट, अखंडपदस्फोट, सखंडपदस्फोट, अखंडवाक्यस्फोट, सखंड-वाक्यस्फोट—पांच भेद हुए। इनमें 'वर्ण', 'पद' और 'वाक्य' शब्दों से 'वर्णव्यक्ति,' 'पदव्यक्ति' तथा 'वाक्यव्यक्ति' लिये जाते हैं और ऐसे प्रत्येक 'व्यक्ति' का अर्थ होता है। एक मत और है-'वर्ण' से वर्णत्वजाति, 'पद' से पदत्वजाति, 'वाक्य' से वाक्यत्व जाति का भाव लेना चाहिए, न कि उस व्यक्ति का। 'वर्णस्फोट' से तात्पर्य है—'वर्णत्वजातिस्फोट', 'पदस्फोट' माने 'पद-त्वजाति स्फोट' तथा 'वाक्यस्फोट' माने 'वाक्यत्वजाति स्फ़ोट'। उक्त प्रकार से व्यक्तिस्फोट पाँच और जाति स्फोट मिलकर आठ भेद हो गये।

५.१३ सिद्धान्त मत यह है कि वास्तव में अखंडाकार शब्द (=वाक्य, भाषा) ही अर्थ-वान् है। शेष उसके कल्पित खंड या कल्पित अवयव मात्र हैं। ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में कभी कभी पहले अवास्तविक (या अपारमार्थिक) वस्तु में कोई तत्त्व मान लेते हैं, फिर धीरे धीरे उस तत्त्व को पारमार्थिक वस्तु में ज्ञात करने में समर्थ हो जाते हैं। बालकों को गणित आदि पढ़ाते समय केवल संकेतों को पारमार्थिक मूल्य देकर पढ़ाया जाता है, फिर धीरे-धीरे बालक संकेत और संकेतित पदार्थ में अन्तर कर पाता है और उस मूल्य को पदार्थ में जान लेता है। इसी प्रकार भाषा के अर्थविश्लेषण में वर्ण और पद के अपारमार्थिक मूल्य के द्वारा वाक्यगत पारमार्थिक मूल्य को समझाया जाता है।

उपाया: शिक्षमाणानां बालानां उपलालना:।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत: सत्यं समीहते ॥ (वाक्य पदीय)

६.१ वाक्यगत पदों का परस्पर अन्वय होता है। वाक्य वह पदसमुदाय है जिसमें एक तिङन्त (क्रियारूप) हो। वाक्य के अन्य सभी पदों का 'तिङन्त' शब्द से अन्वय हो जाता है। इस अन्वय को 'कारक' कहते हैं। 'कारक' माने क्रियान्वयित्व (क्रिया से अन्वित होने का का तत्त्व, क्रियाश्रयत्व, क्रियाजनकत्व) 'कारक' अथवा वाक्यगत पदों का क्रियारूप के साथ अन्वय क्रियारूप-गत व्याकरणिक मूल्यों पर निर्भर रहता है। क्रियारूप में विशेष प्रकार की धातु हो तो उसके अनुसार पदों का विशेष प्रकार का 'कारक' (या क्रियारूप के साथ अन्वय)

निष्पन्न होता है। अतः वाक्य में विशेष्य, या मुख्य पद क्रियारूप है, उसमें भी 'धातु' अंश प्रधान है।

६.२ 'धातु' का अर्थ है 'व्यापारवाचक' ('धातु' पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरणों के द्वारा परिभाषित शब्द है, इसे 'आख्यात' भी कहा जाता है। 'यास्क' ने 'आख्यात' शब्द का प्रयोग किया है। धातुबोधित 'व्यापार' के लिए प्रयुक्त प्राचीन पारिभाषिक शब्द है 'भाव' जिसे नैयायिकों ने 'कृति' नाम दिया है और मीमांसकों ने भी 'कृति' एवं 'भावना' शब्द का प्रयोग किया है)।

धातु से दो अंशों का बोध होता है—एक 'फल' दूसरा 'व्यापार,' अर्थात् 'फलानुकुल व्यापार, । प्रत्येक धातु से किसी फल विशेष के अनुकूल व्यापार-विशेष का बोध होता है।

'जाना' —से गमन (फल) के अनुकूल व्यापार विशेष

'खाना' —से भोजन (फल) के अनुकूल व्यापार विशेष

'होना' —से स्थिति (फल) के अनुकूल व्यापार विशेष

–यों प्रत्येक धातु का अर्थ किया जा सकता है।

जो सम्बद्ध व्यापार का आश्रय हो वही कर्ता है,

जो सम्बद्ध फल का आश्रय या आधार हो वही कर्म है,

जो सम्बद्ध व्यापार का साधन हो वही करण है:

जो सम्बद्ध फल का भोगी हो या उद्देश्य हो वही सम्प्रदान है।

जो सम्बद्ध व्यापार के आरम्भ काल की सीमा, अथवा स्थानगत सीमा हो—वही 'अपादान' है।

जो सम्बद्ध व्यापार अथवा फल का स्थान या काल हो,—वह 'अधिकरण' है।

इस प्रकार प्रत्येक धातु में कर्ता, कर्म, करण आदि की आकांक्षा रहती है।

उस आकांक्षा की पूर्ति करने वाले अंश उस कारक में रहते हैं। विभिन्न पदांशों का विशेषणों के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह तथाकथित 'सम्बन्ध कारक' अथवा षष्ठी से बोधित होता है।

यह आवश्यक नहीं है कि 'व्यापाराश्रय,' 'फलाश्रय' इत्यादि लौकिक कर्ता या लौकिक कर्म हो। बोलने वाला व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार कभी अन्यान्य कारक बना देता है। जैसे 'रसोइया खाना पकाता है' कहते हैं वैसे ही 'यह ईंधन खाना खूब पका देता है,' 'इतनी तेज़ आग जल्दी पका देगी,' 'सड़क चलती है,' आदि प्रयोग देखे जाते हैं। परन्तु वाक्य का अर्थ-बोध इस प्रकार निष्पन्न होता है—

'वह व्यक्ति अपने घर से चार बजे सामान लाया'

धातु–लाना, फलविशेष–दूर के प्रदेश के संयोग से वस्तु को हटाकर अन्य-देश के साथ संयुक्त करना, व्यापार-विशेष-हाथ से, या किसी उपकरण से वस्तु को उठाना, सिर पर या गाड़ी में रखना, चलकर या गाड़ी चलाकर आगे बढ़ना, लक्ष्य स्थान पर पहुँचना, सामान को उतारना, रखना या देना, इन सब बातों को संक्षेप में यों कहेंगे–"वस्तुगत अन्य देश संयोग जनकता के अनुकूल व्यापार"।

व्यापार व्यक्ति में है —व्यक्तिनिष्ठ व्यापार
फल सामान में है —सामान में स्थित अन्यदेश संयोग
व्यक्ति घर से चला और —स्वस्वत्वभूत गृह या देश की सीमा से
सामान घर में था, वहां से —वियुक्त व्यापार
उठा लाया
चार बजे का समय है चार बजे के समय में

पूरा अर्थ है—"चार बजे समय पर निष्पन्न, व्यक्ति स्वत्व भूत गृहप्रदेश की सीमा से वियुक्त, 'उस' शब्द से निर्दिश्यमान व्यक्ति में स्थित अन्यदेश संयोग-जनकता के "अनुकूल व्यापार-विशेष"

मीमांसकों, नैयायिकों तथा वैयाकरणों में वाक्यार्थ बोध सम्बन्धी जो मतभेद है, उसकी तुलना की जा सकती है और परस्पर गुण-दोषों का विवेचन किया जा सकता है। किन्तु विस्तार-भय से यहाँ तुलना प्रस्तुत नहीं की जा रही है।

इतना विवरण देने का उद्देश्य यही है कि भारतीय भाषा-विश्लेषण में भाषा की स्वन-संरचना, व्याकरणिक संरचना तथा अर्थ-संरचना की जैसी विश्लेषण-रीति रही है, उसकी थोड़ी-सी झलक दी जाय। आधुनिक भाषा-विश्लेषण के साथ इस विश्लेषण-प्रक्रिया की तुलना करने पर यह प्रमाणित होता है कि भारतीय विश्लेषण प्रक्रिया आधुनिक परिभाषा के अनुरूप ही वैज्ञानिक है और अब भी उपादेय है।

सन्दर्भ

१. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य इस लेखक का ग्रन्थ "प्राचीन भारतीय भाषा वैज्ञानिक चिंतनशास्त्र" (प्रेस में)

□ □ □

१५

भाषा की चार अवस्थाएं

भाषा से हमें भौतिक जगत् को जानने, अन्य मनुष्यों के साथ संपर्क स्थापित करने और अपने विचारों और भावनाओं को अभिव्यक्त करने में सहायता मिलती है। इसलिए ऐसा माना जाता रहा है कि भाषा बाह्य जगत् में मनुष्य की गतिविधियों के लिए एक साधन है। संसार की अतीत संस्कृतियों में स्वयं भाषा के बारे में गहन विचार नहीं के बराबर हुआ है। केवल भारत की ही व्याकरणिक और दार्शनिक दृष्टि से भाषा-विश्लेषण की परम्परा इसका अपवाद है।

पिछली शताब्दी में जब पश्चिम में भाषाविषयक व्यवस्थित चिंतन प्रारम्भ हुआ तो एक लम्बे समय तक भाषा के मूल स्रोत को खोजने का प्रयत्न किया गया। अनेक विद्वानोंने बहुत से सिद्धांत प्रस्तुत किये किन्तु वे किसी परिणाम पर नहीं पहुंच सके। कुछ समय बाद तो यह विवाद इतना उत्तेजनापूर्ण और भ्रांतिजनक हो गया कि कुछ संस्थाओं ने इस विषय की चर्चा पर ही प्रतिबन्ध लगा दिया। विद्वत्-जगत् में प्रतिष्ठा चाहने वाला आज का कोई भी भाषाविद् भाषा के स्रोत या इसी प्रकार के अन्य किसी गहन विषय पर सोचने-विचारने से कतराता है और अपने भाषावैज्ञानिक कार्य को भाषाओं के तथाकथित वैज्ञानिक विश्लेषण तक ही सीमित रखता है।

भाषा की प्रक्रिया के मूल स्वरूप को जानना किसी भी बौद्धिक कार्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। हमारे सामाजिक और शैक्षिक जीवन और शिक्षा के मूल में भाषा ही काम कर रही है इसलिए भाषा पर विचार किये बिना उसके द्वारा कोई कार्य करना ऐसा ही है जैसे दूरदर्शक या सूक्ष्मदर्शी की जांच किये बिना इन यंत्रों के द्वारा ज्योतिर्विद्या और प्राणिशास्त्र का अध्ययन। यदि भाषा हमारे लिए साधन है तो किसी भी बौद्धिक कार्य को वैज्ञानिक ढंग से करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम प्रयोग से पूर्व अपने इस उपकरण की जाँच कर लें।

भाषा के बारे में गहरी खोज करते ही जो बात सबसे पहले ध्यान में आती है वह यह है कि मनुष्य की भाषा सदा ही उसके साथ रहती है—— न केवल उसकी वाणी में अपितु उसके विचारों और स्वप्नों में भी। भाषा मनुष्य को अपने से इतनी अविभाज्य मालूम देती है कि देकार्त जैसे महान् दार्शनिक ने भी अपना अस्तित्व ही अपने चिन्तन की प्रक्रिया पर आधारित करके सिद्ध किया : (Cogito ergo sum–मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ) भारतीय परम्परा में भी कहा गया है कि चिंतन करने वाला प्राणी ही मनुष्य है–(मनुते इति मनुष्यः)

इस प्रकार से विचार करने पर भाषा हमारे मस्तिष्क के अन्दर उत्पन्न होने वाले शब्दों की एक अविच्छिन्न धारा प्रतीत होती है। ये शब्द प्रायः बोली और लेखन के रूप में बाहर निकलते हैं, लेकिन शिक्षा और सभ्यता के विकास के साथ, वे अधिकतर आंतरिक भाषा और विचारों के रूप में हमारे अन्दर ही तरंगायित होते रहते हैं। यह स्वाभाविक है कि विद्वानों ने प्रायः इस बात के बारे में अनुमान लगाने की कोशिश की है कि भाषा की इस रहस्यमय प्रक्रिया का प्रादुर्भाव कैसे हुआ। किन्तु भाषा के स्रोत का अभी तक पता नहीं चल सका है। फिर भी एक बात निश्चित है कि भाषा यदि शब्दों की धारा है तो अन्य सभी धाराओं के समान इसका न केवल कोई आदि होना चाहिए अपितु एक अन्त भी होना चाहिए। और यदि हम किसी कारण से इसके स्रोत का पता नहीं लगा सकते तो भी हम यह जानने के लिए तो स्वतंत्र हैं ही कि भाषा के इस प्रवाह का अन्त कहाँ होता है।

भाषा को उसके समग्र रूप में देखने के प्रयत्न ने ही प्राचीन भारतीय चिन्तन में भाषा की चार अवस्थाओं की संकल्पना को जन्म दिया। उस विचार-सारणि को एक बार समझने का प्रयत्न करना आज भी उपयोगी हो सकता है।

जिस भाषा के बारे में हम शास्त्रीय ढंग से विचार करते हैं वह केवल मनुष्य-समाज में ही व्यवहृत होती है इसलिए स्वभावतः हमारी परिभाषा में कहा जाता है कि भाषा वह ध्वन्यात्मक संकेत-प्रणाली है जिसका प्रयोग किसी समाज के मनुष्य विचारों के आदान-प्रदान के साधन के रूप में करते हैं।

इस परिभाषा पर कुछ विस्तार से विचार करना वांछनीय है। साधन उस पदार्थ को कहते हैं जिसका प्रयोग साधक अपने कार्य की सिद्धि के लिए करता है। परिभाषा से साधन के ऊपर साधक का नियंत्रण रहना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है तो साधक और साधन का संबंध खंडित या दूषित माना जायगा। उदाहरण के लिए, हम यह नहीं कह सकते कि बादल मनुष्यों के लिए वर्षा के साधन हैं या किसी मनुष्य का हृदय उसके लिए अपने रक्त को प्रवाहित करने का साधन है। क्योंकि बादल और हृदय की गति पर मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं है, इसलिए इन्हें मनुष्य के लिए साधन नहीं कहा जा सकता।

यदि इस कसौटी को भाषा पर लागू करें तो हम देखेंगे कि भाषा मनुष्य के लिए ऐसा साधन नहीं है जिस पर उसका पूर्ण नियंत्रण हो। यह ठीक है कि वक्ता के मुख से जो शब्द बाहर आते हैं उन पर उसका प्रकट रूप से कुछ नियंत्रण प्रतीत होता है (यद्यपि सभी वक्ताओं के लिए सभी समय यह बात नहीं कही जा सकती)। किन्तु मुख से बाहर आने वाली भाषा ही मनुष्य की भाषा का एकमात्र रूप नहीं है। थोड़ा-सा भी अन्तर्मुख होकर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि हमारे मस्तिष्क में निरन्तर भाषा उत्पन्न होती रहती है। इसी बात को हम इस प्रकार कहते हैं कि मनुष्य निरन्तर सोचता रहता है। यह आन्तरिक भाषा भी उतने ही स्पष्ट रूप में भाषा है जितने कि मुखोच्चरित ध्वनियों के माध्यम से बाहर आनेवाली भाषा। भारतीय चिन्तन में मुखोच्चरित भाषा को **वैखरी** और मनोगत भाषा को **मध्यमा** कहा गया है। चिन्तक यदि चाहे तो अपने अन्दर उत्पन्न होने वाली मध्यमा भाषा के शब्द, पद और वाक्यों को अलग-अलग देख सकता है। वैखरी भाषा की और मध्यमा भाषा की शब्दावली वही रहती है। कोई भी चिन्तक आसानी से जान सकता है

कि वह कब किस भाषा में सोच रहा है। इस प्रकार हमारे अन्दर निरन्तर भाषा पैदा होती रहती है। जब वह मुख से बाहर आती है तब उसके माध्यम से श्रोताओं तक हमारे विचार पहुँच जाते हैं। इस अवस्था में उसका नाम "वैखरी" होता है। शेष समय में वह "मध्यमा" के रूप में हमारे मस्तिष्क में तरंगायित होती रहती है।

यदि हम अपने अन्दर देखें तो ज्ञात होगा कि मध्यमा भाषा पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। हम चाहें तो भी आसानी से अपने विचार-प्रवाह को नहीं रोक सकते। ऐसा नहीं है कि हम जब चाहें तब अपने अन्दर भाषा को उत्पन्न होने दें और जब चाहें तब उसे सर्वथा रोक दें। हम स्वयं नहीं जानते कि हमारे मन में निरन्तर उत्पन्न होने वाली भाषा कहाँ से आती है, यद्यपि हम उसे प्रतिक्षण अपने अन्दर उठता हुआ पाते हैं।

यदि इस दृष्टि से विचार करें तो हमें आधुनिक भाषाविज्ञान की यह परिभाषा कि "विचार-विनिमय के साधनभूत मुखोच्चरित ध्वनि-प्रतीकों की व्यवस्था का नाम भाषा है," बहुत अपर्याप्त प्रतीत होगी। ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने पर ज्ञात होगा कि आधुनिक शिक्षित मनुष्य की अधिकांश भाषा का प्रयोग उसके अन्दर ही होता है। हम मध्यमा के माध्यम से जितना सोचते हैं उसका शायद एक प्रतिशत भी वैखरी के माध्यम से नहीं बोलते। भाषा की परिभाषा इस प्रकार की होनी चाहिए कि उसकी व्याप्ति भाषा के सभी रूपों तक हो।

फिर हम देखते हैं कि वैखरी भाषा का प्रयोग भी सर्वदा विचारों के आदान-प्रदान के लिए ही होता हो ऐसी बात नहीं है। माँ अपने नवजात शिशु से कितनी-कितनी बातें करती है, यह जानते हुए भी बच्चा कुछ भी नहीं समझ रहा होता। सोते हुए बहुत से लोग वैखरी भाषा में बड़बड़ाते हैं जबकि बाह्य रूप से कोई श्रोता नहीं होता। अंतर्मुख प्रवृत्ति के बहुत से लोगों को राह चलते अपने-आप से बातें करते हुए देखा जा सकता है। संसार में करोड़ों आस्तिक लोग वैखरी भाषा में ईश्वर से प्रार्थना करते हैं जिसका प्रयोग अवश्य ही ईश्वर के साथ विचारों के आदान-प्रदान के लिए नहीं होता। नास्तिकों के लिए तो भाषा का यह प्रयोग सर्वथा निरर्थक ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने सम्पूर्ण रूप में भाषा न तो केवल मुखोच्चरित ध्वनियों की व्यवस्था है और न वह केवल विचारों के आदान-प्रदान का साधन है। अवश्य ही भाषा के सर्वाङ्गीण रूप को समझने के लिए इस संकुचित परिभाषा से ऊपर उठना होगा।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि भाषा कोई वस्तु नहीं है, वरन् एक प्रक्रिया है। किसी भाषा की सत्ता उसके बोलने वालों से अलग नहीं रहती। संगीत भी एक प्रक्रिया है। राग जयजयवंती, उदाहरण के लिए, कोई वस्तु नहीं है जिसे हाथ में उठाकर उसका विश्लेषण किया जा सके। इस राग को जानने के लिए हमें गायक या वादक के साथ समय के आयाम में तबतक बहना होगा जब तक वह यह राग गा या बजा रहा हो। किसी प्रक्रिया को हम केवल समय के आयाम में बहकर ही समझ और जान सकते हैं। इस तरह किसी भाषा को उसके बोलने वालों के साथ लम्बे समय तक रहकर ही जाना जा सकता है।

इसी बात को दूसरे रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रत्येक भाषा के विषय में कोई कथन वस्तुतः उस भाषा के बोलने वालों पर लागू होता है। जब हम कहते हैं कि हिन्दी में दंत्य ध्वनियाँ हैं जो कि अंग्रेज़ी में नहीं हैं तो हमारा तात्पर्य केवल यही होता है कि हिन्दी

भाषी अपने बोलने की प्रक्रिया में कभी-कभी अपनी जीभ को दाँतों से छुआकर कुछ विशेष ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं जबकि अंग्रेजी-भाषी ऐसा नहीं करते। हिन्दी में स्वरों का उच्चारण करते हुए किन्हीं विशेष स्थितियों में अपने नासिका-विवर को खुला रखते हैं और कभी उसे बन्द कर लेते हैं। जब हम कहते हैं कि फ्रेंच में भी अनुनासिक स्वर हैं तो हमारा आशय यही होता है कि हिन्दी-भाषियों की तरह फ्रेंच-भाषी भी स्वरों का उच्चारण करते हुए कभी नासिका-विवर को बन्द रखते हैं और कभी नहीं। हिन्दी की सत्ता हिन्दी-भाषियों के वाचिक और मानसिक व्यवहार से भिन्न नहीं है। स्पष्ट ही किसी भाषा की ध्वनियों या व्याकरण के संबंध में प्रत्येक कथन उस भाषा के बोलने वालों पर लागू होता है।

इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि प्रत्येक भाषा के वैखरी और मध्यमा दो रूप हो सकते हैं तो हमारा आशय यही होता है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी चेतनावस्था में या तो ऐसी स्थिति में होता है जबकि भाषा उसके मुख से बाहर आ रही होती है या ऐसी स्थिति में कि भाषा उसके मन में उठ रही होती है। यह कथन संसार के सभी मनुष्यों पर समान रूप से लागू किया जा सकता है। हमारे अन्दर से निरन्तर भाषा निस्सृत होती रहती है—केवल सुषुप्ति और समाधि की अवस्थाओं को छोड़कर। इस प्रकार भाषा मनुष्य की व्यष्टि-चेतना से ऊपर किसी शक्ति की परिणति है जो बहुधा मनुष्य के न चाहने के बावजूद उसके मन में पैदा होती रहती है। प्राचीन भारतीय शास्त्रों में इसलिए प्रायः मनुष्य को वाक् का कर्ता नहीं माना गया अपितु वाक् का स्वतन्त्र ही अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इस वाक्-शक्तिके प्रस्फुटन के लिए मनुष्य का मस्तिष्क केवल आधार का काम करता है।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की टीका में एक श्लोक उद्धृत करते हुए कहा है :

वागेवार्थं पश्यति वाग्ब्रवीति वागेवार्थं निहितं सन्तनोति।[1]

(वाक् ही अर्थ को देखती है, वाक् ही स्वयं बोलती है और वाक् ही स्वयं शब्दों में निहित अर्थ का विस्तार करती है।)

इस पंक्ति से स्पष्ट है कि भर्तृहरि और उनके पूर्ववर्ती आचार्य वाक् का स्वायत्त अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वे इसे पूर्णतया मानव-सापेक्ष नहीं मानते।

प्राचीन मनीषियों ने वैखरी भाषा की परिभाषा इस प्रकार की है :

स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबंधना ॥[2]

(वैखरी भाषा विभिन्न उच्चारण-स्थानों में वायु के अवरोध से उत्पन्न होती है। इसमें वर्णों की पृथक्-पृथक् सत्ता रहती है और इसका सीधा सम्बन्ध वक्ता की श्वास-प्रक्रिया से होता है।)

इन सभी लक्षणों को हम मुखोच्चरित भाषा पर आसानी से घटा सकते हैं। दूसरी ओर मध्यमा भाषा का लक्षण इस प्रकार बताया गया है :

केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥[3]

(मध्यमा भाषा केवल प्रयोक्ता की बुद्धि में रहती है। उसकी आंतरिक भाषा-ध्वनियों में क्रम रहता है और वह व्यक्ति की श्वास-प्रक्रिया का अतिक्रमण कर जाती है।)

इन लक्षणों को भी हम अपनी मानसिक भाषा पर आसानी से घटा सकते हैं। इनमें विशेष ध्यान देने योग्य एक वात तो मध्यमा भाषा में वैखरी भाषा की ध्वनियों के क्रम का आंतरिक रूप में वने रहना है। हम सभी विचार करते हुए स्पष्ट रूप से यह जान सकते हैं कि हमारी आंतरिक भाषा की ध्वनियां भी हमारे मन में उसी क्रम से उठती हैं जिस क्रम से वे मुखोच्चरित वैखरी में वाहर प्रकट होती हैं। आंतरिक भाषा में भी कर्ता, कर्म, क्रिया आदि उसी क्रम से आते हैं जिस क्रम से कि वाह्य भाषा में। दूसरे शब्दों में, मध्यमा और वैखरी की शब्दावली और व्याकरण एक ही होता है।

मध्यमा के लक्षण में दूसरी विशेष वात उसका श्वास-प्रक्रिया को अतिक्रांत कर जाना है। वैखरी भाषा वक्ता की श्वास-प्रक्रिया से निवद्ध रहती है। अक्षर, पद, पदवन्ध और वाक्यों के उच्चारण में श्वास-प्रक्रिया के योगदान को आसानी से देखा जा सकता है। प्रत्येक अक्षर के उच्चारण में वायु हलके-हलके झटकों के साथ वाहर आती है जिससे एक अक्षर दूसरे से मिल नहीं पाता। लम्बा वाक्य वोलते हुए हम पदवन्धों या उपवाक्यों के अन्त में श्वास लेते हैं। प्रायः नया वाक्य प्रारम्भ करने से पहले हम अनजाने में ही नया श्वास भर लेते हैं। किंतु मध्यमा भाषा का हमारी श्वास-प्रक्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं होता। हमारे सोचने की गति वहुत तीव्र होती है। जिस श्वास के दौरान हम वैखरी में एक वाक्य वोल पाते हैं उसके दौरान हम मध्यमा में कई-कई वाक्यों के विचारों में से गुज़र जाते हैं। जिस समय हम श्वास अन्दर ले रहे होते हैं उस समय हम वैखरी का प्रयोग नहीं कर सकते किन्तु मध्यमा भाषा के माध्यम से हमारा चिन्तन अविराम चलता रहता है चाहे हम श्वास ले रहे हों या छोड़ रहे हों।

एक वार इस वात को समझ लेने के वाद कि वैखरी और मध्यमा भाषाएं वास्तव में दो स्थितियां हैं जिनमें से किसी एक में प्रत्येक मनुष्य का मस्तिष्क सुषुप्ति और समाधि की अवस्था को छोड़कर सारे समय वना रहता है, हम कुछ और आगे वढ़ सकते हैं। प्राचीन भारतीय चिन्तन में भाषा की, अथवा दूसरे शब्दों में उसके प्रयोक्ता मनुष्य की, दो स्थितियाँ और मानी गई हैं। पश्यन्ती और परा। इनमें से **पश्यन्ती** का लक्षण इस प्रकार दिया गया है :

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संयतक्रमा।
स्वरूप ज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ।।४

(भाषा की पश्यन्ती अवस्था में उसकी ध्वनियों में या पदों में कोई क्रम नहीं रहता, इसलिए उसका किसी भी दृष्टि से विभाजन या विश्लेषण सम्भव नहीं है। पश्यन्ती भाषा की अवस्था में मनुष्य को अपना आंतरिक ज्योतिर्मय स्वरूप उपलव्ध होता है। भाषा का यह सूक्ष्म रूप अविनाशी है।)

ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य की चेतनावस्था में उसके मस्तिष्क से या तो वैखरी भाषा उत्पन्न हो रही होती है या मध्यमा। वास्तव में यह कथन अक्षरशः सत्य नहीं है। सामान्य मनुष्य के जीवन में भी कभी-कभी ऐसे क्षण आते हैं जव वह भाषाहीनता की स्थिति में होता है। कोई भी अद्‌भुत दृश्य देखकर हम कुछ क्षण अवाक् रह जाते हैं। वहुत सुखद अनुभूति हमें कुछ क्षण के लिए वाह्य और आंतरिक दोनों भाषाओं से मुक्त कर देती

है। किंतु इनके अतिरिक्त एक अन्य स्थिति और भी है जिसमें हम बार-बार वैखरी और मध्यमा भाषा के ऊपर चले जाते हैं। वह है ध्यान की और भाषा के विश्लेषण की स्थिति। ऊपर हमने देखा है कि मध्यमा भाषा में ध्वनियों और पदों का वही क्रम रहता है जो कि वैखरी का होता है। भाषा के इन दोनों रूपों में ही बाह्य या आंतरिक ध्वनियाँ एक के बाद एक स्वतः निस्सृत होती जाती हैं। स्पष्ट है कि यदि मनुष्य केवल इन्हीं दो स्थितियों में रहता तो वह भाषा का विश्लेषण नहीं कर सकता था। भाषा का विश्लेषण भाषा से अलग होकर ही किया जा सकता है। यह तथ्य कि हम अपनी भाषा का विश्लेषण कर सकते हैं, सिद्ध करता है कि हम मध्यमा के ऊपर उठ सकते हैं। वस्तुतः जिस व्यक्ति में बाह्य और आंतरिक भाषा से परे जाने की जितनी शक्ति विद्यमान होती है वह भाषा का उतना ही अच्छा विश्लेषण कर सकता है। पाणिनि का व्याकरण पढ़ते-पढ़ते हमें यह बात स्पष्ट होती जाती है कि यह व्याकरण किसी महान् ऋषि द्वारा लिखा गया है जो अपनी भाषा से अनासक्त होने के कारण ही उसका बीजगणितीय ढंग से विश्लेषण कर सका। यदि पाणिनि के व्याकरण की तुलना में हमें आधुनिक भाषा-विश्लेषण अपरिपक्व मालूम होते हैं तो उसका एक बड़ा कारण यह है कि आज वह साधना-पद्धति लुप्तप्राय हो गई है जिसके द्वारा व्यक्तियों को सचेतन रूप से भाषातीत होने की शिक्षा दी जाती थी।

वैखरी और मध्यमा भाषा में प्रकृति-प्रत्यय से बने पद अविकल रूप से प्रवाहित होते रहते हैं। प्रकृति और प्रत्यय के विश्लेषण का कार्य पश्यन्ती की स्थिति में होता है। लेकिन क्योंकि हमारे अन्दर भाषातीत बने रहने की योग्यता नहीं होती, इसलिए हम निरन्तर पश्यन्ती से मध्यमा की स्थिति में आते रहते हैं। इस तरह हमें अपनी आंतरिक भाषा का प्रवाह टूटा हुआ नहीं प्रतीत होता जबकि उसमें अवश्य ही कहीं-कहीं विराम की स्थिति आती होगी, तभी हम अपनी भाषा का विश्लेषण कर पाते हैं।

जैसाकि पश्यन्ती शब्द से स्पष्ट है, यह व्यक्ति की वह चेतन स्थिति है जिसमें वह अपने भाषा-प्रवाह को भाषातीत स्थिति से देखता है। भारतीय चिन्तन में इस अवस्था के परे भी एक स्थिति स्वीकार की गई है जिसे परा कहा गया है। इसमें व्यक्ति स्वभावतः भाषातीत रहता है। वह अपनी इच्छानुसार न केवल वैखरी के परे रह सकता है अपितु उसका चित्त भी इतना शांत होता है कि उसमें मध्यमा का प्रवाह भी नहीं उठता। योग में इसे निर्विकल्पक समाधि की अवस्था कहा गया है। इसमें द्रष्टा को अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान होता है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने के बाद कोई व्यक्ति न केवल भाषा के अपितु सम्पूर्ण मानव-जीवन के रहस्य को भी जान लेता है। न यह केवल विद्या के क्षेत्र में अपितु साधना के क्षेत्र में भी चरम उपलब्धि है।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में भाषा की तीन अवस्थाएं ही स्वीकार की हैं। इसका कारण यह है कि वाक्यपदीय मुख्यतः व्याकरण की पुस्तक है और परा का सम्बन्ध व्याकरण से नहीं है। पर वस्तुतः भर्तृहरि ने भाषा की चौथी अवस्था का वर्णन तो वाक्यपदीय के पहले श्लोक में ही कर दिया है जहाँ वे ब्रह्म को भाषा की प्रक्रिया के मूल में विद्यमान बताते हैं। भाषा की चौथी अर्थात् परा अवस्था ब्रह्मचैतन्य ही है।

वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा इन चारों अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही भाषाविज्ञान का कार्य सम्पूर्ण माना जा सकता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि आधुनिक भाषाविज्ञान में केवल वैखरी भाषा के अध्ययन पर ही ध्यान दिया जाता है। इसीलिए संसार के हज़ारों भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा बड़ी-बड़ी पुस्तकों और पत्रिकाओं में लम्बी-लम्बी बहसों के बावजूद भाषाविज्ञान के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो पा रही है।

भारतीय चिन्तन-प्रणाली में प्रारम्भ से ही भाषा को इन चारों अवस्थाओं के साथ उसके समग्र रूप में देखने का प्रयत्न किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है:

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण: ।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।। (ऋग्वेद १-१६४-४५)

वाणी के चार पद हैं जिन्हें मेधावी विद्वान ही जानते हैं। इनमें तीन मनुष्य के अंदर निहित होने के कारण बाहर प्रकट नहीं होते। वाणी के केवल चौथे रूप को ही मनुष्य बोलते हैं।

वैदिक काल से अब तक भारत में भाषा-विषयक गंभीर चिन्तन की अविच्छिन्न परंपरा मिलती है। भाषा-प्रवाह के दूसरे छोर पर जाकर जो कुछ उपलब्ध होता है उसका संबंध केवल भाषा से ही नहीं है। भाषातीत स्थिति में ही जाकर यह बोध होता है कि जिस भाषा को हम केवल विचारों के आदान-प्रदान का साधन समझ रहे थे उसका सम्बन्ध केवल हमारी बोली और हमारे विचारों से नहीं है अपितु वह हमारी सत्ता के मूल स्रोत से उद्भूत होती है। हमारी सत्ता के स्वरूप में परिवर्तन के साथ-साथ हमारी भाषा में भी परिवर्तन होता है।

हमारी बाह्य और आन्तरिक भाषा हमारे अन्दर उत्पन्न होने वाली शक्ति के विनियोग का ही एक रूप है। वैखरी भाषा तो ठीक उसी प्रकार एक मांसपेशीय कार्य है जिस प्रकार कि चलना, कूदना या फावड़ा चलाना। मध्यमा की अवस्था में भी हम वाक्शक्ति की तरंगों को अपने अन्दर उठते हुए अनुभव कर सकते हैं। ऊपर हमने देखा है कि भाषा-प्रक्रिया पर हमारा कोई बस नहीं है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शक्ति की ये तरंगें, जोकि भाषा के रूप में प्रकट होती हैं, किसी ऐसे स्रोत से आती हैं जो हमारी व्यष्टि चेतना से परे है। अर्थात् हमारे प्रत्येक भाषिक व्यवहार में हमसे भिन्न और हमसे बड़ी कोई सत्ता काम कर रही होती है। सचाई तो यह है कि जिसे हम अपना आपा कहते हैं वह भी भाषा रूपी इन शक्ति-तरंगों का ही खिलवाड़ है। परा की अवस्था में न केवल नामरूपात्मक सृष्टि के भेद नहीं रहते अपितु स्वयं ज्ञाता का व्यष्टिपरक रूप भी नहीं रहता। आचार्य भर्तृहरि ने इसी लिए वाक्यपदीय में कहा है।

भेदोद्ग्राह विवर्तन लब्धाकारपरिग्रहा ।
आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृति: परा ।।[५]

वाक् रूपी शक्ति के विवर्त के कारण ही सृष्टि के विभिन्न आकार दिखाई पड़ते हैं। इसीलिए सब शास्त्रों में वाक् को ही परा प्रकृति कहा गया है।

जहाँ एक ओर हम वैखरी के माध्यम से अपने समाज से जुड़े हुए हैं वहाँ परा के द्वारा हमारा सम्बन्ध सम्पूर्ण सृष्टि से है। भाषा केवल वही नहीं है जिसके माध्यम से हम अपने

श्रोता तक अपनी बात पहुँचाते हैं। भाषा वह भी है जिसके माध्यम से सृष्टि की शक्ति-तरंगें प्रत्येक क्षण हमें आन्दोलित करती रहती हैं। इस प्रकार भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध न केवल शाब्दिक भाषा में प्रकट किये जाने वाले शास्त्रों—दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र—आदि से अपितु गणित, भौतिकी आदि उन सभी विद्याओं से भी है जो सृष्टि के रहस्य के मूल में जाने का उद्योग करती हैं। क्योंकि मानवीय मस्तिष्क द्वारा विकसित कोई भी शास्त्र मानवीय मस्तिष्क की सीमाओं का उल्लंघन नहीं कर सकता, और क्योंकि भाषा की विभिन्न अवस्थाओं में मानवीय मस्तिष्क की निम्नतम से उच्चतम दशा का अध्ययन होता है इसलिए सम्पूर्ण सृष्टि के रहस्य को उद्घाटित करने में भी भाषाविज्ञान का योग-दान अन्यतम है।

यदि हम भाषाविज्ञान को सचमुच विज्ञान बनाना चाहते हैं तो पाश्चात्य प्रभाव के कारण इस विज्ञान पर लगी हुई सीमाओं को हमें तोड़ना होगा। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार भाषाविज्ञान केवल अनुसंधान का ही नहीं अपितु संधान का भी—केवल रिसर्च का ही नहीं अपितु सर्च का भी—विषय है। इस विषय को इसकी समग्रता में फिर से स्थापित करना होगा। इसके लिए आवश्यकता है अन्तर्दृष्टि, साधना और साहस की।

आधुनिक भाषाविज्ञान वैखरी भाषा के तथाकथित विश्लेषण से बाहर नहीं जाना चाहता। यह पाश्चात्य चिन्तन में परम्परागत साहस की कमी के कारण है। पर असमर्थ मस्तिष्कों का चिन्तन सत्य का स्थान नहीं ले सकता। भारतीय भाषाविषयक चिन्तन में ऐसी स्थिति कभी नहीं रही। उसमें सदा ही भाषा को उसके समग्र रूप में देखने का प्रयत्न किया गया है। जब अइउण् आदि सूत्रों को माहेश्वर सूत्रों का नाम दिया गया तो उसका तात्पर्य यही था कि हमारे मुख से उच्चरित प्रत्येक वर्ण वस्तुतः हमसे बड़ी किसी शक्ति की परिणति है। महावैयाकरण भर्तृहरि ने तो अपने भाषा-ग्रंथ वाक्य-पदीय का प्रारम्भ ही इस श्लोक से किया :

> अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
> विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

भर्तृहरि के अनुसार भाषा-प्रक्रिया के मूल में ही ब्रह्म है, जिसके विवर्त के कारण शब्दों के अर्थ के रूप में जगत् के विभिन्न पदार्थों की प्रतीति होती है। आधुनिक भाषाविज्ञान की पद्धति से आक्रांत मस्तिष्क इस प्रकार की बातों को ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं होता। किन्तु इससे उस मस्तिष्क की असमर्थता प्रकट होती है न कि भाषाविषयक चरम तथ्य की असत्यता।

यदि हम भाषाविषयक प्राचीन भारतीय चिन्तन को पुनर्जीवित कर सकें तो न केवल हमारा वैखरी भाषा के विश्लेषण का कार्य आसान हो जाएगा अपितु भाषा के अन्य तीन रूपों के ज्ञान के कारण हमें वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक समस्याओं को सुलझाने में भी बहुत सहायता मिलेगी।

संदर्भ

१. वाक्यपदीय-दक्षिण कालेज संस्करण, प्रथम काण्ड, पृष्ठ १८१
२. वाक्य पदीय, दक्षिण कालेज संस्करण, प्रथम काण्ड, पृष्ठ २१६
३. वही—पृष्ठ २१६
४. वही—पृष्ठ २१६
५. वाक्यपदीय, दक्षिण कालेज संस्करण, प्रथम काण्ड, पृष्ठ १६४
६. वाक्यपदीय, दक्षिण कालेज संस्करण, प्रथम काण्ड, पृष्ठ १

१६

वैदिक वाङ्मय में भाषा-दर्शन

भारत का धर्म ग्रंथ वेदज्ञान का रत्नाकर माना जाता है। वेद का शाब्दिक अर्थ ही है ज्ञान। वैदिक वाङ्मय ज्ञान का ऐसा सागर है जिसका विस्तार और गहराई दोनों विश्व में अनुपम हैं। मनुस्मृति में 'सर्वज्ञानमयो हि सः'[1] कहकर इसी सर्वसम्मत तथ्य की घोषणा की गई है।

ज्ञान के तीन पार्श्व हैं : ज्ञेय, ज्ञान तथा ज्ञाता। इन तीनों को क्रमशः सत्, चित्, आनन्द अथवा रूप, नाम, भाव या विचार, अथवा, बहिर्जगत्, शब्द जगत् और अन्तर्जगत् कहा जा सकता है। इनमें नाद या शब्दजगत् मध्यवर्ती होने से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। ऋग्वेद ने 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे, वाच इत सर्वं अमृतं यच्च मर्त्यम्,[2] बृहदारण्यक उपनिषद् ने 'वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म'[3] वाक्यपदीय ने 'अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्, विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः',[4] तुलसीदास ने "राम नाम मनिदीप धरु, जीह-देहरी-द्वार। तुलसी भीतर बाहर हूँ, जो चाहसि उजियार"[5] कहकर इस अनाहत नादब्रह्म की ही महिमा बताई है। इसीलिए नादब्रह्म के विश्लेषण को शिक्षा ग्रन्थ "मुखं व्याकरणं स्मृतम्'[6] तथा महाभाष्य 'सर्ववेद पारिषदं हीदं शास्त्रम्'[7] कहकर वेद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग स्वीकार करते हैं। उपनिषदें इसे 'वेदानां वेदः'[8] कहती हैं। "शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः"। छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत,[9] कहकर भर्तृहरि स्पष्ट ही यह घोषणा कर रहे हैं कि समस्त सृष्टि नाद का ही विवर्त या परिणाम है। आधुनिक वैज्ञानिकों से भी इस मत को अधिकाधिक मान्यता मिलती जा रही है। अंग्रेजी में जिसे सिम्फोनी कहते हैं उसे ही संस्कृत में 'साम' कहते हैं। बहुत सम्भव है कि संस्कृत का 'साम-भणि' शब्द ही अंग्रेजी में सिम्फोनी बन गया हो, जैसे संस्कृत में भण् ही अंग्रेजी में फोन हो जाता है। गीता में कृष्ण का कथन है 'वेदानां सामवेदोऽस्मि'।[10] यह साम ही, सिम्फोनी ही, सृष्टि का मूल तत्त्व है, यह सिद्धांत अब वैज्ञानिकों में भी जोर पकड़ता जा रहा है। इसीलिए भारत में वाणी को 'ब्रह्माच्युत शंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता' कहा गया है।

इस नाद-तत्त्व का विवेचन भारत में सर्वाधिक प्राचीन है। 'फाइलोलॉजी' शब्द का अर्थ बताते हुए 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' स्वीकार करता है कि भारत ने ही इस क्षेत्र में विश्व का नेतृत्व किया है:—"चीनी और असीरियन लोग अपनी भाषाओं का विश्लेषण और अध्ययन उस गहराई से नहीं कर सके थे जितनी गहराई के साथ प्राचीन भारतीय कर सके थे, और इस अध्ययन ने आधुनिक पाश्चात्य भाषा विज्ञान को बहुत दूर तक प्रभावित किया है।" तैत्तिरीय संहिता के 'वाग् वै पराची अव्याकृता अवदत्, ते देवा इन्द्रम् अब्रुवन्, इमां नो

वाचं व्याकुर इति, तामिन्द्रो मध्यतः अवक्रम्यं व्याकरोम्'[11] के अनुसार देवराज इन्द्र ने तथा तांड्य महाब्राह्मण के 'देवा वै वाचं व्ययजन्त'[12] के अनुसार पूरी देव-जाति ने वाणी का विश्लेषण किया था। सर्वदर्शन संग्रह में पाणिनि-दर्शन के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले व्याकरण या शब्द-विद्या का वाणी के विज्ञान या दर्शन के रूप में ही विकास हुआ था। ऋग्वेद के कई सूक्तों में वाणी का वर्णन-विश्लेषण मिलता है। इनमें १०वें मण्डल का ६१वाँ वृहस्पति सूक्त, ७१वाँ ज्ञान-सूक्त और १२५वाँ वागाम्भृणी सूक्त तथा छठे मण्डल का ६१वाँ सरस्वती-सूक्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें जिज्ञासु अनुसंधित्सुओं को भाषा-विज्ञान के अनेक तत्त्व बीजावस्था में दिखायी पड़ेंगे। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान के आचार्य प्रो० सेइस ने 'सायंस आफ लग्वेज' में वागाम्भृणी सूक्त की ओर भाषा-वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है कि इन मन्त्रों में वाक्-तत्त्व के विषय में जो वक्तव्य हैं वे वहुत ही गम्भीर, विचारणीय तथा भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सत्य और दूरदर्शितापूर्ण हैं। इस सूक्त का ऋषि वागाम्भृणी और देवता वाक् है। जिस प्रकार गीता में कृष्ण ने अपना विश्वरूप दर्शन कराया है, लगता है वाणी भी ठीक उसी भाँति अपना विश्वरूप दर्शन करा रही है। इसमें वागद्वैतवाद का अच्छा प्रतिपादन है। वस्तुतः यह पूरा सूक्त ही घोषित करता है कि समस्त विश्व नाद से ही उत्पन्न तथा नाद पर ही आधारित है, जैसेः अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि, अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः, अहं मित्रावरुणोभा विभर्मि। अहमिन्द्राग्नि अहमश्विनोभौ।[13]

> अहमेव स्वयमिदं ब्रमीमि, जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
> यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥[14]

इनके अतिरिक्त भी वाणी के किसी न किसी पक्ष का विश्लेषण संहिता में यत्र तत्र बिखरे हुए रूपों में मिलता है। परन्तु संहिता की शैली रहस्यात्मक है, अतः निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किस मन्त्र में किस वस्तु का वर्णन है।

मन्त्रभाग में वाणी के विश्लेषण के कुछ छुट-पुट उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

१. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर् ब्राह्मणं ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति॥[15]

इस मन्त्र में विद्वानों द्वारा जानने योग्य वाणी के चार रूप वताये गए हैं जिनमें तीन रूप तो गुफा में छिपे हैं, चौथा रूप ही मनुष्य बोलते हैं। ये चार रूप सायण, गौडपाद तथा भर्तृहरि के अनुसार परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी हैं। पतंजलि, कैयट, नागेश आदि महावैयाकरणों ने वाणी के चार रूपों से यहां नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चतुर्विध शब्दों को भी ग्रहण किया है।

२ शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा विभर्षि सुमनस्पमाताः
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन्, तासामेका निपपातानुघोषम्॥[16]

यह मन्त्र भी यही बताता है कि वाणी के तीन रूप भीतर छिपे हुए हैं, एक अर्थात् चौथा रूप नाद के साथ बाहर आता है। यहाँ अवश्य ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप चतुर्विध वाणी का ही उल्लेख है।

की जानकारी प्राप्त हो चुकी थी. ऐतरेय ब्राह्मण में सामगान के समय 'आपो रेवती: क्षयथ' के द्वितीय वर्ण 'ओ' को खींचकर १६ इकाइयों तक बढ़ाने या अलापने का, न्यूङ्खन का, इतना विशद वर्णन मिलता है कि उस समय के ध्वनि विज्ञान पर विस्मय होता है।

आरण्यकों से ध्वनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण सूक्ष्मतर होने लगा है। ऐतरेय आरण्यक के आरण्यक२, अध्याय२, खण्ड४में लिखा है' यानि व्यंजनानि तच्छरीरम्, यो घोप: स आत्मा, य ऊष्माण: स प्राण: अर्थात् वर्णमाला को ३ भागों में बाँटा गया है, व्यंजन शरीर के सदृश हैं, घोप आत्मा के तथा ऊष्म प्राण के। यहाँ घोष से स्वर वर्ण अभिप्रेत हैं। चूँकि ग घ ङ भी घोष ही हैं, और ऊष्म भी व्यंजन ही। इसलिए आरण्यक३, अध्याय२, खण्ड ५ में ऐसा वर्गीकरण है,—स्पर्श, ऊष्म तथा स्वर। संभवत: इन दोनों स्थलों में अन्तस्थों का अन्तर्भाव स्वरों में किया गया है। आज भी ये सर्वसम्मति से अर्धस्वर तो माने ही जाते हैं। परन्तु लघु माँडूकेय में आरण्यक३, अध्याय२, खण्ड१, में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि वर्णों की जातियाँ वास्तव में ४ हैं, वर्णमाला का प्राण, ऊष्म है, अस्थि हैं स्पर्श, मज्जा हैं स्वर तथा रक्त है अन्तस्थ। वर्णों के विश्लेषण विभाजन का यह क्रमिक विकास एक ही जगह मिल जाता है, जो आज तक सामान्यत: मान्य है।

छान्दोग्य उपनिषद् में भी वर्णों के ३ विभाग ही मिलते हैं सर्वे स्वरा[४३] इन्द्रस्यात्मान: सर्वे ऊष्माण: प्रजापतेरात्मान:, सर्वे स्पर्शा: मृत्योरात्मान:'। लगता है यहाँ भी अन्तस्थों का स्वरों में ही अन्तर्भाव है। वैसे ऐतरेय आरण्यक के आरण्यक २, अध्याय ३, खण्ड ४ में वर्ण-माला के २ विभाग भी दिए गए हैं, व्यंजन और स्वर।

आरण्यकों में ध्वनियों के साथ संहिता का भी विचार है, जिसे अंग्रेजी में जंकचर कहते हैं। ऐतरेय आरण्यक के तीसरे आरण्यक के पहले अध्याय के पाँचवे खण्ड में केवल संहिता का ही विस्तृत विवेचन है। संहिता की व्याख्या में यहाँ ३ मत दिए गए हैं :

१ पूर्व वर्ण और उत्तर वर्ण के बीच के अवकाश को संहिता कहते हैं।

२ माण्डूकेय ऋषि ने इसमें यह संशोधन किया कि पूर्व वर्ण और उत्तर वर्णों का अवकाश सभी स्थितियों में संहिता नहीं कहलाता। केवल वह अवकाश संहिता कहलाता है, जिसमें ये स्थितियाँ रहें :

(अ) उसके द्वारा कोई संधि संपादित हो, जैसे पुर: हितम् = पुरोहितम्।

(आ) उससे स्वर तथा अस्वर का विवेक हो, जैसे 'अग्निमीळे' के 'ईळे' में पदपाठ में सर्वानुदात्तता रहती है, पर संहिता पाठ में स्वरित और प्रचय स्वर हो जाते हैं।

(इ) उससे मात्रा अमात्रा का विभाग होता है, जैसे 'तवेत् तत्सत्यमिङ्गर: में पदपाठ में व् के बाद ह्रस्व अकार रहता है, पर संहिता काल में 'अ' नहीं 'ए' की मात्रा रहती है। इस चरण में पद पाठकाल में ९, पर संहिता पाठकाल में ८ ही मात्राएँ रहती हैं, अत: यहाँ संहिता है।

केवल ऐसे अवकाशों को ही संहिता कहते हैं।

३ लघु माण्डुकेय ने इसमें एक और संशोधन प्रस्तुत किया है। पूर्व और उत्तर वर्णों को न तो सर्वथा पृथक् कर न सर्वथा एक बनाकर यथावर्ण उच्चारण हो, अर्थात् 'तवेन्तद् में पूर्वपद 'तव' के अन्तिम वर्ण अकार और उत्तर पद 'इत्त' के प्रथम वर्ण इकार का संहिता

काल में न तो अत्यन्त विश्लिष्ट पृथक् उच्चारण होगा, न किसी एक का दूसरे से सर्वथा विलयन, दोनों स्थितियों से भिन्न यथावर्ण एकार उच्चारण होगा (ए में पहले 'अ' तब 'इ' का योग है)। ऐसी दशा में इन दोनों वर्णों के बीच शास्त्रीय संधि का ज्ञान कराने वाला जो एक विशिष्ट उच्चारण स्वरूप माना है, वह साम है। यह साम अर्थात् अतिशीघ्रता और अतिविलम्ब के अभाव से उत्पन्न समता ही संहिता है।

इस प्रकार लघु मण्डूकेय ने अन्तस्थ को स्वरों से पृथक् स्वतंत्र स्थान दिलाने के अतिरिक्त संहिता को भी अपनी एक नई व्याख्या दी। अवश्य ही ये उस समय के एक महान् भाषा वैज्ञानिक रहे होंगे।

ऐतरेय आरण्यक के तीसरे आरण्यक के प्रथम अध्याय में मण्डूकेय के साथ माक्षव्य का भी मन्तव्य देकर संहिता विचार को और भी गम्भीरतर बना दिया गया है।

तैत्तिरीयोपनिषद्, कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक के प्रपाठक ७, ८, ९ का ही दूसरा नाम है। इनमें सप्तम प्रपाठक को शिक्षावल्ली कहते हैं। यह पूरी वल्ली भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। इसके तीसरे अनुवाक में संहिता की और भी विस्तृत व्याख्या मिलती है। द्वितीय अनुवाक तो शिक्षा वेदांग का उत्स ही प्रतीत होता है। यद्यपि है यह अति संक्षिप्त 'शिक्षा व्याख्यास्यामः। इनमें वर्ण, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तानः, इत्युक्तः शिक्षाध्यायः; इनमें वर्ण है आकाशदि, स्वर स्वर है, उदात्तादि, मात्रा है ह्रस्वादि, काल है महाप्राणतादि, साम है मध्यमा आदि वृत्ति, संतान है संहिता।

इस प्रकार वैदिक साहित्य के चारों स्तरों, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् में भाषाविज्ञान या दर्शन के बहुत से सूत्र उपलब्ध हैं। इस लघु निबन्ध में इसका दिग्दर्शन मात्र कराया जा सका है। यदि सभी संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों का मन्थन किया जाय तो भाषा विज्ञानोपयोगी अनन्त रत्न मिलेंगे। इसी प्रकार अनुक्रमणी, बृहद् देवता आदि में भी यत्र तत्र उपयोगी सामग्री मिल सकती है।

वेदों में भाषादर्शन का कितना महत्व स्वीकृत था इसका पता तो इसी से चल जाता है कि छः वेदांगों में से चार केवल भाषा विज्ञान के लिए ही बनाए गए। शिक्षा में ध्वनि-विज्ञान, निरुक्त में पद-विज्ञान या निर्वचन विज्ञान, व्याकरण में वाक्य विज्ञान तथा अर्थ विज्ञान और छन्दस् में नाद-विज्ञान या नाद-सौन्दर्य (सिम्फोनी) का अध्ययन है। प्रातिशाख्य, शिक्षा ग्रंथों के ही पूरक हैं। इन चार वेदांगों पर सैकड़ों ग्रंथ उपलब्ध हैं।

इस काल में भाषा विज्ञान के प्रत्येक अंग का अध्ययन और शोध विकास हो रहा था। इसलिए यत्र तत्र सिद्धांतों में सुधार परिवर्तन के भी उदाहरण मिलते हैं। वर्णों के अध्ययन में किस प्रकार क्रमशः प्रगति हुई यह ऊपर दिखाया जा चुका है। निर्वचन में भी ऐसी प्रगति के उदाहरण हैं।

अवश्य ही वैदिक वाङ्मय में गुप्त-प्रकट वाणी-भागीरथी की सहस्त्रों धाराएँ ही क्रमशः विकसित प्रसृत होकर पाणिनि काल में इतनी विस्तीर्ण और गम्भीर बनीं। वैदिक साहित्य में इन वाणी निर्झरों की खोज बहुत मूल्यवान् होगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

संदर्भ

१. मनुस्मृति २-६.
२. वाक्यपदीय १-१२१ की टीका मे हैलाराज द्वारा उद्धृत।
३. बृहदारण्यक उपनिषद् ४-१।
४. १-१.
५. बाल दोहा २-१.
६. पाणिनीय शिक्षा-४२.
७. पस्पशाह्निक।
८. छा० उ० ७-१-२.
९. वाक्यपदीय १-१-२१.
१०. श्रीमद्भगवद्गीता १०-२२.
११. तंत्रदीप संहिता ७-४-७१.
१२. ५-६-१.
१३. ऋग्वेद संहिता :१०-१२५-१,
१४. वही ५.
१५. ऋग० १-१६४-४५.
१६. अथर्व० ७-४३-१.
१७. ऋग० ४-५८-३१.
१८. ऋग० १०-६७-९.
१९. ऋग० ६-६१-१२.
२०. ऋग० १०-७१-४.
२१. वही १-१-१.
२२. वही १-२-१.
२३. यजु० १-२०.
२४. यजु० ११-७.
२५. अथर्व० ३-१३-१.
२६. साम० उत्तरा० ५-२-८-५.
२७. ऋग० ६-६६-८.
२८. ऋग० मं० ७ सू० ८७ मं ४.
२९. पस्पशाह्निक महाभाष्य।
३०. वही।
३१. ताण्ड्य महाब्राह्मणः अध्याय १ खण्ड १३.
३२. ऋग मं० १ सू० ११५. म. १
३३. मै० सं० १-१-१-५ तथा निरुक्त १३-९.
३४. १-३.
३५. ३५-४.
३६. १-६.
३७. ३३-१.
३८. २३-५.
३९. २-१-४.

४०. २-२-२.
४१. १-१-३.
४२. २-२-१.
४३. अ० २ ख० २२ म० ३ ।

□□□